वीतरागता : एक समीचीन दृष्टि

लेखक :

डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री, साहित्याचार्य, एम०ए०, पी-एच०डी०
शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, नीमच (मध्य प्रदेश)

प्रकाशक :

ज्ञानोदय ग्रन्थ प्रकाशन, नीमच (म० प्र०

प्रकाशकीय

जैनधर्म तथा दर्शन वीतरागता स्वरूप है। वीतरागता के ही कारण यह अन्य धर्मों तथा दर्शनो से भिन्न है। जैन आचार्यों ने समय-समय पर सद्ग्रन्थों का निर्माण कर वीतरागता का लक्ष्य स्थापित किया है। चारों अनुयोगों में इसी मूल दृष्टि को ले कर प्रतिपादन किया गया है। हम आज तक इस बात मे अनभिज्ञ रहे। इसलिये हमारा सोचना-समझना भिन्न रहा। इसे भलीभाति समझाने के लिए चारों अनुयोगो का सार ले कर यह पुस्तक लिखी गई है। वर्तमान युग मे अध्यात्म की जो धारा चल रही है, उससे लोग यही समझते हैं कि द्रव्यानुयोग में ही अध्यात्म है। वास्तव में चारों अनुयोगो मे अध्यात्म का समावेश है। यह अवश्य है कि द्रव्यानुयोग में अध्यात्म का विवेचन विशेष रूप से मिलता है।

प्रस्तुत पुस्तक के लेखक डॉ देवेन्द्रकुमारजी शास्त्री जैनधर्म के ख्यातिप्राप्त उच्चकोटि के विद्वान् है। अध्यात्म की ओर बचपन से ही इनका झुकाव रहा है। सामाजिक तथा गार्हस्थिक झंझटो मे भी यह नियमित रूप से जिनवाणी का स्वाध्याय करते रहते हैं। इनके हृदय मे जैन दर्शन और अध्यात्म के प्रचार-प्रसार की जो लगन है; उसकी जितनी प्रशसा की जाए, उतनी कम है। हमारा अहोभाग्य है कि नीमच से इस पुस्तक का प्रकाशन हो रहा है।

इस पुस्तक का प्राक्कथन श्रद्धेय पं. जगन्मोहनलालजी सिद्धान्तशास्त्री ने लिख कर जैन समाज का बडा उपकार किया है। उनके प्रति आभार प्रकट करने के लिए हमारे पास उपयुक्त शब्द नही हैं। हम सचमुच उनके बड़े आभारी हैं। सिद्धान्ताचार्य पं कैलाशचन्द्र जी ने इस पुस्तक की भूमिका लिख कर सचमुच गौरव बढाया है। पं नाथूलाल जी शास्त्री ने भी आमुख लिख कर हम पर बड़ी कृपा की है। समाज के सिरमौर इन विद्वानों के प्रति हम हृदय से कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

श्रीमान् कन्हैयालालजी टाया व अशोकनगर दि. जैन समाज, उदयपुर, दि. जैन समाज नीमच तथा ला. प्रेमचन्द जी, जैना वॉच कं. एवं ला. अजितप्रसाद जी पीतल वाले दिल्ली के भी हम बहुत आभारी है, जिन्होंने अग्रिम आर्थिक सहायता प्रदान कर कृतार्थ किया है।

ज्ञानोदय ग्रन्थ प्रकाशन मे इस द्वितीय ग्रन्थ को प्रकाशित करते हुए हम अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव कर रहे है। लोगो की दृष्टि मे यह अद्वितीय बने—यही हमारी भावना है। आजकल समाज मे जो तरह-तरह के विवाद चल रहे है, उनको समझने और दूर करने मे भी यह पुस्तक बहुत सहायक होगी। इसके पूर्व आचार्य सिद्धसेन रचित "सन्मतिसूत्र" का प्रकाशन जिस गरिमा के साथ हो चुका है और विद्वानों ने जिसकी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है; आशा है, उसी प्रकार लेखक की यह रचना भी समाज और विद्वानों का पूरा-पूरा आदर प्राप्त करेगी।

निवेदक

प्रहलादराय कासलीवाल

ज्ञानोदय ग्रन्थ प्रकाशन, नीमच (म. प्र.)

आत्मा तिष्ठत्यतुलमहिमा नष्टदृक्शीलमोहो
यः संसारोद्भवसुखकरं कर्म मुक्त्वा विमुक्तः ।
मूले शीले मलविरहिते सोऽयमाचारराशिः
तं वन्देऽहं समरससुधा-सिन्धु-राकाशशांकम् ।।

—नियमसार कलश, २६२

जो दर्शन मोह तथा चारित्रमोह के नष्ट हो जाने से संसार-सुख को उत्पन्न करने वाले कर्म से विमुक्त होकर मुक्ति के मूल मलरहित चारित्र में स्थित परम चारित्र का पुंज है तथा समरस-सुधा के सागर के उच्छलन में जो पूर्ण चन्द्रमा के समान है, उस अतुल महिमावान शुद्ध आत्मा को वन्दन करता हूँ ।

भूमिका

श्री डॉ० देवेन्द्रकुमारजी ने आजकल समाज में चर्चित विषयों को लेकर यह पुस्तक बहुत श्रम से लिखी है। उन्होंने इसके लिये प्रायः सभी समुपलब्ध साहित्य का अध्ययन किया है और यथाशक्य निष्पक्ष भाव से वस्तुस्थिति को पाठकों के सामने रखा है। जो साधारण पाठक तत्त्वप्रेमी हैं, और संस्कृत-प्राकृत ग्रन्थों का अध्ययन करने में असमर्थ है, उनके लिये भी यह पुस्तक बहुत उपयोगी हो सकेगी—ऐसी आशा है। यदि विद्वान् पाठक भी इसका अध्ययन करेंगे, तो वे भी इससे लाभान्वित होंगे—यही आशा है।

समाज में प्रचलित तात्त्विक विवादों के न सुलझने का एक मुख्य कारण उन विषयों का निष्पक्ष दृष्टि से अध्ययन न किया जाना भी है। इस पुस्तक से उस कमी का परिहार होगा।

अध्यात्म विषय आचार्य कुन्दकुन्द और उनके टीकाकार अमृतचन्द्राचार्य आदि की देन है। वह कोई नया विषय नहीं है। किन्तु उस ओर ध्यान दिलाने का श्रेय श्री कानजी स्वामी को है। इससे अध्यात्म को ही उनका मान लेना गलत है। दिगम्बर जैन परम्परा की इस अमूल्य देन को पर का समझ कर निरादर या उपेक्षा करना उचित नहीं है।

तत्त्व-विचार में राग-द्वेष को स्थान देना उचित नहीं है। व्यवहार और निश्चय के समन्वय से ही आत्मा का कल्याण हो सकता है। किन्तु दोनों को समकोटि में रखना सिद्धान्त बाधित है। नय-दृष्टि जैन सिद्धान्त को समझने की कुंजी है। उसके बिना वस्तु-स्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। यह निश्चित है कि वस्तुस्वरूप के यथार्थ ज्ञान के बिना सम्यक्त्व नहीं हो सकता तथा सम्यक्त्व के बिना सम्यक्चारित्र नहीं हो सकता।

वाराणसी,
२९–५–७९

पं० कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री
अधिष्ठाता,
श्री स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसी (उ.प्र.),
सम्पादक—"जैन सन्देश"

आमुख

जीवन के पूर्ण विकास की दृष्टि से मनुष्य पर्याय सर्वोपरि मानी गयी है। यहाँ समीचीन विश्वास, विचार और आचार द्वारा स्व-पर कल्याण के सर्वसाधन सुलभ है। श्रावक के दैनिक षट् कर्मो में स्वाध्याय का भी अपना एक विशेष स्थान है। वीतरागता की प्राप्ति के लिए जैनागम का अध्ययन कर प्रमाण, नय, अनेकान्त और अध्यात्म आदि का ज्ञान आवश्यक है। इनके जाने विना अपनी दृष्टि सुलझ नही सकती। द्रव्य–पर्याय या निश्चय–व्यवहार का स्वरूप भलीभाँति समझकर माध्यस्थ्य भाव आने पर ही वीतरागता का मार्ग प्रशस्त होता है।

भारत और इतर देशो मे धर्म के नाम पर सम्प्रदायों के उदय ने ही पारस्परिक मनोमालिन्य का वातावरण उत्पन्न किया। वस्तुस्वरूप और उसके ज्ञान के साधनों मे अपने ऐकान्तिक चिन्तन तथा आग्रह के कारण मतभेदों की सृष्टि हुई, जो सौहार्द और समन्वय के मार्ग मे प्रवल बाधक सिद्ध हुए। जैन समाज भी इससे अप्रभावित नही है। अतः डॉ० देवेन्द्र कुमारजी शास्त्री ने समाज में प्रचलित विविध विचारों और विवादों को लक्ष्य में रखते हुए अध्यात्म और उससे सम्बन्धित सभी अपेक्षित विषयो का इस रचना में माध्यस्थ्य भाव से स्वरूप स्पष्ट करते हुए समन्वय करने का प्रयत्न किया है जो जिज्ञासुओ व मुमुक्षुबन्धुओ के लिए उपयोगी है।

आशा है इस रचना का सद्भावपूर्वक स्वाध्याय कर पाठक अपनी दृष्टि को अनेकान्तमय बनाते हुए शान्ति और निराकुलता का अनुभव करेंगे।

इन्दौर,
३०–५–७९

पं० नाथूलाल शास्त्री
प्राचार्य, सर हुकमचन्द संस्कृत महाविद्यालय,
प्रधान सम्पादक– 'सन्मति वाणी', इन्दौर (म.प्र.)
अध्यक्ष, अखिल भा. दि. जैन विद्वत्परिषद्

प्राक्कथन

अध्यात्म की प्ररूपणा मे प्रस्तुत यह ग्रन्थ श्री डॉ. देवेन्द्रकुमारजी नीमच का पर्याप्त श्रम व आध्यात्मिक दृष्टि का परिचायक है। सरलता से मातृभाषा में अध्यात्म समझाने के लिए इस ग्रन्थ का लेखन किया है। ग्रन्थ मे विषयानुरूप भाषा व शैली का सौन्दर्य सहज दिखलाई पड़ता है। सरल, सुन्दर भाषा में इस प्रकार के ग्रन्थ के लेखन से सचमुच जिनवाणी की सेवा हुई है। क्योंकि जिनवाणी का सार अध्यात्म में निहित है।

अध्यात्म-ग्रन्थों में पूज्यश्री १०८ कुन्दकुन्दाचार्य का नाम सर्वोपरि है। प्रकारान्तर मे भगवान् महावीर के पश्चात् आचार्य-परम्परा मे वे ही एक ऐसे आचार्य है, जिनका नाम सभी दिगम्बर जैनाचार्यों की जिह्वा पर नृत्य करता रहा है। समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पंचास्तिकाय और अष्टपाहुड ये पाँचरत्न तो प्रसिद्ध ही हैं, अन्य कृतियाँ भी आचार्य कुन्दकुन्द रचित कही जाती हैं। इन अध्यात्म-ग्रन्थों की टीका करने वाले श्री अमृतचन्द्राचार्य, पद्मप्रभमलधारीदेव तथा आचार्य जयसेन भी अध्यात्म-सरोवर मे अवगाहन कर उनकी कीर्ति-कौमुदी को प्रसृत करने वाले हुए।

मूल ग्रन्थ प्राकृत मे तथा टीकाएँ संस्कृत भाषा में होने के कारण सामान्य जन के लिए ये आध्यात्मिक ग्रन्थ दुरूह थे। अत: श्री पं जयचन्दजी छाबड़ा, श्री हेमराजजी पाण्डे आदि विद्वानों ने उस दुरूहता को दूर कर हिन्दी मे उक्त ग्रन्थों के सुन्दर, सुस्पष्ट अनुवाद किए, जिनके आधार पर समाज में पठन-पाठन प्रचलित रहा। इन सबका अवगाहन करने वाले विद्वानों मे आचार्यकल्प पं. टोडरमलजी तथा पं बनारसीदासजी भी इस शृंखला की मूल्यवान कड़ी है, जिन्होंने अपने "मोक्षमार्ग-प्रकाशक" और "नाटक समयसार" ग्रन्थ में इन अध्यात्म-ग्रन्थों का रहस्य खोलकर रख दिया है।

श्री तारणस्वामी भी अध्यात्म-ग्रन्थो के रसिक थे, इसकी झलक उनके ग्रन्थों मे मिलती है। सवाई सिंघई गोपालसाह, सिवनी ने भी अध्यात्म ग्रन्थ "समयसार" की "बालबोध आत्मख्याति" भाषा टीका वी नि. सं २३५१ मे बनाई थी, जो वी. नि. सं. २४४२ में प्रकाशित हो चुकी है। कारंजा के भट्टारक वीरसेनजी, ब्र. शीतलप्रसादजी का भी नाम अध्यात्म के पारायण करने वालों मे सादर लिया जाता है। इन सबके पश्चात् जीवन के साठ वर्षों मे अनवच्छिन्न अध्यात्म मे गोता लगाने

वाले पूज्यश्री गणेशप्रसादजी वर्णी थे, जिनके मुखारविन्द से अध्यात्म की सरिता बहती थी। उनके प्रवचन भी प्रकाशित हैं। तदनन्तर सौराष्ट्र (सोनगढ़) के प्रवक्ता श्री कानजीस्वामी भी इस काल के युगान्तरकारी पुरुष हैं, जिन्होंने भगवान् कुन्दकुन्द की वाणी को जन-जन तक पहुँचाया है तथा लाखों व्यक्तियों की पुरानी मान्यताएँ बदल दी हैं। एक लहर अध्यात्म की उठी है। इस लहर में यह युग अध्यात्म-युग के नाम से कहा जाता है। आचार्य कुन्दकुन्द कृत समयसार-प्ररूपित अध्यात्म का अनुगमन करने वाले अनेक व्यक्ति हुए और इस समय में भी है, जिन्होने अध्यात्म पर अपनी लेखनी चलाई है। हमने भी आचार्य अमृतचन्द्र के "समयसार-कलश" पर एक टीका लिखी है। इन प्रवचनों मे कौन लेखक कितना सफल हुआ है, यह विषय की गम्भीरता को देख कर नही कहा जा सकता?

अध्यात्म और आगम की दो भिन्न शैलियाँ अत्यन्त प्राचीन काल से जैनधर्म की परम्परा में चली आ रही है। आगम-ग्रन्थो को प्रकाश मे लाने का कार्य इस युग मे स्व. पं. गोपालदासजी बरैया तथा उनके शिष्य-प्रशिष्यो को है। करणानुयोग तथा चरणानुयोग का प्रचार-प्रसार गुरुजी की परम्परा से बहुत हुआ। अब अध्यात्म का युग आया है। इस युग की आवश्यकतानुसार ही इस ग्रन्थ का अवतार हुआ है। प्रस्तुत ग्रन्थ की विषय-सूची से ज्ञात होता है कि इस मे साठ शीर्षकों मे विभक्त बीस विषयों पर निबन्ध लिखे गए है। इन पर विशद विवेचन सप्रमाण किया गया है। इस ग्रन्थ के प्रतिपाद्य मुख्य विषय ये है —

(१) अध्यात्म क्या है? (२) पुण्य-पाप-मीमांसा, (३) निमित्त-उपादान-विवेचन, (४) अध्यात्म को समझने की दृष्टियाँ, (५) नय और दुर्नय, (६) पुरुषार्थ, (७) सम्यग्दर्शन और उसकी महिमा, (८) स्वरूपाचरण का स्वरूप, (९) पर्याय की क्रमबद्धता, (१०) आत्मज्ञ व सर्वज्ञ की व्याख्या, (११) अनेकान्त, (१२) स्वानुभूति, (१३) शुद्धोपयोग व समाधि।

ये सभी विषय अध्यात्म-ज्ञान के लिए जानना आवश्यक हैं। इनकी सही समझ से अध्यात्म की दृष्टि बन सकती है।

आत्मा को केन्द्र बना कर जो वर्णन है, वह अध्यात्म का वर्णन है। छह द्रव्यो से व्याप्त इस लोक मे जीव भी एक द्रव्य है। व्यवहारापेक्षया सकर्मा (कर्म-सहित) जीव के एकेन्द्रियादि भेद है, तथापि परमार्थ से सब जीव एक प्रकार के है— जो एक मात्र चैतन्य लक्षण से लक्षित होते है। देहादि अचेतन भिन्न द्रव्य है। इतना ही नहीं, आत्मोपादान रागद्वेषादि भाव भी कर्मोदय निमित्तजन्य होने से शुद्ध आत्मा के स्वभाव मे नही है। आध्यात्मिक दृष्टि वाला यह श्रद्धा रखता है कि मेरा आत्मा स्वयं सत्तावान एक द्रव्य है, स्वरूप से शुद्ध है, अन्य पदार्थ से इसका कोई सम्बन्ध

नहीं है, यह ज्ञान-दर्शन स्वरूप चैतन्य का पुंज है। यह नाना गुणों और उन गुणों की पर्यायों से समवेत है, अतः कथंचित् नित्यानित्य स्वरूप है, इसका नित्यानित्यपना है, कथंचित् तत्-अतत्पने का सूचक है, तत्-अतत्पना है, इसके कथंचित् सत्-असत्पने का द्योतक है, सत्-असत्पना है, कथंचित् एकता और अनेकपना जीव द्रव्य में सिद्ध करता है—ये सब विकल्प जीव में विभिन्न अपेक्षाओं से हैं, तथापि आत्मा इन सभी विकल्पों से दूर अभेद, अखण्ड रूप है। गुणभेद और पर्यायभेद उसकी अखण्डता के विघातक नहीं हैं। इस प्रकार आत्मस्वरूप का दर्शन आत्मदर्शन है जो सम्यक्त्व का स्वरूप है। यथार्थ आत्मदर्शन ही स्वानुभव व स्वानुभूति है।

यद्यपि कर्म का सम्पर्क अनादि से है, तथापि आत्मा स्वरूप से ही पुण्य-से परावृत्त स्वभाव वाला है। ये पुण्य-पाप विभाव कर्म के निमित्त से आत्मा में उत्पन्न होते हैं। इनके साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध माना गया है। यदि अध्यात्म को समझना है, तो निश्चय की जो स्वाश्रित दृष्टि है उससे ही समझा जा सकता है; व्यवहार-दृष्टि परसापेक्ष-दृष्टि है, उस मे पर के ऊपर भी दृष्टि जाती है और पर का सम्बन्ध निज से जोडा जाता है, पर के साथ सम्बन्ध मान कर शुद्धात्मस्वरूप नही जाना जा सकता है और न उसकी अनुभूति की जा सकती है।

स्वानुभूति के लिए यह आवश्यक है कि सर्वप्रथम व्यवहार नय के आल-म्बन से जीव को गुण-भेदों से समझा जाए, किन्तु उन असाधारण गुणो के आधार पर स्वरूप बोध होने पर भेद को मेट कर अभेद अखण्ड चैतन्यस्वरूप (जो निश्चयनय का विषय है) "मैं हूँ"—ऐसा अनुभव ही स्वानुभूति का विषय बनता है। भेद रूप व्यवहार अभेद स्वरूप आत्मा का दर्शन करा कर दूर हो जाता है और अभेद आत्मा का दर्शन निश्चयनय की अनुभूति-काल मे छूट जाता है। फलतः आत्मा का अनुभव अनुभवन-काल मे नय-पक्षातिक्रान्त ही है। अनुभवन का काल प्रमाण-नय-निक्षेपादि विकल्पों से परे निर्विकल्प रूप है, गुण-भेद, पर्याय-भेद भी उस अनुभव-काल मे उस में लक्षित नही होते।

सुनयों के प्रताप से ही उक्त नयातिक्रान्त स्थिति प्राप्त होती है। यदि पूर्व काल में वस्तु-निर्णय के लिए परस्पर सापेक्ष निश्चय-व्यवहार, द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक, भेद-अभेद नयों का प्रयोग न किया जाए, तो मूल वस्तु का परिज्ञान नहीं हो सकता। निरपेक्ष नय कदापि वस्तु के प्रतिपादक नही होते, अतः वे दुर्नय या मिथ्यानय समझे जाते है। भले ही स्वानुभूति-काल में प्रमाण-नय-निक्षेपों की उपस्थिति न हो, किन्तु वस्तु के स्वरूप-ज्ञान के लिए वे माध्यम अवश्य है। उनके माध्यम से पर से भिन्न, स्वरूप से अभिन्न आत्मा का परिज्ञान ही सबसे बड़ा पुरुषार्थ है। वही इष्ट है, क्योंकि अपने लिए इष्ट स्वात्मशुद्धि की उपलब्धि का वही हेतु है। सम्यग्दर्शन, स्वात्म-दर्शन, स्वानुभूति, स्वरूपाचरण ये सब एकार्थवाचक शब्द है, ऐसा पंचाध्यायीकार कहते हैं।

इस पुरुषार्थ की सफलता भी कालादिलब्धिवशात् जीव को प्राप्त होती है। इन सभी लब्धियों में करणलब्धि ही पुरुषार्थ स्वरूप है, पर उस पुरुषार्थ की प्राप्ति अन्य क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य लब्धियों के आधार पर ही है। करण जीव के विशिष्ट परिणाम हैं, जिनके आधार पर जीव के मोह का नाश होता है। निर्मोही ही पर से भिन्न आत्मा का दर्शन करता है और आत्म-दर्शन का ही यह माहात्म्य है कि आत्मा आत्मनिष्ठ हो कर मुक्ति प्राप्त करता है। इस आत्मनिष्ठता को ही दूसरे शब्दों मे "निश्चयचारित्र" कहते है। इस भूमिका पर आने के पूर्व जिन रागादि निमित्तभूत गृह-धन-कुटुम्ब-परिवार आदि बाह्य पदार्थों अर्थात् नोकर्मों को स्वीकार किया था, उनका परित्याग हो जाता है। नैमित्तिक भावो को अपने से दूर किए बिना परिशुद्ध आत्म-स्वरूप की पर्याय प्रकट नही होती और बाह्य निमित्तो के त्याग के बिना नैमित्तिक रागादि भाव दूर नही होते। इन निमित्तों और नैमित्तिक भावों के परित्याग को ही व्यवहार-निश्चय चारित्र अथवा बाह्य-आभ्यन्तर चारित्र कहते है।

यह सम्यग्दर्शन का ही माहात्म्य है जो जीव चारित्र पर आरूढ होता है और उस पर चल कर मुक्ति का भाजन होता है। कर्तृ-कर्म भाव प्रत्येक द्रव्य का "स्व" का "स्व" मे ही होता है, पर में नही। पर के साथ कर्तृ-कर्म भाव निमित्तादि की अपेक्षा व्यवहार से कहा जाता है, पर वह परमार्थ नही है। परमार्थ की दृष्टि ही पुरुषार्थ है। कार्य मे निमित्त होता है, पर निमित्त पर अवलम्बित व्यक्ति "स्व" को और "स्व" के पुरुषार्थ को भूल कर कायर बन जाता है। परन्तु निश्चयनय के आश्रित मुनि जन परम पुरुषार्थी हो उपयोग की विशुद्धता प्राप्त कर समाधि में स्थित हो कर चार घातिया कर्मो का नाश कर केवलज्ञान प्राप्त करते है। यह उस परम पुरुषार्थ का फल है।

केवलज्ञान आत्मा की पूर्ण ज्ञान-स्वरूपता है। जिस परिशुद्ध आत्मा का दर्शन द्रव्य-दृष्टि से सम्यग्दृष्टि ने अपनी श्रद्धा मे आगम-बल पर किया था, उस परिशुद्ध द्रव्य को स्वात्मानुभूति से सवेदित कर पुरुषार्थ के बल पर निर्विकल्प दशा को प्राप्त कर पर्याय में भी शुद्ध बना लेता है। पुरुषार्थ स्व-कर्म है। अतः स्व ही उसका कर्ता है, पर नही। इसलिये स्वरूप-रूप आचरण करने वाला अपने उपयोग की विशुद्धता से अनादिकालीन विभाव भावों की शृंखला तोड़ कर स्वीय विशुद्ध पर्याय- जो स्वभाव रूप पर्याय है—उसे प्राप्त करता है, वही केवलज्ञान है।

केवलज्ञानी अपने मे चराचर जगत् का साक्षात् अवलोकन करता है। यद्यपि साधना के काल मे सम्पूर्ण पर द्रव्यो से, पर गुणों से, पर पर्यायों से ही परहेज नही किया, किन्तु स्वगुण-भेद तथा स्वोत्पन्न विभाव भावो से भी भिन्न अपने आप का अनुभव कर लिया था। फिर, एक मात्र अखण्ड चैतन्य का अवलोकन किया। उसी अवलोकन के फलस्वरूप उपलब्ध केवलज्ञान में अब तीन लोक के चराचर

पदार्थ अपने समस्त गुणो और त्रैकालिक पर्यायों के साथ प्रतिबिम्बित हो गए हैं; तथापि केवलज्ञानी स्वात्मनिष्ठ हैं, स्व के ही जानकार हैं। अत: यथार्थ मे ही वे आत्मज्ञ है, किन्तु उस परिशुद्ध आत्मा मे संसार के समस्त पदार्थ प्रतिबिम्बित हैं। अत: देखने-जानने में सब आते है। इन प्रतिबिम्बित पर-पदार्थों के ज्ञान के कारण उन्हे "सर्वज्ञ" मानना भी समुचित है।

जो सर्वज्ञ हैं वे ही आगम के व अध्यात्म के उपदेष्टा है। उनकी दिव्य-ध्वनि से संसार के सर्व प्राणियों के कल्याण का मार्ग प्रतिपादित है। जिन्होंने स्वयं सर्वज्ञत्व, वीतरागता को उपलब्ध किया, उनकी दिव्य वाणी से वही मार्ग प्रतिपादित हुआ जिससे आत्मा सिद्धत्व को उपलब्ध करती है। केवली ही यथासमय सर्व कर्म काट कर सिद्ध परमात्मा बनते हैं। यह पद ही परम पुरुषार्थ का अन्तिम फल है।

जो आत्मा का हित करना चाहते है, सच्चा सुख प्राप्त करना चाहते हैं, उन आत्मार्थियो को यह सब प्रक्रिया माननी, जाननी व अपनानी पड़ती है। क्योकि वस्तु-तत्त्व के यथार्थ ज्ञान के लिए आगम और आत्म-तत्त्व के परिज्ञान के लिए अध्यात्म की उपयोगिता आत्मार्थी के लिए अनिवार्य है। इसी को लक्ष्य में रख कर उक्त सभी प्रकरणों पर इस पुस्तक मे निबन्ध लिखे गए है। इन सभी निबन्धों का हमने वाचन किया है। भाषा की मधुरता के साथ विषयो की शास्त्रीय सम्बद्धता भी लक्षित होती है। डॉ. देवेन्द्रकुमार जी इस पुस्तक के रूप मे इन निबन्धो को लिखने के अपने कार्य मे कितने सफल हुए है, यह सुविज्ञ पाठको के निर्णय पर अवलम्बित है। उनका यह प्रयास सराहनीय है।

लौकिक शिक्षा के क्षेत्र मे रहते हुए भी अपने आप को अध्यात्म की ओर प्रेरित करने के उनके इस कार्य के लिए वे धन्यवाद के पात्र है। इस रचना से यह आशा की जाती है कि पाठक जन अध्यात्म का वर्णन करने वाले अनेक अंगों के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करेंगे तथा भ्रान्त धारणाओ को दूर कर स्व-पर कल्याण मे प्रवृत्त होंगे।

कुण्डलपुर (दमोह) म. प्र
वीर-निर्वाण-दिवस, २५०४
११ नवम्बर, १९७७

पं. जगन्मोहनलाल सिद्धान्तशास्त्री
कटनी (म. प्र.)

आत्म-कथन

वस्तु का विचार करना, अनुभव-अवलोकन करना और वस्तु-स्वरूप को उपलब्ध हो जाना—ये ही अध्यात्म के प्रमुख विषय हैं। इन विषयों का सांगोपांग विवेचन करने के लिए अन्य अंगभूत विषयों (निमित्त-उपादान, क्रमनियमित पर्याय, सर्वज्ञ आदि) का भी प्रतिपादन करना पड़ता है। वास्तव में समझना वस्तु को है। मैं स्वयं एक वस्तु हूँ। इस वस्तु को समझाने के लिए ही अध्यात्मशास्त्र की रचना हुई। इसकी समझ के बिना हम अपने आप को नही समझ सकते। इस पर से ही आप इसकी उपयोगिता समझ सकते है। अधिक कहने की आवश्यकता नही है। फिर भी, कहने की आवश्यकता प्रतीत हुई और यह आवश्यकता बनी रहेगी। क्योंकि हम अधिक-से-अधिक उसके विषय में सुनना-समझना चाहते है। परन्तु वास्तविकता यह है कि चाहे जितने सुन्दर शब्द उडेले जाये, अखण्ड वस्तु का ज्ञान नही करा सकते। इतना समझते हुए भी वस्तु को समझने-समझाने के लिए हम अपने आप को प्रकट किए बिना नही रह सकते। इस में हमारा कितना ज्ञान-भाव प्रकट हो पाया है और कितना अज्ञान-भाव–यह हम सुधी पाठकों से ही इसके प्रकाशन के अनन्तर समझ पायेंगे। समझेंगे समझने वाले ही। जो नही समझना चाहते, उन्हे कोई नही समझा सकता।

प्रश्न यह है कि हम अपने आप को क्यों समझना चाहते है? अपने वस्तु-स्वरूप को समझने से क्या होगा? वास्तव में वस्तु जैसी है, वैसी समझे बिना हम उसकी उपलब्धि नही कर सकते। इसका अर्थ यह है कि वर्तमान मे वस्तु वैसी नही है, जैसा कि बताया जा रहा है। इसे ठीक से समझने के लिए हमे वस्तु का लक्षण समझना होगा। वस्तु अपने गुणो से नित्य, पर्याय से अनित्य परिणमनशील है। वस्तु किसी भी दशा मे अपने परिणमन स्वभाव को नही छोड़ती। यथार्थ में उसका यह स्वभाव नित्य है, किन्तु जिस पर्याय रूप परिणमन होता है वह एक समयवर्ती पर्याय दूसरे समय मे विद्यमान नही रहती; अतः पर्याय-दृष्टि से अनित्य है। पर्याय अभावात्मक होती है। क्योकि एक पर्याय से दूसरी पर्याय उत्पन्न नही होती। पर्याय वस्तु मे से उत्पन्न होती है और वस्तु मे ही विलीन हो जाती है; जैसे कि समुद्र मे उठने वाली तरंग समुद्र से उत्पन्न होती है और फिर समुद्र मे ही लीन हो जाती है। यह पर्याय उत्पन्न क्यो होती है? इसका कारण वस्तु मे पाया

आने वाला परिणमन स्वभाव किंवा शक्ति है, जिसका स्वाभाविक और वैभाविक दोनों प्रकार का परिणमन है। जब तक संयोगावस्था है, जीव और कर्म का संयोग है, तब तक वैभाविक परिणमन सतत होता रहता है। अतः जिनागम में इस शक्ति का नाम वैभाविक शक्ति कहा गया है। पर-संयोग मिटने पर इसे ही स्वाभाविक परिणमन कहा जाता है। द्रव्य की स्व-शक्ति में स्वाभाविक परिणमन पाया जाता है; किन्तु जब तक कर्म-संयोग किंवा कर्माश्रित दृष्टि विद्यमान है, तब तक वैभाविक परिणमन होता रहता है। अपरिणमनशील कोई शक्ति नहीं होती। वास्तव में अनात्मीय पदार्थ को अपना मानना संयोग है।

वस्तु अपने द्रव्य को छोड़कर किसी अन्य द्रव्य या पर्याय की अपेक्षा नहीं रखती। सभी वस्तुएँ अपने-अपने काम मे लगी रहती है। इसका कारण वस्तु में पाया जाने वाला वस्तुत्व गुण है और इसी प्रकार उसकी क्रियाएँ भी प्रयोजनभूत होती हैं। वस्तु मे गुण सहभावी होते है और पर्याय क्रमभावी। वस्तु में जो भी स्वभाव या विभाव रूप कार्य होता है वह अपने परिणमन स्वभाव के कारण अपनी उपादान शक्ति के बल से ही होता है। जिसे हम क्रिया या कार्य-सिद्धि कहते है, वह वस्तु के अपने परिणमन के अतिरिक्त अन्य कुछ नही है। वस्तु में जो भी परिणमन होता है, वह स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव के अनुसार होता है; पर के कारण परिणमन नही होता। अत: पर-निमित्तों को परिणमन का कारण मानना वस्तुतः उचित नही है। परन्तु व्यवहार मे ऐसा देखा जाता है कि पुद्गल में भी क्रियावती शक्ति है। जिस व्यक्ति को अपनी शक्ति का पता नही है, वह उस भौतिक शक्ति से सम्बन्ध स्थापित कर प्रभावित हो जाता है। यह सांसारिक अवस्था है जो स्वाभाविक नहीं है किंवा सदा एक-सी बनी रहने वाली भी नही है। अपने नियत काल मे कभी-न-कभी यह सयोग दशा छूट जायेगी, किन्तु स्वभाव-दशा एक बार आने पर अनन्त काल मे कभी भी वियुक्त नही होगी, इसलिये वही वास्तविक है। किसी भी वस्तु को कार्य की उत्पत्ति के समय पर-पदार्थ किसी अन्य प्रकार से परिणमा नही सकते। यह वस्तु की अनादि-निधन व्यवस्था है। अत: बाह्य पदार्थों में कारणता उपचार से मानी जाती है; वास्तव में वस्तु का भाव ही परिणमन का हेतु है। आचार्य अकलंकदेव कहते है कि त्रिकाली द्रव्य कारण है और पर्याय कार्य है। निश्चय से तो पर्याय का कारण पर्याय है। पर्याय का षट्कारक पर्याय में है। अत: परमार्थ से कारण तथा कार्य मे अभेद है। क्योकि पूर्व पर्याय विशिष्ट द्रव्य कारण है और उसकी उत्तर पर्याय कार्य है। इतना ही नही, वर्तमान पर्याय मात्र में ही कारण-कार्य का व्यपदेश होता है। अत. व्यवहार से कारण-कार्य में भेद कहा जाता है, पर निश्चय से उनमे अभेद है। यद्यपि व्यवहार मे कारण के अनुरूप कार्य होते है, यह कहा जाता है। इसका निषेध नही है। जो जिसके होने पर होता है, वही उसका कारण कहा जाता है। स्वभावपर्याय स्व के लक्ष से स्व-परिणमन से ही होती है। उसके होने मे कोई बाहरी कारण नही होता। आचार्य वीरसेन स्वामी कहते है कि प्रत्येक कार्य बाह्य कारण के अनुसार ही होता हो, ऐसा नियम नही है।

क्योंकि अन्तरंग कारण रूप प्रवृत्ति हुए बिना बहिरंग कारण रूप प्रवृत्त होने का नियम नहीं बन सकता है। यही नही, अनुकूल बाह्य पदार्थों की उपस्थिति में भी परिणमन स्वतः अपने द्रव्य में होता है और उससे ही कार्य निष्पन्न होता है। अतएव निमित्त कारणों को वस्तु का सर्वथा नियामक नहीं माना जा सकता। उपादान की मुख्यता को बताने के लिए यही मूल प्रतिपत्ति अध्यात्मशास्त्र में विवेचित की जाती है। इस को भलीभाँति समझे बिना अध्यात्म के मूल मे प्रवेश नही हो सकता।

वस्तु की सही समझ सरल नही है। क्योकि आगम से हम वस्तु-स्वरूप की जानकारी कर सकते है, किन्तु सम्यक् रूप में उसका बोध अनुभव से ही होता है। जो अज्ञात है, जानने-देखने मे नही आता, उसका सच्चा श्रद्धान भी नही हो सकता। फिर, आत्मा नाम की वस्तु को जानने मे तो अनुभव ही प्रधान है। आत्मा केवल अपने अनुभव से ही प्रकाशित होती है। उसे जानने की अन्य कोई रीति नही है। परमार्थ में स्वात्मानुभव के बिना सम्यग्दर्शन नही होता। यह निश्चित है कि चतुर्थ गुणस्थान की भूमिका मे सम्यक्त्व गुण प्रकट होता है। स्वानुभव ही आत्मा का विशेष ज्ञान है जो सम्यक्त्व के साथ ही प्रकट होता है। अनुभूति उपयोग रूप कही जाती है और सम्यक्त्व लब्धिरूप है। सम्यग्दर्शन कारण है और अनुभूति कार्य है। अतः सम्यक्त्व होने पर ही स्वानुभूति होती है। उपयोग रूप स्वानुभूति के साथ सम्यक्त्व की समव्याप्ति नही है, किन्तु लब्धि रूप स्वानुभूति के साथ ही उसकी समव्याप्ति कही जाती है। क्योकि लब्धि रूप से ज्ञानचेतना सम्यक्त्व होने पर सदा पाई जाती है, किन्तु उपयोग रूप से अनुभूति सतत नही होती। परन्तु आत्मा का उपयोग न होने पर भी सम्यक्त्व तो सदा बना ही रहता है। सम्यक्त्व का सम्बन्ध लेश्या मे नही है। क्योंकि सातवें नरक मे जहाँ सम्यग्दर्शन होता है, वहाँ परम कृष्णलेश्या है और नवग्रैवेयक मे जहाँ मिथ्यात्व बताया गया है, वहाँ शुक्ल लेश्या है। वास्तव मे स्वभाव-भान के बिना निश्चय सम्यक्त्व नही होता। सम्यक्त्व की वास्तविकता भाव-भासन होने पर ही प्रकट होती है। स्वामी कार्तिकेय का कथन है—जो पुरुष अन्य की निन्दा नही करता, बारम्बार शुद्ध आत्मा को भाता है और इन्द्रिय-सुख की अपेक्षा नही करता, उसके निःशंकित आदि गुण (अष्टांग) होते हैं। भूतार्थ नय से ज्ञात सप्त या नव तत्वो की श्रद्धा व्यवहार सम्यग्दर्शन का लक्षण है और शुद्ध नय रूप मे स्थापित आत्मानुभूति निश्चय सम्यक्त्व का लक्षण है। सम्यक्त्व होने पर सर्वघाती इकतालीस प्रकृतियो का संवर हो जाता है जो पाप रूप है। मिथ्यात्व दशा मे जिन पुण्य (साता) प्रकृतियों का उपार्जन किया जाता है, उनका अनुबन्ध पाप से होने के कारण वे पापानुबन्धी पुण्य का उपचय करती है जो किसी प्रकार कार्यकारी नही होता।

प्रत्येक प्राणी अनादि काल से अनन्त वस्तुओं के साथ अनुबन्ध करता चला आ रहा है। इस अनुबन्ध से ही वह अनन्त मिथ्यात्व को बाँध रहा है, जिसे अनन्तानुबन्धी कहते है। यह अनुबन्ध चार प्रकार से हो रहा है—स्वामित्व, एकत्व, भोक्तृत्व

और ममत्व। वह जिन-जिन वस्तुओं के सम्पर्क में आता है, उन-उन के प्रति अधिकार की बुद्धि स्थापित कर उनका मालिक बन जाता है। यह जानते हुए भी कि पर-वस्तु पराई है, पर इस समय हमारे अधिकार में है, इसलिये किसी के बिना कहे हुए भी वह उस वस्तु का स्वामी अपने आप को मान लेता है। फिर, ऐसा सम्बन्ध बना लेता है कि उससे अपने आप को अभिन्न मानने लगता है। इस एकत्व बुद्धि के कारण ही उस पर-वस्तु को अपने आप से अलग नहीं मानता है। उसके सारे प्रयत्न पर-वस्तु को भोगने के हैं, उससे वह इन्द्रिय-सुख प्राप्त करना चाहता है। अतः पर-पदार्थों में उसकी ऐसी ममता हो जाती है कि क्षण भर के लिए भी उनके सम्पर्क से नही हटना चाहता। जब तक पर-वस्तुओं की ओर उसकी दृष्टि रहती है, तब तक वह स्वात्मोन्मुख नही होता। अपनी शुद्धात्मा को ही लक्ष्य मे लेना, उसकी ओर ही झुकना सम्यग्दर्शन की प्रथम भूमिका है। इस भूमिका मे शुद्धात्मा की रुचि व उपादेयता प्रकट हो जाती है। बारम्बार शुद्धात्मा की महिमा आने से तथा क्वचित् आत्म-दर्शन की झलक मिलने से यह निश्चय हो जाता है कि निज शुद्धात्मा ही उपादेय है। चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव के धर्मध्यान में किंचित् आत्मानुभव अवश्य होता है। यद्यपि स्व-संवेदनजन्य वृद्धिगत निर्विकल्प आत्मानुभूति शुद्धोपयोग की दशा मे उत्तम मुनियों के होती है, किन्तु शुभोपयोगियो के भी किसी काल मे शुद्धोपयोग की भावना देखी जाती है। श्रावकों के भी सामायिकादि काल में शुद्ध भावना लक्षित होती है। तथापि जिनके प्रचुर रूप से शुभोपयोग वर्त रहा है, उनके किसी काल में शुद्धोपयोग की भी भावना हो, तो वे शुभोपयोगी ही कहलाते है; जैसे कि शुद्धोपयोगी किसी काल में शुभोपयोग रूप से भी वर्तते हैं, पर वे शुद्धोपयोगी ही कहे जाते हैं। वास्तव मे शुद्धोपयोग रूप निश्चय रत्नत्रय की भावना से उत्पन्न परम आल्हाद रूप सुखामृत रस का आस्वादन वीतराग चारित्र के बिना नही होता। इसलिये आत्मा की उपलब्धि होना सम्यग्दर्शन का लक्षण नहीं है, किन्तु शुद्धात्मा रूप समयसार को उपलब्ध होना ही सम्यग्दर्शन का वास्तविक स्वरूप है। वीतराग दशा मे ही निश्चय सम्यग्दर्शन का अविनाभावी सम्यग्ज्ञान और निश्चय चारित्र पूर्ण रूप से लक्षित होता है। कहा भी है कि चौथे से ले कर छठे गुणस्थान तक स्थूल सराग सम्यग्दृष्टि होते हैं। उनकी पहचान प्रशम, संवेग आदि बाहरी लक्षणों से हो जाती है। किन्तु सातवें से दसवे गुणस्थान तक सूक्ष्म सराग सम्यग्दृष्टि होते है, उन्हें वीतराग सम्यग्दृष्टि भी कहते है। उनकी पहचान किसी बाहरी लक्षण से नही हो सकती। अन्तरंग लक्षण ही उनमे पाए जाते है। पूर्ण वीतराग सम्यग्दृष्टि बारहवें से चौदहवें गुणस्थान तक होते हैं। समस्त मोह का अभाव हो जाने से वे ही वास्तव में वीतराग चारित्र के धारक हैं। यह अवस्था तभी प्राप्त होती है, जब यह जीव आत्मनिष्ठ हो कर समस्त संकल्प-विकल्पों के जाल से मुक्त किसी भी विशेष का ख्याल न कर अपनी सत्ता मात्र का अवलोकन करता

है। वस्तुतः निर्विकल्प का अर्थ है—स्वात्मस्वरूप को एकरस या समरस हो कर जानना। आचार्य पूज्यपाद कहते हैं कि आत्मा लोक-अलोक को देखने, जानने वाला, अनन्त सुख स्वभाव वाला, शरीरप्रमाण, नित्य उत्तम मुनियों के द्वारा भली-भाँति अनुभव में आ चुका है। मैं एक, ममता रहित, शुद्ध, ज्ञानी उन उत्तम मुनियों के गोचर होता हूँ जो शुद्धोपयोगी है। अध्यात्म योग के द्वारा उनके शीघ्र ही कर्मों की निर्जरा हो जाती है। क्योंकि ध्यानावस्था में आत्मनिष्ठ योगी समरस भाव को प्राप्त हुआ यह चिन्तन नहीं करता कि यह क्या है, कैसा है, क्यों है, इत्यादि। वह तो स्वात्म-तत्व में स्थिर हुआ अन्य कोई प्रवृत्ति नहीं करता; केवल सामान्य का ही अवलोकन करता है। वस्तु के विशेषों से उस समय वह अनभिज्ञ हो जाता है, उनकी विशेषताओं पर उसका उपयोग नही जाता। अतः उन पर-पदार्थों में राग-द्वेष उत्पन्न नही होता। यही कारण है कि वह कर्मों से बँधता नही है। इतना ही नही, विशेष रूप से जो व्रत आदिक का अनुष्ठान करते हैं, उनकी अपेक्षा वह कर्मों से अधिक मुक्त हो जाता है। क्योंकि आत्मा में अनुभूत परमानन्द अनादि की कर्म-सन्तति को भस्म कर डालता है। इस प्रकार स्वसंवेदन रूप निर्विकल्प ध्यान ही मोक्षमार्ग की प्राप्ति का साक्षात् साधन है।

मोक्षमार्ग क्या है ? निज स्वभाव की आराधना। यह आराधना कैसे होती है ? शुद्धात्मा के भावन से। शुद्धात्मा की भावना से क्या होता है ? स्वानुभव। सम्यग्दर्शन या स्वात्मदर्शन (स्वानुभव) अथवा स्वरूपाचरण मोक्षमार्ग का प्रथम सोपान कहा गया है। स्वात्मदर्शन परमार्थ से सम्यग्दर्शन है जो श्रद्धान-ज्ञान रूप है। चतुर्थ गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी कषायो से रहित होने पर आंशिक जो शुद्ध पर्याय प्रकट होती है, उस काल में आत्मा की अनुभूति अवश्य होती है। अतएव स्वानुभूति अथवा स्वरूपाचरण इस भूमिका में होता है, अशाश भाव वृद्धिगत हो, उसकी पूर्णता बारहवे गुणस्थान में होती है। वस्तुत. उसका समय इतना अल्प है कि कहने में नहीं आता, पर होता अवश्य है; क्योंकि उसके बिना मोक्ष-मार्ग नहीं बन सकता। निश्चय से रत्नत्रय ही मोक्ष का उपाय है। आचार्य जयसेन का भी यह कथन है कि यह निश्चित है कि क्षायोपशमिक रूप भाव श्रुतज्ञान मोक्ष का कारण है जो कि वीतराग सम्यक्त्व और चारित्र के साथ में नियम से होता है और जो निर्विकल्प रूप शुद्धात्मा का परिच्छित्ति (ज्ञान) रूप लक्षण वाला है। अतएव यह स्पष्ट है कि परमार्थ में मोक्षमार्ग का लक्षण शुद्धात्मानुभूति है। व्यवहार से सर्वज्ञ प्रणीत शुद्धात्मतत्त्व प्रभृति छह द्रव्य, पंचास्तिकाय सात तत्त्व, नौ पदार्थ के विषय में सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान करना तथा अहिंसादि व्रत, शील आदि रूप जो रत्नत्रय कहा जाता है वह निश्चय रत्नत्रय का साधक होने से प्राथमिक भूमिका में उपचार से साधन है, उसे व्यवहार मोक्ष मार्ग कहा जाता है। परन्तु यथार्थ में मोक्षमार्ग एक है। यदि व्यवहार मोक्षमार्ग निश्चय का व्यवहार से साधक न हो, अपने स्वभाव की आराधना का लक्ष्य लेकर न चलता हो, तो वह मोक्षमार्ग कैसा ? अतएव मुनिश्री

योगीन्द्रदेव कहते हैं—हे योगिन् ! एक परम आत्म-दर्शन ही मोक्ष का कारण है, अन्य कुछ भी मोक्ष का कारण नही है; यह निश्चित समझ । यदि व्यवहार मात्र मोक्ष का कारण हो, तो अन्य मतावलम्बी भी मोक्षमार्गी माने जायेंगे । व्यवहार तो निश्चय तक पहुँचने का साधन है; यदि साधक उसे साधन बनाये, अन्यथा नहीं । परन्तु वह साध्य नहीं है । अत: व्यवहार करते-करते मोक्ष हो जायेगा, इससे बड़ा अन्य कोई भ्रम नहीं हो सकता ? आचार्य कुन्दकुन्द "पंचास्तिकाय" में कहते हैं—जो आत्मा रत्नत्रय की साधना से निजात्मा में एकाग्र होकर अन्य कुछ भी नहीं करता है, न कुछ छोड़ता है, ऐसी निर्विकल्प अवस्था को प्राप्त आत्मा ही निश्चयनय से मोक्षमार्ग कहा गया है । वास्तव में मोक्षमार्ग का निरूपण अनेक प्रकार से किया जाता है । व्यवहार और निश्चय के भेद से मोक्षमार्ग दो नहीं हैं, केवल उसकी प्ररूपणा दो प्रकार की है । आचार्य अमृतचन्द्र कहते है जितने भी तीर्थंकर तथा मुमुक्षु मोक्षमार्ग को प्राप्त कर सिद्ध हुए है, वे शुद्धात्मा -तत्त्ववृत्ति लक्षण विधि से ही प्रवर्तित हुए है, अन्य किसी विधि से सिद्ध नहीं हुए । आचार्य कल्प पं. टोडरमलजी तो यहाँ तक कहते है कि एक निश्चय मोक्षमार्ग और एक व्यवहार मोक्षमार्ग—ऐसे दो मोक्षमार्ग मानना मिथ्या है ।

जिसे हम अपनी वस्तु कहते हैं, वह है क्या ? वस्तु की पहचान उसके गुणों से की जाती है । गुण गुणी से अभिन्न होते हैं । किसी भी हालत में गुणी से गुण जुदा नहीं पाये जाते । वस्तु अनन्त गुणो की समुदाय है । आत्मा में भी अनन्त गुण निहित हैं । वस्तु में शक्ति रूप मे रहने वाले अनन्त गुणों से नही , किन्तु व्यक्त किसी असाधारण गुण से उसकी पहचान की जाती है । ज्ञान आत्मा का असाधारण गुण है जो चैतन्य द्रव्य को छोड़कर अन्य किसी वस्तु में नही पाया जाता । अतएव आत्मा को ज्ञान मात्र कहा गया है । ज्ञान जीव का विशेष लक्षण कहा गया है, जिसके आधार पर जड़-चैतन्य का भेद किया जाता है । जो ज्ञानानन्द स्वभाव से भिन्न आत्मा को जानता , समझता नही है, वह अपने आपको कभी नहीं समझ सकता । अपनी वस्तु अपने में है, पर-पदार्थों से अनुबन्ध हटने पर ही अथवा स्वात्मोन्मुख होने पर आत्म-दर्शन होता है । उसका दर्शन भी ज्ञानमूलक है । ज्ञान ही अपने विशेष रूप को जानता, देखता है । अन्तर केवल इतना है, कि पर्याय मे राग-द्वेष का संयोग है । द्रव्यार्थिकनय से वस्तु में पूर्ण विशुद्धता है, स्वभाव-दृष्टि से वह मोह, राग-द्वेषादि से संश्लिष्ट नही है । जीव के कर्म-बन्ध व्यवहार से कहा जाता है, परमार्थ में तो न बन्ध है और न मुक्ति । प्रश्न यह है कि अमूर्त जीव के साथ मूर्त कर्म कैसे बध जाते है? उत्तर यह है कि यथार्थ मे तो जीव अमूर्त है, पर इस सासारिक संयोग दशा मे कर्म के सम्पर्क के कारण इसे कथंचित् मूर्त भी कहा जाता है । व्यवहार से जीव मे मूर्तपने का कारण कर्म है, इसलिये कर्म का अभाव हो जाने पर, मूर्तपने का भी अभाव हो जाता है । ससार मे राग-द्वेष रूपी उष्णता से संयुक्त यह आत्मा रूपी दीपक योग रूपी बत्ती के द्वारा (कार्मण वर्गणा के) स्कन्धों (रूप तैल) को ग्रहण कर फिर कर्मरूपी (कज्जल) स्वरूप से उनको परिणमाता है । इस प्रकार यह संसारी जीव अनादिकाल से आठ कर्मों के बन्धनो से आबद्ध है । किन्तु

यथार्थ में यह जीव कर्म-स्वरूप को प्राप्त नहीं होता। यदि ऐसा हो तो कमबद्ध जीव में चेतना नहीं रहेगी। मूल मे तो रागादि भाव ही बन्ध के कारण है। भाव-बन्ध के अभाव में द्रव्य-बन्ध भी नहीं होता। जीव के साथ कर्म का बन्ध एक वैज्ञानिक प्रक्रिया है जो अपघटित होने वाले अणु-परमाणुओं के संयोग-वियोग की वास्तविकता को दर्शाने वाली है।

वस्तु-स्वरूप की समझ होने पर भी व्रत, तप, चारित्र आदि निरर्थक नहीं हैं। अध्यात्म तो सहज है; शुद्ध आत्मा में अनुष्ठान है। उसकी पूर्ण साधना करने वाले योगियो को भी इन माध्यमो से गुजरना पड़ता है। क्योंकि कोई भी योगीन्द्र चौबीसों घण्टे ध्यान की निर्विकल्प दशा में स्थित नहीं रह सकता। अतः व्रत, संयम, तप आदि में अपना उपयोग केन्द्रित करना पडता है,। परन्तु मिथ्यात्व-दशा मे जब इन व्रत, नियम, चारित्र, आदि का पालन किया जाता है, तब निष्फल कहा जाता है। 'निष्फल' कहने का अर्थ यह है कि इनकी साधना से स्वर्गादिक पद तो प्राप्त होते है, किन्तु सच्चा सुख प्रदान करने वाला परम पद इन से प्राप्त नही होता। आचार्य पूज्यपाद कहते हैं—व्रत संबंधी अनुराग लक्षण रूप शुभोपयोग होने से पुण्य की उत्पत्ति होती है, जो स्वर्गादिक पदो की प्राप्ति के लिए निमित्त कारण होते है। अतः व्रतादिकों का आचरण सार्थक है। व्रतो के द्वारा देव-पद, प्राप्त करना अच्छा है, किन्तु अव्रतों के द्वारा नरक-पद प्राप्त करना अच्छा नही है। जैसे छाया और धूप मे बैठने वालों मे भेद दिखलाई पड़ता है, वैसे ही व्रत और अव्रत के आचरण करने वालो मे अन्तर लक्षित होता है। स्वर्ग तो शुभ ध्यान मे उत्पन्न हुए पुण्य का एक फलमात्र है। वास्तव में इन्द्रियों से उत्पन्न होने वाला सुख वासना मात्र है, हेय उपादेय का विचार करने वाले जिसकी अभिलाषा नही करते हैं।

यथार्थ में अध्यात्म का उपदेश करने वाले सर्वज्ञ तथा वीतरागी जिनदेव और निर्ग्रन्थ सद्गुरु ही हुए। जिन्होंने मिथ्यात्व की अवस्था मे अपनी मोह-राग-द्वेष की बीमारियों को पहचान कर द्रव्यश्रुत से भाव-श्रुत को उपलब्ध किया था, वे ही स्व-संवेदन से अनुभूत आत्म-तत्त्व को प्राप्त कर निर्विकल्प समाधि में लीन हो वीतरागता तथा सर्वज्ञता को उपलब्ध हुए। सम्यग्दृष्टि मे और सर्वज्ञ में केवल अन्तर यही है कि छद्मस्थ (अल्पज्ञ) अवस्था में जो आगम के बल से द्रव्य, गुण और उनकी पर्यायों को जानता था, जिसकी श्रद्धा में शुद्धात्मा की धारणा बनी थी और आत्म-प्रत्यय रूप जो झलक उसे प्राप्त हुई थी, उस आत्मानुभव के बल पर वह शुद्धात्मा की अनुभूति की पूर्णता प्राप्त कर वीतराग चारित्र तथा सर्वज्ञता को उपलब्ध करता है। आत्मानुभव के काल में उस जीव का अवलोकन निर्विकल्प हो जाता है, विकल्प का उसे ख्याल नही आता, जिससे कर्मों का बन्ध रुक जाता है, और शीघ्र ही कर्म झड़ जाते हैं। अतएव सर्वज्ञ हो जाने पर वह केवल आत्मा का ही निर्विकल्प अवलोकन करता है। उसके ज्ञान में द्रव्य, गुण अपनी पर्यायों सहित प्रतिबिम्बित

होने लगते हैं, तथापि वह आत्मज्ञ होता है। जो यथार्थ में आत्मज्ञ है, वही सर्वज्ञ है। पहले जो आत्मदर्शन परोक्ष रूप से होता था, सर्वज्ञ को वह आत्म-दर्शन प्रत्यक्ष रूप से सतत सर्वदा होता है जो परमानन्दमय होता है। अतः सर्वज्ञ सदा परमानन्द में ही लीन रहते हैं। व्यवहार में ऐसा कहा जाता है कि तीनों कालों और तीनों लोकों की सम्पूर्ण वस्तुएँ और उनकी पर्यायें उनके ज्ञान में प्रतिबिम्बित होती हैं; क्योंकि जिस ने अपने ज्ञान-परिणमन को जान लिया, उस ने सब कुछ जान लिया।

ऐसे अध्यात्म के विषय मे लेखनी चलाना सचमुच कठिन तथा दुःसाहस का कार्य है। कही कोई स्खलन न हो जाए, इस भय के कारण हमने स्वप्न में भी कभी लिखने का विचार नही किया था। किन्तु एक दिन अकस्मात् रात्रि के तृतीय प्रहर मे किसी को दो बार जोर से यह कहते हुए देखा—"वीतरागता की दृष्टि, वीतरागता की दृष्टि"। निद्रा-भग होते ही हिलती हुई अंगुलियों का चित्र ही आँखों के सामने था, कहने वाले की मूर्ति सामने नही थी। प्रकृतिस्थ हो कर उसी दिन विचार किया कि कोई अदृष्ट चेतना इस बात का संकेत कर रही है कि उक्त नाम से कोई रचना लिखी जाए। उसी दिन सामान्य जनों को लक्ष्य कर लिखना प्रारम्भ किया। एक सप्ताह मे ही चालीस-पचास पृष्ठ इतनी सरलता से लिख गए कि कुछ अहसास ही नही हुआ। अत. हमारा उत्साह दिनोंदिन बढ़ता गया। सामान्य लेखन स्वत ही एक विशेष दिशा में मुड गया और कुछ ही दिनों में अपनी नासमझ की कठिनाई को महसूस करने लगा। किन्तु ज्यों-ज्यों ग्रन्थों का स्वाध्याय करता गया, त्यों-त्यो सभी कठिनाइयाँ अपने आप हल होती गई। केवल आत्मानभूति ही एक ऐसा विषय रह गया जो बराबर समझ मे नही आया। अत. यह विचार किया कि यह पुस्तक तो बन गई, जिस मे सच पूछो तो हमारा कुछ भी नहीं है। जिनागम के शब्दो को पढ़ कर उसके भाव को ही कही-कही ज्यों का त्यों और कहीं-कहीं अपने शब्दो मे उतार दिया है। किन्तु जिन-वाणी को समझने में समर्थ हुआ हूँ या नही, यह जानने के लिए यह पुस्तक ले कर इन्दौर गया। वहाँ श्रद्धेय पं. नाथूलाल जी शास्त्री को पाण्डुलिपि दिखाई। उन्होने कुछ कमियाँ बताई और साथ ही दोषों का दर्शन भी कराया। अनन्तर श्री प्रकाशचन्दजी पाण्ड्या से भी कई दिन चर्चाएं हुईं। तत्पश्चात् बड़े पण्डितजी श्रद्धेय पं जगन्मोहनलालजी शास्त्री, कटनी वालों से कुण्डलपुर मे यह आग्रह किया कि आप इस का वाचन कर दोषों का परिमार्जन कर दीजिए, क्योंकि अन्य विद्वानो ने संकेत भर कर यह दायित्व मेरे ऊपर ही छोड़ दिया है। बड़े पण्डितजी ने यह विमर्श दिया कि पू. श्री १०८ आचार्य विद्यासागरजी यहाँ पर है। उन की दृष्टि पैनी है। उनके समक्ष इसका वाचन होना चाहिए। इधर पूज्य १०८ मुनिश्री विवेकसागरजी का भी यही कहना था कि आचार्यश्रीजी को एक बार दिखा लीजिए। उनको यह पुस्तक अक्षरश. सुना कर उनका शुभाशीर्वाद मैं पहले ही प्राप्त कर चुका था। अतः यह भी सुयोग प्राप्त

हुआ कि मैं पू. १०८ आचार्यश्री विद्यासागरजी के सन्निकट आठ दिन रह कर पुस्तक में चर्चित विषयों पर चर्चा कर समाधान प्राप्त कर सका। पुस्तक के बहुत कुछ अंश बड़े पण्डितजी बहुत पहले ही आचार्यश्री को सुना चुके थे और उनके संशोधन व मन्तव्य नोट कर चुके थे। अतएव प्रत्यक्ष रूप से चर्चा करने में बहुत सुगमता हो गई। आचार्यश्री के दर्शन-मिलन को एक अपूर्व अवसर ही मानता हूँ। क्योंकि उनके साहचर्य में ही आत्मानुभूति की एक प्रबल व अदम्य आकांक्षा बलवती हो उठी है। तीन लोक का साम्राज्य भी उस शुद्धात्मावलोकन पर न्योछावर है। यही एक समग्र भावना है और यही सतत बनी रहे—यही अभिलाषा है।

स्वामी कार्तिकेय का कथन बिलकुल सच है कि जगत् में तत्त्व को सुनने वाले विरले ही मनुष्य होते हैं, विरले ही तत्त्व जानते हैं, विरले ही तत्त्व की भावना करते हैं और उनमें से विरले ही तत्त्व की धारणा करने वाले होते हैं। फिर भी, कोई एक भी इस पुस्तक को पढ़ कर अध्यात्म की ओर उन्मुख हुआ, तो अपना श्रम सार्थक समझूंगा। वैसे यह अध्यात्म का युग कहा जाता है। भावी पीढ़ी ही इसका समुचित मूल्यांकन कर पायेगी। हम भी इस अध्यात्म को प्राप्त हो, यही समीचीन भावना है।

प्रस्तुत पुस्तक के वाचन व भूमिकादि लेखन के निमित्त बड़े पण्डितजी श्रद्धेय पं० जगन्मोहनलालजी सिद्धान्तशास्त्री, सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्रजी तथा प० नाथूलालजी शास्त्री का विशेष आभार व अनुग्रह है। उनके प्रति कृतज्ञता किन शब्दों में व्यक्त करूँ? वास्तव में प्रस्तुत रचना गुरुजनों की कृपा का ही सुफल है। श्री प्रकाशचन्दजी पाण्ड्या, प्रकाश हितैषी' शास्त्री तथा अन्य विद्वान् मित्रों का भी विमर्श हेतु आभार है। सुपुत्री चि० चन्दनबाला के वांछित सहयोग तथा जैन समाज, नीमच के स्नेह के लिए सदा कृतज्ञ रहूँगा।

अन्त में, अज्ञानवश होने वाली सभी त्रुटियों व कमियों के लिए ज्ञानियों से क्षमा चाहता हूँ। इस सम्बन्ध में जो भी ज्ञानी उचित सुझाव देंगे तथा त्रुटियों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करेंगे, उनपर निष्पक्ष रूप से विचार कर अगले संस्करण में यथोचित संशोधन कर दिया जायगा। आशा है सभी सुधी जन बिना किसी पक्षपात के इसे अपनायेंगे। यद्यपि पुस्तक में एक ही बात की कई स्थानों पर पुनरुक्ति हुई है, किन्तु सहृदय पाठक उसे दोष रूप में नहीं, अलंकार रूप में ही ग्रहण करेंगे। अध्यात्म और आगम से समन्वित जिनवाणी को बहुविध कोटिशः विनय से नत हो नमन करता हूँ, जिसके प्रसाद से दो शब्द लिखने की धृष्टता की है।

"विदुषामापरितोषाद् न मन्ये साधु प्रयोगविज्ञानम्।"

— देवेन्द्रकुमार शास्त्री

मंगलाचरण

त्रिणिग्गओ मोह – महंधयारो
णाणप्पयासो मविज्जमाणो ।
आणद–चेयण–घण – णाणरासिं
णमामि सच्चिदणुभूदि – मत्तं ।।

मोहाभिधायां निशि निर्गतायां
लीने तमस्यभ्युदिते प्रकाशे ।
आनन्द सच्चिदघनबोधहेतु–
स्वात्मानुभूत्यै महसे प्रणौमि ।।

अर्थ—मोह की सघन निशा बीत जाने पर अज्ञान-अन्धकार विलीन हो जाता है। स्व-संवेद्य आत्मानुभव के द्वारा ज्ञानानन्द-स्वभावी-विज्ञान-घन त्रैकालिक ध्रुव चैतन्य का प्रकाश उदित हो जाता है। उस परम ज्योति स्वरूप स्वात्मानुभूति को मैं नमस्कार करता हूँ।

जो शुद्ध, बुद्ध है स्वयं देव
चिन्मात्र परम पावन अनूप,
शिव-सुख विलसे शाश्वत सदैव
पड़ता न जीव फिर अन्ध-कूप ।

सत् का ही चिन्तन अवलम्बन
मिल सकता हमको सत्य-रूप,
है परमतत्त्व अनुभूतिगम्य
तत् सत् है केवलज्ञान-रूप ।

हे वीतराग सर्वज्ञ देव !
संवेद्यमान अमृत सरूप,
शत-शत वन्दन करता सदैव
निज ज्ञान प्रकट हो सहज रूप ।

अनुक्रम

अध्यात्म क्या है ?

दर्शनशास्त्र का मूल अध्यात्म है। अध्यात्म ही आत्मविद्या का प्रकाशक है। जो तत् है, सत् है, जिसमें तत्त्व का अस्तित्व है, वही अध्यात्म का प्राण है। दर्शन उसी तत्त्व का, अपने वास्तविक अर्थ में शब्दों के द्वारा उसी सत्य का प्रतिपादन करता है, शब्दब्रह्म रूप सत्य का दर्शन कराता है। परमतत्त्व या सत्य का दर्शन करना भिन्न बात है और उसकी उपलब्धि हो जाना विलक्षण बात है। अध्यात्म-शास्त्र मे विलक्षण लोकोत्तर आत्म-तत्त्व तथा उससे अभिन्न ज्ञानानन्द का निर्वचन किया जाता है जो स्वयं आनन्दस्वरूप है। सभी तत्त्वो में एक आत्मतत्त्व ही प्रयोजनीय तथा सारभूत है। क्योंकि वह आत्मद्रव्य निजरस मे निर्भर, चैतन्य चिदानन्द-मय, आत्मज्योतिस्वरूप सदा काल आबालवृद्ध सभी के अनुभव में प्रकाशमान है। किन्तु अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा एक बार भी कभी हमारे अनुभव में केवल ज्ञान रूप में इस प्रकार अनुभव में नहीं आई कि जो यह अनुभूति है, वही मैं हूँ। स्वात्मानुभव के सिवाय अन्य प्रकार से आत्मा की सिद्धि नहीं हो सकती। इसलिये आत्म-सिद्धि, शुद्धात्मतत्त्व तक ले जाने वाली शुद्धनय की दृष्टि तथा शुद्धनय की विषयभूत ज्ञानानुभूतिस्वरूप आत्मानुभूति, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र आदि विषयों का अध्यात्मशास्त्र में विवेचन किया जाता है।

'अध्यात्म' शब्द 'अधि' और 'आत्मा' इन दो शब्दों से मिलकर बना है, जिसका अर्थ है—आत्मा के विषय में जिसमें चिन्तन है। यह चिन्तन किसी व्यक्ति विशेष का न होकर उस सत्य का है जो स्वतः उपलब्ध है। यथार्थ में शुद्धज्ञान ही आत्मा है और उसके विषय की सभी ज्ञान-ज्ञेय-मीमांसा, तत्त्वस्वरूप का विवेचन अध्यात्म है।

सामान्य जनों की यह धारणा उचित नहीं है कि हम अध्यात्म को समझ कर क्या करेंगे; वास्तव में अध्यात्म वही समझ सकते हैं जो अध्यात्म

के क्षेत्र में उतर गए हैं। यह ठीक है कि उनका समझना ही समझना कहा जाता है जो स्वयं अपने जीवन में अध्यात्म को उतार लें। किन्तु आध्यात्मिक विषयों की चर्चा से, चिन्तन-मनन तथा रुचि होने पर ही हम आध्यात्मिकता की ओर बढ़ सकते हैं। इसलिये अध्यात्म की श्रुति, स्मृति एवं कथनी भी उपयोगी है—इसे निष्फल नहीं कहा जा सकता। क्योंकि जब तक हम आध्यात्मिकता का विचार नहीं करेंगे, तब तक आध्यात्मिक कैसे बन सकते हैं? इसी प्रकार जब तक तत्त्वज्ञान की भावना हमारे अन्तरंग में हिलोर बन कर उठेगी नहीं, तब तक हम में स्फूर्ति उत्पन्न नहीं हो सकेगी और बिना उत्साह के हम किसी भी प्रकार का उद्यम करने के लिए तत्पर नहीं होंगे। इतना ही नहीं, वस्तु की भावना ही हमें वस्तु तक ले जाने में समर्थ होती है। यदि हम उसकी भावना न भाएँ, तो उस सत्य का साक्षात्कार करने के लिए कभी भी हमारा पुरुषार्थ जागृत न होगा। पुरुषार्थ के अभाव में हम सदा उस वस्तु-तत्त्व से अनभिज्ञ रहेंगे। अनादिकाल से हम घोर अज्ञान में है और वही अज्ञान-अन्धकार सदा सतत बना रहेगा। हमारी सबसे बड़ी कठिनाई यही है कि न तो हम वस्तु को जानते हैं और न जानने की कोई जिज्ञासा है। जिज्ञासा के अभाव में हमारे मन में जन्म लेने वाली भावना क्षण भर में विलीन हो जाती है, एक उपेक्षा और निराशा ही हाथ लगती है। कई बार ऐसा भी होता है कि हमारी जिज्ञासा तो है, पर युक्ति, तर्क, आगम और प्रमाण की वास्तविक जानकारी के बिना प्रस्तुत की गई सामग्री से उचित समाधान तथा मार्गदर्शन न मिलने से वह जिज्ञासा मात्र ही बनी रहती है। फिर भी, यदि हमारे मन में किसी वस्तु को जानने की जिज्ञासा न हो, उसके सम्बन्ध में सम्यग्ज्ञान न हो, तो हम उसके सबसे अधिक निकट होने पर भी उससे अज्ञात बने रह सकते हैं। इसलिये आध्यात्मिकता की पहली शर्त है—वस्तु-तत्त्व या आत्म-जिज्ञासा का उत्पन्न होना।

कैसी जिज्ञासा?—यही कि मैं कौन हूं, क्या हूँ? यह तो सभी जानते-समझते है कि यह शरीर, देहस्थित इन्द्रियाँ, मन-बुद्धि आदि मैं हूँ। यदि, इतना ही मैं हूं, तब तो अपने आप को जान लेना बहुत सरल है। परन्तु सत्य यह है कि बड़े-बड़े वैज्ञानिक भी उस परमतत्त्व को नहीं जान पाए।

हम संसार की सब वस्तुओं के विषय में जानते हुए भी अपने सम्बन्ध में ठीक से नहीं जानते। क्योंकि उसे जानने-समझने की दृष्टि हमें प्राप्त नहीं हुई। जिसे हम जानते-समझते हैं, उससे कहीं अधिक वैज्ञानिक, विशेषज्ञ और डॉक्टर जानते हैं। 'मैं' और 'आप, अपना' शब्द जितना जो कुछ बता सकते हैं, संकेत करते हैं, उतना भाषा वैज्ञानिक जानते हैं। जैसी शरीर की रचना है, उसके अनुसार प्रत्येक अवयवों का निर्माण कैसे होता है, किस रूप में इनकी रचना है, इत्यादि डॉक्टर जानते हैं। शरीर किन तत्त्वों के संयोग से यौगिक प्रतिक्रियाओं द्वारा ऊर्जा का निर्माण कर कैसे सक्रिय रहता है—यह वैज्ञानिक भलीभाँति जानते हैं। वे शरीरगत प्रत्येक स्पन्दन को, स्नायुओं के कम्पन, रक्त-प्रवाह-गति आदि सभी भौतिक क्रियाओं को अपने सही रूप मे जानते हैं। फिर भी, यह प्रश्न बना ही रहता है कि इन सबके बावजूद 'मै कौन हूँ'। जो अमूर्त है, इन्द्रियगोचर नहीं है, इतना सूक्ष्म है कि शब्दातीत है, मन की उस तक पहुँच नही है और जो समस्त भौतिक प्रक्रियाओं तथा यान्त्रिक साधनों से अगम्य है, वह आखिर है क्या ? क्योंकि जिसके शरीर मे मौजूद रहने पर यह शरीर चलता है, खाता-पीता, बोलता है, तरह-तरह के काम करता है और जिसके बाहर निकल जाने पर यही शरीर मुर्दा होकर पड़ा रहता है—वह अवश्य कुछ है। वैज्ञानिकों को भी यह अहसास होता रहा है कि जो पकड के बाहर है, वह अवश्य कुछ है। इसी कुछ को समझने की जिज्ञासा ही हमें दर्शन के क्षेत्र में प्रवेश कराती है। दर्शन की संरचना भी इसी जिज्ञासा को लेकर हुई है कि 'मैं कौन हूं, कहाँ से आया हूं और मुझे कहाँ जाना है।' इसका पूर्ण समाधान अध्यात्म मे होता है। क्योंकि निज शुद्धात्मा में विशुद्धता का आधारभूत स्वयं अध्यात्म है। दर्शन से तो हमारा उद्देश्य निश्चित होता है। हमें विभिन्न मार्ग-पद्धतियों में विविध जिज्ञासाओं को लेकर इष्ट पथ का निर्णय करना होता है। इष्टपथ या मुक्ति-मार्ग का दर्शन कराने के कारण दर्शन नाम सार्थक कहा जाता है। दर्शन का अर्थ है—श्रद्धान या मान्यता। दर्शन में धर्म-मूर्ति का दर्शन होता है। जो स्वयं दर्शन को उपलब्ध हो जाता है, वही सच्चा अध्यात्म है। इस अर्थ में दर्शन और अध्यात्म परस्पर सापेक्ष है। सामान्य रूप से मत-मतान्तरों की सुचिन्तित तथा सुव्यवस्थित पद्धति का नाम दर्शन है। दार्शनिक चिन्तन को तर्क के निकष (कसौटी) तक ले

जाने वाला, उसे प्रमाण और युक्तियों से परीक्षित कर सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत करने वाला वस्तुतः अध्यात्म है। यह अध्यात्म ही किसी दर्शन को प्रतिष्ठित करने वाला उसका मूलाधार है।

स्वानुभव प्रमाण

अध्यात्म का दूसरा अनुबन्ध है—स्वानुभव का प्रमाण होना। हम व्यवहार और परमार्थ दोनों में ही अपने अनुभव को सबसे बड़ा प्रमाण मान सकते हैं। सचाई भी यही है कि दूसरों के लाख समझाने पर भी हम वही समझते है, जो समझना चाहते है, अध्यापक के बार-बार पढ़ाये जाने पर भी विद्यार्थी वही सीखता है जो सीखना चाहता है, माता-पिता के प्राण-पण से चाहे जाने के बावजूद भी बेटा वही बनता है जो वह बनना चाहता है। इसका अर्थ यही है कि सबके अपने-अपने अनुभव हैं और अपने-अपने अनुभवों के आधार पर सब अपनी पसन्द के अनुसार कार्य करते हैं। सब को वही अच्छा लगता है, जिसके बारे में उसका जैसा अनुभव होता है। व्यवहार में भले ही अनुभवों में भिन्नता तथा विलक्षणता हो, किन्तु अध्यात्म की भूमिका पर सबका अनुभव समान होता है; क्योंकि केवल आनन्द का ही अनुभव होता है। इसलिये यह सही है कि मनुष्य अपने अनुभव को छोड़ कर किसी को प्रमाण माने या नहीं, किन्तु अनुभव को प्रमाण तो अवश्य ही मानता है।

स्वानुभव का अर्थ है—अपना अनुभव। जब हमने यह समझ लिया है कि मैं शरीर नही, इन्द्रियाँ नहीं, मन-बुद्धि नही, राग-रंग नहीं हूँ। मै तो केवल चैतन्य हूँ। तो केवल उस चैतन्य का अनुभव करना ही अपना अनुभव है। अपनी आत्मा के सम्बन्ध में अपना यह अनुभव ही प्रमाण हो सकता है। अन्य प्रमाणों से मतलब भी क्या है? स्वानुभव ही सबसे बड़ा प्रमाण है। इस स्वानुभव प्रमाण से ही योगीजन निज परमात्मा का स्वसंवेदन करते है और अलौकिक एवं अनिर्वचनीय आनन्द की अनुभूति प्राप्त करते है। इस विषय मे विस्तार से आगे कहा जायगा। यहाँ इतना ही समझ लेना पर्याप्त है कि आनन्द से हमारा अभिप्राय इन्द्रियजन्य सुख तथा वस्तुओं के संयोग से न होकर ज्ञानानन्द से है। ज्ञानानन्द का अनुभव ही स्वानुभव है और वही सब प्रमाणों में श्रेष्ठ तथा लोकोत्तर है। संसार

में कोई भी ऐसा मन्द बुद्धि न होगा जो अपने अस्तित्व तथा अपने अनुभव को न मानता हो। किन्तु जो अनुभव हमें पर-वस्तुओं के संयोग से होता है, वह अध्यात्म में कार्यकारी नहीं है; क्योंकि वह आत्मजन्य नहीं है। अध्यात्म में केवल आत्मा के विषय की बात है; जो आत्मा से भिन्न है और जो अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखते है, वे आत्मा के अनुभव के विषय कैसे हो सकते हैं? अतएव स्वसंवेदनगम्य शुद्ध आत्मानुभव ही अध्यात्म हो सकता है, अन्य लौकिक बातें अध्यात्म के क्षेत्र से बाहर की हैं। और यही कारण है कि शुद्ध आत्मा ही उसके लिए एकमात्र प्रमाण हो सकता है, अन्य प्रमाणों के आधार पर उसकी ज्ञप्ति नहीं हो सकती। हाँ, लोक में परवस्तु के परीक्षण के लिए परवस्तु की सहायता अवश्य ली जाती है। परवस्तु के निर्णय के लिए परवस्तु प्रमाण हो सकती है, किन्तु स्व (आत्मा) के लिए परवस्तु निर्णय कराने में समर्थ नहीं है। स्व वस्तु का निर्णय तो स्व से ही होगा। इसके सिवाय अन्य कोई उपाय नहीं है। इतना ही नहीं परवस्तु के निर्णय में भी स्व-विवेक कार्यकारी है; वस्तु नही।

आत्मा का अनुभव भी वास्तव में शुद्ध ज्ञान का अनुभव है। ज्ञान आत्मा का असाधारण तथा विशेष गुण है। ज्ञान स्व-पर प्रकाशक है। ज्ञान से ही हमें अपने और पराये का बोध होता है। ज्ञान का लक्षण सत्यार्थ प्रकाशक है। वस्तु-स्वरूप के निश्चय कराने वाले धर्म को ज्ञान कहते हैं। शुद्धनय के कथन की अपेक्षा से वस्तु-स्वरूप को उपलब्ध कराने वाला ज्ञान कहा जाता है[१]। इस प्रकार पदार्थों का निश्चय कराने वाला ज्ञान प्रमाण है। जिस प्रकार घट, पट आदि पदार्थों को प्रकाशित करने में दीपक कारण है, उसी प्रकार अपने स्वरूप का प्रकाश करने में ज्ञान कारण है। स्व-पर व्यवसायी ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। प्रमाण स्वयं नियम से प्रमेय है। अपने ही कारण से उत्पन्न होने वाले पदार्थ जिस प्रकार स्वतः ज्ञेय होते हैं, उसी प्रकार अपने कारण से उत्पन्न होने वाला ज्ञान भी स्वतः ज्ञेयात्मक है[२]। जिस तरह वस्तु की ओर झुकने पर पदार्थ का ज्ञान होता है, वैसे ही

---

१. "शुद्धनयविवक्षायां तत्त्वार्थोपलम्भकं ज्ञानम्"। धवला, १,१,४,१४२

२. स्वहेतुजनितोऽप्यर्थः परिछेद्यः स्वतो यथा।
तथा ज्ञानं स्वहेतुत्थं परिच्छेदात्मकं स्वतः॥ लघीयस्त्रय, ५९

अपनी आत्मा की ओर झुकने पर अपना भी प्रतिभास होता है । इसे ही स्व-व्यवसाय या ज्ञान का जानना कहते हैं । संसार में ऐसा कौन लौकिक परीक्षक होगा जो ज्ञान से जाने हुए पदार्थ को तो प्रत्यक्ष का विषय माने और स्वयं ज्ञान को प्रत्यक्ष का विषय स्वीकार न करे ?

यथार्थ में ज्ञान स्व-ज्ञेय का ही ज्ञायक है । ज्ञानगुण का वर्णन करते हुए पं० दीपचन्द जी कासलीवाल लिखते है :

'ज्ञान' जानपना है । वह स्वज्ञेय को जानता है । परज्ञेय को ज्ञान यदि निश्चय से जाने, तो वह जड़ हो जाये अर्थात् 'पर' मे तादात्म्यवृत्ति सम्बन्ध हो कर एक होय । अत: ज्ञान पर को निश्चय से तो नही जानता, उपचार से जानता है[1] ।' ज्ञान त्रिकालवर्ती पदार्थों को एक समय में एक साथ जानता है । कोई प्रश्न करता है कि आत्मा के भविष्यत्काल के प्रत्येक समय मे परिणामों मे जो सुख होता है, वह ज्ञान मे प्रतिभासित हो जाता है, किन्तु प्रत्येक क्षण नवीन स्व-संवेदन रूप परिणति सुख कैसा होता है ? इसका उत्तर यह है कि भविष्यत्काल के परिणाम ज्ञान मे तो प्रतिभासित होते है, किन्तु उनके व्यक्त न होने से वे क्रमवर्ती होते है और प्रत्येक क्षण उन मे नवीनता होती है । परन्तु ज्ञान का सुख एकसाथ होता है । अत: परिणाम का सुख नवीन कहा जाता है, ज्ञान का सुख युगपत् है[2] ।

अपनी पहचान

आध्यात्मिकता का उद्देश्य है---अपनी पहचान । अपनी पहचान किए विना अपने आप से आप नही मिल सकते । यह पहचान कोई करा नही सकता । आपको अपने आप से करनी होती है । पहचान की विधि यही है कि स्व-संवेदन ज्ञान से अपने आप का परिचय होता है । वास्तविक परिचय ही अपना स्वरूप है । स्वरूप के द्वारा ही हम अपने आप को पहचान सकते है । अपना स्वभाव ज्ञानानन्द है । यद्यपि जीव दु:ख-सुख, अज्ञान आदि भावो का वेदन करता है, किन्तु ये अशुद्ध भाव है, वास्तविक भाव तो ज्ञानानन्द ही है । आध्यात्मिक सन्त योगीन्द्रदेव कहते है[3]:—

---

१. चिद्‌विलास, पृ० २८

२. वही, पृ० २९

३. अप्पा णाणहं गम्मु पर णाणु वियाणइ जेण ।
तिण्णि वि मिल्लिवि जाणि तुहुं अप्पा णाणें तेण ।। परमात्मप्रकाश, अ. १, दोहा १०७

'आत्मा नियम से स्व-संवेदन ज्ञान द्वारा ज्ञात होता है। ज्ञान मात्र की क्रिया से आत्मा जानने में आता है; राग की क्रिया से नहीं। क्योंकि ज्ञान ही आत्मा को जानता है। इसलिये धर्म, अर्थ, काम भाव रूपी विकल्पों को अपनी दृष्टि से हटाकर ज्ञान से अपनी आत्मा को जान।'

जिज्ञासा की उत्कटता होने पर यह प्रश्न उत्पन्न हुए बिना नहीं रहता कि मैं कौन हूँ, कैसा हूँ और क्या हूँ ? आचार्य अमृतचन्द्रदेव कहते है कि मैं ज्ञानज्योति से प्रकट हुआ ज्ञान रूप हूँ। ज्ञान ही मेरा स्वरूप है। मैं ज्ञान ही कर्ता हूँ, ज्ञान ही भोक्ता हूँ और सर्वत्र अपने आपको ज्ञानमय ही देखता हूँ, परभाव को करना मेरा स्वरूप नही है। परभाव का कर्ता आत्मा है—यह मोही जीवों का लक्षण है[1]। मैं साक्षात् अमूर्तिक अखण्डपद को धारण करने वाला हूँ। ब्र. पं. रायमल्लजी कहते हैं :

"यह साक्षात् चिन्मूर्ति सबका देखनहारा ज्ञाता-द्रष्टा-अमूर्तिक आनन्दमयी सुख का पुज स्व-संख्यातप्रदेशी परद्रव्यसूं भिन्न अपने निज स्वभाव का कर्ता भोगता परद्रव्य का अकर्ता ऐसा मेरा स्व-संवेदन स्वरूप ताकी महिमा कौनकूं कहिये। यह जीव पुद्गल द्रव्य का पिण्ड ताका कर्ता भोगता नाहीं"[2]।

इससे यह स्पष्ट है कि स्व-संवेदन ज्ञान से आत्मा की पहचान होती है। आत्मा की पहचान के लिए परप्रत्ययों की आवश्यकता नहीं पड़ती। इसी प्रकार राग-द्वेषादि से भी आत्मा की पहचान नहीं होती। यहाँ कोई प्रश्न करता है कि जब आप आत्मा में राग-द्वेष नहीं मानते, तो यह जीव जानता कैसे है ? प्रश्न में ही उत्तर छिपा हुआ है कि क्या आत्मा को जानने के लिए राग-द्वेष की अनुभूति आवश्यक है ? जानना ज्ञान में है या राग में ? आप फिर प्रश्न कर सकते हैं कि जानने का विकल्प तो राग से होगा। बिना विकल्प के यह कैसे जानेगा ?——किन्तु वास्तव में विकल्प नहीं जानता है। राग-द्वेष की मिलावट तो ज्ञान में है और उस मिलावटी ज्ञान

---

१ आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत्करोति किम्।
परभावस्य कर्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम्॥ समयसारकलश, श्लोक ६२

२. ज्ञानानन्दश्रावकाचार, पृ० १९५

को वास्तविक ज्ञान या रागमात्र समझना मिथ्या है। जानने की क्रिया तो ज्ञान में ही पाई जाती है। यह ज्ञान स्व-संवेद्य होता है।

आत्मा ज्ञान प्रमाण है

आत्मा ज्ञानमात्र है और ज्ञान सर्वव्यापी है, क्योंकि वह लोकालोक को जानता है। अतः आत्मा ज्ञान प्रमाण है। आचार्य कुन्दकुन्द के शब्दों में—

'आत्मा ज्ञानप्रमाण है और ज्ञान ज्ञेयप्रमाण है। प्रत्येक द्रव्य अपने गुण तथा पर्यायों से अन्वित है। इसलिये आत्मा अपने ज्ञान गुण प्रमाण है; न उससे कम है और न उससे अधिक। ज्ञान लोक तथा अलोक के समस्त पदार्थों को जानता है, सभी ज्ञेय उसके विषय हैं। इसलिये ज्ञान सर्वव्यापक है[1]।'

वास्तव में आत्मा ज्ञान के बराबर है। यदि आत्मा ज्ञान से लघु हो, तो ज्ञान का चेतन के साथ समवाय न होने से यह अचेतन हो जायेगी और तब पदार्थों का ज्ञान नहीं कर सकेगी। इसी प्रकार यदि आत्मा ज्ञान से अधिक हो, तो ज्ञान से अतिरिक्त आत्मा बिना ज्ञान के पदार्थ को कैसे जान सकेगी? क्योंकि ज्ञान ही जानने का साधन है[2]। ज्ञानस्वरूप आत्मा अन्य पदार्थों से रहित है। वह केवल ज्योति है। व्यवहार की दृष्टि से समझने के लिए द्रव्य, पर्याय को भेदरूप कहा जाता है। परमार्थ से त्रिकाली सामान्य ध्रुव द्रव्य से पर्याय और भाव अभिन्न हैं। क्योंकि ज्ञानदर्शन लक्षण वाले जीव में एकान्त से माना गया सर्वथा उत्पाद या व्यय अथवा ध्रुवत्व का अभाव है[3]। गुण-पर्याय वाला द्रव्य है—इस कथन में तीन आने पर भी अभेद से तीनों एक हैं। जैसे कि अनादि अनन्त पर्यायों का भण्डार प्रत्येक द्रव्य है, वैसे ही प्रत्येक गुण अनन्त पर्यायवान है और अनन्त गुणों का पिण्ड भी द्रव्य है। इस प्रकार द्रव्य का परिणमन गुण का है

---

१. आदा णाणपमाणं णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं ।
णेयं लोगालोगं तह्मा णाणं तु सव्वगयं ॥ प्रवचनसागर, गा० २३

२. प्रवचनसार, गाथा २४–२५

३. कषायपाहुड, १,५४,३

और गुण का परिणमन सो द्रव्य का है। इन में भेद कहने में आता है, किन्तु वास्तव में भेद नहीं है। इस विषय में कोई प्रश्न करता है कि यदि गुण-पर्याय का पुंज द्रव्य है, तो गुणों के लक्षण से गुणों को जाना और पर्यायों के लक्षण से पर्यायों को जाना। फिर, द्रव्य नाम की कोई वस्तु रही नहीं ? इसके उत्तर में कहते है कि स्वभाव सदा स्वभावी का सहभावी होता है। गुण और पर्याय भी द्रव्य से तादात्म्य रखते हैं। बिना द्रव्य के कोई गुण नहीं रह सकता। गुण कभी भी गुण के आश्रित नहीं रहते। प्रत्येक गुण अपने-अपने स्वभाव को लिये हुए रहता है। एक गुण कदापि दूसरे गुण से नहीं मिलता। जैसे ज्ञान को एक गुण माना गया है, वैसे ही दर्शन भी एक गुण है; किन्तु दोनों ही भिन्न-भिन्न हैं। ज्ञान कभी दर्शन नहीं हो सकता और दर्शन कभीज्ञान नही बन सकता। यद्यपि ज्ञान कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है; वस्तु तो आत्मा है। आत्मद्रव्य में ज्ञान गुण पाया जाता है। गुण कभी द्रव्य नही बन सकता, ऐसा सिद्धान्त है। गुण सदा द्रव्य में ही पाये जाते हैं।

आत्मा एक द्रव्य है। यह द्रव्य वस्तु है या वस्तु की कोई अवस्था है। स्व. पं. दीपचन्दजी कासलीवाल कहते हैं : "सामान्य और विशेष का जो एकान्त रूप है, वही वस्तु का स्वरूप है। द्रवीभूत (द्रव्यत्व) गुण के कारण ही द्रव्य को द्रव्य का नाम मिलता है। अतः वस्तु (द्रव्य) की अवस्था (व्यवस्था) द्रव्यत्व के द्वारा द्रव्य रूप हुई है। अतः वह (द्रव्य) वस्तु ही है[1]।" वास्तव में वस्तु न तो उत्पन्न होती है और न नष्ट होती है। किन्तु वस्तु की पर्याय (अवस्था) उत्पन्न होती है और नष्ट होती है। परमार्थ से वस्तु अवस्था मात्र नहीं है। अवस्था वस्तु से कथंचित् भिन्न है। किन्तु उनको अलग-अलग नहीं किया जा सकता, इसलिये किसी अपेक्षा से अभिन्न माना गया है; भेद-दृष्टि से तो द्रव्य भिन्न है, पर्याय भिन्न है। स्वामी कार्तिकेय का कथन स्पष्ट है—"धर्म और धर्मी के कथन करने की अपेक्षा से द्रव्य और पर्याय में भेद किया जाता है, किन्तु वस्तु-स्वरूप से उनमें भेद नहीं है[2]।" कारण रूप मिट्टी आदि द्रव्य में और कार्य रूप घटादि पर्याय में धर्म

---

१. चिद्विलास, पृ. ७

२. दव्वाण पज्जयाणं धम्म-विवक्खाए कीरए भेओ ।
वत्थु-सरूवेण पुणो ण हि भेदो सक्कदे काउं ।। कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गा. २४५

और धर्मी का कथन करने की अपेक्षा से भेद है। परमार्थ से तो कार्य-कारण में अभेद ही है। हाँ, यह बात अवश्य है कि वस्तु रूप से द्रव्य और पर्याय में सर्वथा भिन्नता नहीं है। क्योंकि द्रव्य के आश्रय के बिना कहीं पर्याय नहीं देखी जाती है। फिर, यह भी नहीं कहा जा सकता है कि द्रव्य में पर्यायें पहले से मौजूद रहती हैं, छिपी हुई रहती हैं। यदि ऐसा माना जाए तो पर्याय की उत्पत्ति होती है, यह कहना गलत हो जायेगा। द्रव्य तो अविनश्वर होने के कारण अनादिनिधन है। उस अनादिनिधन द्रव्य में अपने योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के मिलने पर जो पर्याय विद्यमान नहीं होती, उसकी उत्पत्ति हो जाती है। जैसे विद्यमान मिट्टी में घट के उत्पन्न होने का उचित काल आने पर कुम्हार आदि के सद्भाव में घट आदि पर्याय उत्पन्न होती है[1]। वस्तुतः द्रव्य स्वतः सिद्ध है। द्रव्य के स्वभाव में कभी भी परिवर्तन नहीं होता। इसी प्रकार एक द्रव्य अन्य रूप परिणमन नहीं करता। वस्तु का अस्तित्व ही निश्चय से उसका स्वभाव है और वह गुणों का समुदाय है। अतः द्रव्य गुणों का समुदाय है। निश्चय से द्रव्य अपने आप में स्थित है। वस्तुतः उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य इन तीनों में लक्षण भेद होने पर भी वस्तुपने से भेद नहीं है।

विपरीत श्रद्धान : पूर्वग्रह

संसार के सभी प्राणी अपनी-अपनी योग्यता तथा समझ के अनुसार अलग-अलग मान्यता रखते हैं। मान्यता के अनुसार ही अलग-अलग मत बनते हैं। सभी मत वाले अपने-अपने मत को ठीक कहते हैं। किन्तु वास्तव में तथ्य यह है कि व्यक्ति का मत ठीक भी हो सकता है और गलत भी हो सकता है; किन्तु वस्तु का सत्य सदा सत्य होता है। यह दृष्टि हमें यह बताती है कि अपने आपको ठीक मान कर अपने मत पर अड़े रहना कदाग्रह है, खोटा आग्रह या हठ है। हमें वही स्वीकार करना चाहिए जो सत्य हो। रूढ़ि या परम्परा से बद्ध तथा पूर्वग्रह से मानी हुई धार्मिक विचारधारा भी हमें सत्य तक नहीं पहुँचने देती है। क्योंकि अपने विशुद्ध रूप में सत्य ही धर्म है। इसलिये धर्म की प्राप्ति के लिए निरे अन्धविश्वासों, रूढ़ियों

---

१. सव्वाण पज्जयाणं अविज्जमाणाण होदि उप्पत्ती ।
कालाई-लद्धीए अणाइ-णिहणम्मि दव्वम्मि ॥ कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गा. २४४

और गलत परम्पराओं की केंचुल उतार कर फेंकना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है । जैसे कड़वेपन का वमन किए बिना हम मधुरता का स्वाद नहीं ले सकते हैं, वैसे ही अपने जीवन से गलत धारणाओं की मुक्ति किए बिना हम सत्य के क्षेत्र में प्रवेश नहीं कर सकते ।

आध्यात्मिकों का जीवन सत्य का जीवन होता है । सत्य की खोज में ही उनका घर-द्वार छूट जाता है, वे निस्पृह, निरासक्त और निर्ग्रन्थ हो वीतरागता की उपलब्धि के लिए सतत ज्ञानानंद की धारा में प्रवाहित होते है । उन को दुनिया की वस्तुओं से कुछ लेना-देना नहीं रहता, मात्र आत्मवस्तु को ही अपनी समझ कर उसका जैसा स्वभाव है, उसी में तन्मय होने का पुरुषार्थ करते हैं । उनका श्रद्धान सच्चा होता है, क्योंकि वस्तु के सत्य स्वभाव को वे अपनी प्रतीति का विषय बनाते हैं । किन्तु अज्ञानी जीव वस्तु-स्वभाव से बेखबर रहते है । उन को बार-बार तत्त्व समझाने की गुरूदेव कृपा करते हैं, किन्तु वह उन्हें रूचता नहीं है । इसलिये शास्त्र की भाषा मे उन्हें मोही, अज्ञानी, मिथ्यात्वी, मिथ्यादृष्टि या विपरीत श्रद्धानी आदि नामों से अभिहित किया जाता है ।

संसार का प्रत्येक प्राणी चैतन्यमय है । वह अनन्त गुणों का भंडार है । अनन्त ज्ञान और अनन्त सुख स्वभाव से वह भरपूर है । वास्तव में सुख संसार की किसी वस्तु में नही है । यदि किसी वस्तु के सम्पर्क से हम सुख का अनुभव करते हैं तो इसका कारण वस्तु न होकर हमारे मन के अनकूल उस समय वस्तु का होना है । इसलिये कुछ समय पहले जिस पंखे की हवा हमें सुखद मालूम हो रही थी, कुछ समय बाद ही पानी बरस जाने पर उसी पंखे की हवा असह्य हो जाती है । इससे पता चलता है कि पंखा और उससे मिलने वाली हवा न तो अच्छी है और न बुरी है । हमारे मन का योग उसके साथ जैसा होता है, वह वस्तु हमें वैसी प्रतीत होती है । यदि इन संसार की वस्तुओं में सुख होता, तो धन-कुबेरों को कभी का सुख मिल गया होता ? परन्तु देखा यह गया है कि बड़े-बड़े राजा-महाराजाओं और चक्रवर्तियों को भी समस्त धन-वैभव का त्याग कर वीतरागता की शरण लेनी पड़ती है । यह वीतरागता ही आत्मवस्तु का स्वभाव है, जो वस्तु का सत्य है और जिसके सम्बन्ध में किसी सन्देह या विवाद की गुंजाइश नहीं है; क्योंकि शुद्ध आत्मवस्तु स्वानुभव-प्रमाण है । इसमें पराये

अनुभव से हमें कुछ लाभ होने वाला नहीं है। हमारा अपना अनुभव ही हमारे काम का है; अपना अनुभव स्वसंवेदनगम्य ही है।

संसार के सब प्राणी सुख चाहते हैं; किन्तु काम सब दुःख के करते हैं। सच्चे सुख से न तो उनका कोई परिचय है और न उनके श्रद्धान में ही यह बात है कि इन्द्रिय-विषयों से तथा भोगों से मिलने वाला सुख वास्तविक सुख न होकर सुखाभास है। मनुष्य का कितना विपरीत श्रद्धान है कि सुखाभास को ही उसने सुख समझ रखा है। परन्तु सुख बाहर में नहीं है, भीतर में है। जब बाहर में सुख है ही नहीं, तो बाहरी वस्तुओं से सुख कैसे मिल सकता है ? भूख लगने पर हम भोजन कर लेते हैं, प्यास लगने पर पानी पी लेते हैं और फिर समझते हैं कि भूख मिट गयी, प्यास मिट गयी। यदि वास्तव में संसार की वस्तुओं के भोग से भूख-प्यास मिट गयी होती, तो हमें बार-बार खाने-पीने की आवश्यकता नहीं पड़ती। किन्तु हम देखते हैं कि प्रत्येक प्रहर में भूख-प्यास तैयार बनी रहती है। इससे स्पष्ट है कि हमारा इलाज सही नहीं है। इलाज ठीक इसलिये नही है कि हमारी मान्यता ठीक नहीं है। अपनी मान्यता के अनुसार ही हम चिकित्सा-पद्धति भी अच्छी या बुरी समझते हैं। जहाँ दृष्टि है; वहीं सृष्टि है। किन्तु हमारी दृष्टि अभी जड़ पदार्थों की ओर है। इतना ही नहीं, हम उन से ही अपना कल्याण मानते हैं और उनको प्राप्त करने में ही रात-दिन आकुल-व्याकुल रहते हैं।

कोई प्रश्न कर सकता है कि क्या ज्ञानी पर-पदार्थों का भोग-उपभोग नहीं करता है ? यह सच है कि जो ज्ञानी खाता-पीता है, वह अज्ञानी भी खाता पीता है। किन्तु दोनों की खाने-पीने की दृष्टि अलग-अलग है। अज्ञानी इसलिये खाता-पीता है कि शरीर को भोजन न मिलने से इन्द्रियों की शक्ति कमजोर हो जायेगी और वह उन से भोग नही भोग सकेगा। परन्तु ज्ञानी इसलिये खाता-पीता है कि अपने ज्ञानानन्द स्वभाव की उपलब्धि के लिए, संयम, तप और त्याग के लिए वह शरीर को साधन मात्र समझता है। इस साधन के नष्ट होने के पूर्व ही वह साध्य को प्राप्त कर लेना चाहता है। वास्तव में ज्ञानी हो या अज्ञानी वह अपने परिणामों को ही भोगता है; पर-पदार्थों को नहीं। लेकिन व्यवहार में यह कहा जाता है कि ज्ञानी पर-पदार्थों को भोगता है।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि ज्ञान आत्मा का गुण है। प्रश्न हो सकता है कि जब आत्मा स्वयं ज्ञानी है, तो इसे ज्ञानी बनने का उपदेश क्यों दिया जाता है और यदि यह अज्ञानी है, तो कभी ज्ञानी बन नहीं सकता है? अतः दोनों अवस्थाओं में उपदेश देना व्यर्थ है। उत्तर यह है कि इसमें कोई सन्देह नहीं है और यह निश्चित तथा सूर्य के प्रकाश की भाँति स्पष्ट है कि जीव ज्ञानी है, स्वभाव से उस में ज्ञान है। जीव के भीतर ज्ञान कोई डाल नहीं सकता। जिस प्रकार सूर्य स्वयं प्रकाश रूप है, उसी प्रकार आत्मा भी ज्ञान-स्वरूप है। इसलिये यह कहना उचित नहीं है कि जीव अज्ञानी है। फिर भी, यह व्यवहार इसलिये किया जाता है कि इस जीव के आत्म-श्रद्धान मे विपरीत अभिनिवेश है। विपरीत अभिनिवेश का अर्थ है–विपरीत मान्यता, उल्टा श्रद्धान अर्थात् जैसा वस्तु का स्वरूप नहीं है, वैसा मानना और वस्तु जैसी है, उसे वैसा नहीं मानना। संसार के दुःख का मूल कारण यही है[1]। वास्तव में यह जीव अपने स्वरूप को नहीं देखता है, अपना अनुभव नही करता है। अपने आप को भूल जाने के कारण पर-वस्तुओं में मोहित हो गया है, उनका ही अनुभव करता है। अपने और पर का भेद इसे नहीं दिखलाई पड़ता। यह स्व-पर को एक मानकर परभावों में इतना तन्मय हो रहा है कि उन से भिन्न अपने आप को नही जानता है। अनादि काल से जीव की यही विपरीत प्रवृत्ति बनी हुई है। अतएव पर से मेरे में कुछ हो और मैं पर मे कुछ कर दूँ–ऐसी स्व-पर की कर्तृत्व बुद्धि सदा इसके बनी रहती है। इस विपरीत श्रद्धान का नाम मिथ्यात्व है। मूल में भूल हो जाने से जीव ने स्वयं ऐसी विपरीत मान्यता बना ली है। एक-एक समय बिताता हुआ अनादि काल से यह मिथ्या भाव रूप परिणमता आया है, किसी दूसरे ने इसे मिथ्यात्व नहीं कराया। जो ऐसा मानता है कि मिथ्यात्वकर्म ने जीव में मिथ्यात्व कराया, वह पर को जीव के भाव का कर्ता मानता हुआ स्व-पर की कर्तृत्व बुद्धि का ही परिचय देता है। यह कर्तृत्व बुद्धि ही हमें अपने आप को नही देखने देती है। वास्तव में कर्म का उदय तो बाह्य निमित्त मात्र है।

---

१. इस भव के सब दुःखनि के, कारण मिथ्याभाव।
तिनि की सत्ता नाश करि, प्रगटै मोक्ष उपाव ।। मोक्षमार्गप्रकाशक, अ. ४

विपरीत मान्यता के चार प्रमुख बिन्दु हैं। हमारी बुद्धि में इस प्रकार की बद्धमूल धारणा होने के कारण हम ऐसा मानते हैं। निम्नलिखित बातों पर ही हमारा मिथ्यात्व आधारित है:—

१. स्व-पर की एकत्व बुद्धि अर्थात् पर को अपने स्वभाव से भिन्न नहीं समझना, दोनों को एक मानना।

२. अहंबुद्धि या पर-स्वामित्व की बुद्धि अर्थात् अपने आपको संसार की वस्तुओं का मालिक मानना।

३. पर में कर्तृत्व बुद्धि अर्थात् अपने आप को संसार की वस्तुओं को बनाने वाला मानना।

४. पर के भोक्तृत्वभाव की बुद्धि अर्थात् पर-वस्तुओं को भोगने वाला मैं हूँ—ऐसा मानना।

प्रथम यह मान्यता विपरीत ही है कि जो मेरा स्वभाव नहीं है, उसे मैं अपना मान कर उसी में मुग्ध हो रहा हूँ और सदा उसे अपना ही बना कर रखना चाहता हूँ। संसार की यह सारी भौतिक प्रगति की भाग-दौड़ इस एकत्व बुद्धि से हो रही है। ऐसी मान्यता बन गई है कि भौतिक उन्नति से ही हमारी उन्नति है, वैभव की वृद्धि में ही हमारी समृद्धि है। इसलिये यदि हमने यह विस्तार नहीं किया, तो हमारा अभ्युदय नहीं हो सकेगा। देश, समाज के वैभव की उन्नति की दृष्टि से ये बातें ठीक हो सकती हैं, किन्तु आत्म-विकास के प्रकाश में इनका कोई मूल्य नहीं है। क्योंकि मनुष्य कोई भी हो, वह अपना विस्तार नहीं करता; बल्कि अपने अहं का ही प्रसार करता है। मैंने यह कर दिखाया है, मै इससे भी आगे यह कर दूँगा, मेरे बिना यह हो नहीं सकता, सभी मुझे मान गये—इस तरह के ये सभी भाव विपरीत मान्यता को प्रदर्शित करने वाले हैं, क्योंकि इनके मूल में अहंबुद्धि का विस्तार परिलक्षित होता है। जब हमने यह सिद्धान्त समझ लिया है कि संसार के प्रत्येक द्रव्य का स्वतन्त्र अस्तित्व है, कोई किसी का न बिगाड़ने वाला है और न बनाने वाला है; चाहे ईश्वर हो या देवी-देवता। कोई किसी भी जीव का कोई भला-बुरा नहीं कर सकता, तो फिर मनुष्य किसी का क्या बना-बिगाड़

सकता है ? किन्तु हमारे मन की तह में यह बात ऐसी घर बना कर बैठी है कि बिना ईश्वर की मर्जी के पत्ता तक नहीं हिलता। परन्तु जब स्वयं भगवान पर आपदा आती है, तो उस समय पता नहीं अन्य देवी-देवता कहाँ छिप कर बैठ जाते हैं ? क्योंकि महापुरुष रामचन्द्रजी चौदह वर्षों तक वन-उपवन में भटकते रहे, सीताजी को एक ही बार नहीं, दो-दो बार दारुण वियोग सहना पड़ा और पाण्डवों को भी अज्ञातवास-काल में किन-किन मुसीबतों को नहीं झेलना पड़ा ? जब महापुरुषों को भी पूर्वकृत कर्मों का भोग भोगना पड़ा, तो हम और आप उन से कैसे बच सकते हैं ? तथापि यह भी विचारणीय है कि जिस प्रकार ईश्वर हमारे भाग्य का विधाता नहीं है, उसी प्रकार कर्म भी हमारा बनाने-बिगाड़ने वाले नहीं हैं। क्योंकि कर्मों का बनाने वाला कौन है ? जो कर्म आज भाग्य बन कर आते हैं, उन को भी हमने ही बनाया था। और बनाया क्या था ? . . . अपनी बुद्धि से उन से संयोग स्थापित कर उन्हें अपना मान बैठे हैं। संसार का कोई भी पदार्थ वस्तुतः मेरा नहीं है। मैं तो केवल जो हूँ, वही हूँ, जिससे मेरा अस्तित्व है। एक अणु मात्र भी मेरा नहीं है। संसार का कोई भी पदार्थ किसी दूसरे पदार्थ के साथ मिल कर कभी अपना गुण या स्वभाव नहीं बदलता है। चेतन के साथ जड़ के रहने पर कभी भी अणु मात्र जड़ से चेतन नहीं हो सकता और चेतन अणु मात्र जड़ को भी कभी चेतन नहीं बना सकता। जब कोई पदार्थ किसी पदार्थ को बना नहीं सकता, मिटा नहीं सकता, तो ईश्वर कैसे हमारे सुख-दुःख को बना सकता है; मुझ चेतन को बना सकता है ? यदि ईश्वर चेतन को बनाने वाला हो, तो वह चेतन को जड़ बना दे और जड़ को चेतन बना दे। किन्तु ऐसा करने पर सृष्टि में अव्यवस्था फैल जायेगी, किसी पदार्थ का कोई नियत स्वरूप न रह जायेगा। जिस प्रकार ईश्वर जीव का कर्ता-धर्ता नहीं है, वैसे ही कर्म भी कर्ता-धर्ता नहीं है। यह सच है कि अच्छे-बुरे कर्मो के परिणाम के अनुसार हमें यह शरीर, बुद्धि, आदि प्राप्त होते है; किन्तु वे निमित्त मात्र हैं। यदि हम कर्म को ही कर्ता मान लें, तो फिर ईश्वर नामधारी ने क्या बिगाड़ा है ? उसे ही हमें कर्ता-धर्ता मान लेना चाहिए। कहने का भाव यह है कि यदि हमारा कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, तो ईश्वर या कर्मों के हम दास, गुलाम हैं। वे चाहे जैसा

हमें परिणमावें, सुख-दुःख दें और हम दीनता भरे वचन रटते-रटते करोड़ों भवों तक जन्म-मरण करते रहें, फिर भी, रहेंगे हम मालिक के ही चाकर। धर्म के नाम पर ऐसी मान्यता आप को रुचती हो, तो मानिए। वास्तव में यह धर्म और उसके सिद्धान्तों के विपरीत है। क्योंकि या तो यह मानिए कि संसार का कोई द्रव्य स्वतन्त्र नहीं है, सब ईश्वर के तन्त्र के अधीन हैं या फिर सबका अपना-अपना परिणमन स्वतन्त्र है, ईश्वर कर्ता-धर्ता नहीं है। ईश्वर को कर्ता-धर्ता मानने पर कई प्रकार की आपत्तियाँ खड़ी हो जाती हैं। प्रथम तो यह कि यदि ईश्वर ने सब को रचा है, तो संसार के सब प्राणी रूप-रंग, वाणी-बोली, धर्म-सम्प्रदाय, वर्ण-जाति आदि के भेद से असमान क्यों है ? सब को समान होना चाहिए था। इसी प्रकार कहीं की जमीन उपजाऊ और कहीं की बंजर क्यों है ? कोई स्त्री बाँझ और कोई सन्तानबहुला क्यों है ? कहीं पानी अधिक और कहीं रेगिस्तान क्यों है ? वास्तव में इन में से कुछ भी ईश्वर की करामात नहीं है। जो कुछ होता है, स्वतः होता है। लोक में हम स्वयं अहंकारी न बन जायें, भ्रम से अपने को कर्ता-धर्ता न मानने लगे, इसलिए कार्य के निष्पन्न हो जाने पर बड़े-बूढ़ों तथा श्रद्धेयों को उसका श्रेय देते हैं और कहते हैं कि आपकी कृपा से ऐसा हुआ। वास्तव में वह प्रत्येक द्रव्य के परिणमन से निष्पन्न अपना-अपना किया हुआ कार्य होता है। केवल विनम्रता का ही प्रदर्शन किया जाता है; इसमें असत्य कुछ भी नहीं है। अतएव ईश्वर को या कर्म को कर्ता-धर्ता मानना विपरीत श्रद्धान या मिथ्यात्व है।

यदि कोई किसी का बनाने वाला नहीं, बिगाड़ने वाला नहीं है, तो संसार की तमाम वस्तुएं बनती, बिगड़ती क्यों दिखलाई पड़ती है ? वस्तुतः संसार के सभी पदार्थ अनादिनिधन हैं। ये सदा से हैं और हमेशा तक रहेंगे। यथार्थ में इनका विनाश हो नहीं सकता। हमें जो कुछ बिगड़ता नजर आता है, वह सब इनका बाहरी रूप है, भीतर में ये नित्य हैं। वस्तु रूप में वस्तु का कभी नाश नहीं होता। केवल रूपों के बदलते रहने से हम उसे नाशवान समझते हैं; जैसे जीव की चैतन्य-शक्ति अजर-अमर है, वैसे ही जड़ पदार्थ भी अजर अमर हैं; जैसे जीव में क्रियावती शक्ति है, वैसे इन में भी क्रियावती शक्ति पाई जाती है। जो अनादिनिधन है, वह स्वयंसिद्ध है, इसलिये उसका कोई कर्ता नहीं हो सकता। दूसरे शब्दों में

यह सृष्टि स्वयंसिद्ध है, इसका कोई निर्माणकर्ता नहीं है । तरह-तरह की हवाओं, गैसों, पानी, मिट्टी आदि से यह प्रकृत रूप में निर्मित है। इसे जान-बूझ कर किसी ने नहीं बनाया । प्रकृति स्वयं निर्मित है । अपने से है और अपने से ही रहेगी। भले ही हमें कितने ही बदलते रूपों में प्रकृति क्यों न दिखलाई पड़े, किन्तु इसका कभी अभाव नहीं होगा। इस में जो भी परिवर्तन होते हैं, साधारण रूप से वे स्वाभाविक होते हैं, सहज होते हैं। आज भी हम देखते हैं कि जहाँ मैदान में कुछ नहीं था, वहाँ कुछ समय बाद रेती-धूल का टीला खड़ा हो जाता है। इसी प्रकार भूकम्प आने पर बड़ी-बड़ी इमारतें धराशायी हो कर खण्डहर मैदान बन जाते हैं। तरह-तरह के ज्वालामुखी-विस्फोट हो जाते है, पर्वत झरने बन जाते हैं और झरने पहाड़ी बन जाते हैं। प्रकृति के इन विभिन्न रुपों में होने वाले परिवर्तनों का विचार तथा विश्लेषण वैज्ञानिक लोग कारण-कार्य के आधार पर करते हैं, किन्तु इन सब में घटित होने वाला व्यापार स्वभावतः प्रत्यक्ष दिखलाई पड़ता है । अतः यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि प्रकृति के सभी कार्य-कलाप प्रकृत्या ही होते हैं। सभी अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार गतिमान हैं।

प्रश्न यह है कि यदि ईश्वर प्राणी को कर्म का फल नहीं देता है, तो इसे फल मिलता कैसे है ?आचार्य अमृतचन्द्र समझाते हुए कहते हैं–संसार का प्रत्येक प्राणी अपने-अपने कर्म के उदय के अनुसार जीवन-मरण, सुख-दुःख प्राप्त करता है। यह सनातन नियम है कि जैसे प्राणी ने पहले पुण्य-पाप के कर्म किए हैं, उनके अनुसार ही फल मिलता है जो सदा नियत है । इसलिये कोई पुरुष किसी दूसरे प्राणी के जीवन-मरण, सुख-दुःख को करता है--यह मानना अज्ञान है[1] ।" अतः कर्म न तो जीव को रच सकता है और न जीव किसी कर्म को रच सकता है । इसलिये यह भी कहना उचित नहीं है कि आज के वैज्ञानिक टेस्ट-ट्यूब में मनुष्य पैदा कर देते हैं। प्राणियों की श्वासोच्छ्वास की प्रक्रिया तथा शरीर-रचना की संघटना वैज्ञानिक कर सकते हैं, किन्तु जड़ वस्तुओं से चैतन्य आत्मा को उत्पन्न नहीं कर सकते । यह लोक ठसाठस जीवाणुओं से भरा हुआ है । वे सतत सक्रिय रहते हैं। सभी द्रव्यों में स्वतन्त्र रूप से परिणमन होता रहता है; किन्तु अज्ञानी जीव

---

१. समयसारकलश, श्लोक १६८

इससे अनभिज्ञ रहता है। इसलिये वह जीव की उत्पत्ति में बाहरी कारणों को ही मानता है। अपने ज्ञानस्वरुप को नहीं जानने वाला अज्ञानी जीव अज्ञान के कारण जगतमें सर्वत्र एकत्व बुद्धि करता है। एक रजकण को भी जिसने अपना कर्ता माना, उसे जगत के सर्व पदार्थों की कर्तृत्व बुद्धि ही है। राग के एक शुभअंश से जिसने अपना लाभ माना, उसने सर्व राग को आत्मा का स्वरूप माना। इसका अर्थ यह है कि राग से भिन्न ज्ञानस्वरुप आत्मा का उसने अनुभव नही किया। पर से भिन्न आत्मा का अनुभव करे, वह पर से कर्तृत्व कैसे मान सकता है ? वह पर में आत्मबुद्धि कैसे कर सकता है ?

विपरीत श्रद्धान से हानि

कोई यह कहे कि हमें जो कुछ अच्छा लगता है, उसे मानते हैं; आप बार-बार आत्मा को मानने की बात क्यों करते हैं ? इस को नहीं मानने से हमारा क्या बिगड़ता है ? आचार्य कहते हैं कि हे आत्मन् ! तू अपने स्वभाव का मालिक है; पर का नहीं। अपने मालिक बनने में तेरा कोई बिगाड़ नहीं है, किन्तु पर द्रव्यों का स्वामी बनने के कारण यह संसार परिभ्रमण रूप विषयों का दण्ड भोग रहा है। अपने मालिक बने रहने पर तुझे कोई दण्ड देने मे समर्थ नहीं है। तूने यह पर की ओर दृष्टि उठा रक्खी है, यही अपराध है। इस अपराध से प्रत्येक समय मे भावमरण होता है। इस शरीर से वियुक्त हो जाने पर तो एक बार मरण कहलाता है, किन्तु तीव्र मोह द्वारा जो तू यह चाहता है कि मेरी इच्छा के अनुकूल यह परिणम जावे, सब मेरी बात मानें, जैसा मै चाहूँ, वैसा होवे। यह मेरी स्त्री मेरे मन माफिक नही चलती है, ये बेटी, बेटे मेरे कहे अनुसार नही चलते है और मेरे निकट के लोग मेरी बात नहीं मानत है, तू उनको अपने अनुसार चलाना चाहता है; किन्तु वे अपनी प्रवृत्ति के अनुसार चलते है, अतः तुझे बड़ा दुःख होता है। राग-द्वेष, मोह आदि अशुद्धता मे तेरे चेतन प्राणों का घात होता है, यह आत्मघात ही भावहिसा तथा भावमरण है[1]।

---

१. आत्मपरिणाम हिंसनहेतुत्वातसर्वमेव हिंसैतत्।
अनृतवचनादिकेवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय ।। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लो. ४२

संसार क्यों ?

संयोग दशा का नाम संसार है। संयोगी दशा के कारण ही संसार में परिभ्रमण है। इस दशा में हमें पहुँचाने वाला कोई दूसरा नहीं है। हम स्वयं राग-द्वेष की प्रवृत्ति करके इस संसार की सृष्टि करते हैं। यथार्थ में राग-द्वेष, मोह की परिणति ही संसार है। मोह या अज्ञान से ही जीव राग-द्वेष आदि परभावरूप परिणमन करता है। किन्तु सच्ची समझ न होने के कारण विभाव भावों को अपना स्वभाव मानता है। अनादिकाल से जीव के साथ विकारी भावों का सम्बन्ध है। ये विकारी या विभाव भाव जीव के साथ सदा प्रवाह रूप से संगति करते चले आ रहे हैं। रागादि भाव अनादि अनन्त नहीं है। ये समय-समय में उत्पन्न होते है और समय-समय में नष्ट हो जाते है, किन्तु इनकी मूल सन्तति विनष्ट नहीं होती। शुद्ध जीव के स्वभाव में ये रागादि भाव नही पाए जाते; किन्तु जीव की अशुद्ध दशा में रागादि भाव लक्षित होते है। जीव की अशुद्ध दशा इसीलिये है कि इसने राग-द्वेष मूलक भावो का सग किया है। यह स्वयं रागादि भावों का संग करता है और उस संगति का फल यह संसार प्राप्त करता है। इसका ज्ञान न होने से रागादि भावो को या तो स्वय जीव के मानता है अथवा जीव और कर्म-प्रकृति इन दोनों से उत्पन्न संयोगज मानता है; परन्तु रागादि भाव कोई द्रव्य नहीं हैं। वे तो कर्मवर्गणाओं से निष्पन्न द्रव्यकर्म की पर्यायें है। द्रव्यकर्म पौद्गलिक है। पुद्गल कर्म और जीव ये दो द्रव्य मिलकर एक पर्याय कैसे उत्पन्न कर सकते है ? फिर, संयोगी दशा होने के कारण चेतन और अचेतन दोनों का मिला-जुला कार्य मान लिया जाए, तो उस कार्य-व्यापार का फल भोगने वाले भी जीव और कर्म दोनों होने चाहिए; जबकि ऐसा होता नहीं है। इससे यही सिद्ध होता है कि रागादि भाव शुद्ध आत्मा के नही होते। रागादि भाव पुद्गल के निमित्तज विकार हैं। इन से भिन्न जीव शुद्ध चैतन्य धातु की मूर्ति है। इन दोनों को एक मानना ही अज्ञान है।

संसार का मूल कारण मिथ्यादर्शन है। मूल की महान् भूल ही मिथ्यादर्शन है। ज्ञानी अपनी इस भूल को स्वीकार करके एक समयवर्ती पर्याय में उत्पन्न होने वाली क्षणिक रागादि पर्याय को अशुद्ध निश्चय

से अपना जानता हुआ भी निज स्वभाव से अभिन्न तथा उसके अधीन होने की मान्यता नहीं रखता। तथा ऐसी मान्यता होने से वह उनको करने की तथा भोगने की श्रद्धा नहीं करता; क्योंकि रागादि पुद्गल कर्म निमित्तज होने से पर के अधीन है। जहाँ रागादि की अधीनता है, वहाँ दु:ख है। यही दु:ख पुनः रागादि की उत्पत्ति का मूल कारण कहा गया है। इसके विरुद्ध संसार से छूटने का मुख्य कारण है—निराकुलता। आकुलता के अभाव में ही वीतरागता की उत्पत्ति होती है। संसार-दशा में यह जीव सदा आकुल-व्याकुल रहता है। आचार्यकल्प पं० टोडरमलजी के शब्दोंमें : "तथा इस जीव को मोह के उदय से मिथ्यात्व-कषायादि भाव होते है, उनको अपना स्वभाव मानता है, कर्मोपाधि से हुए नहीं जानता। दर्शन-ज्ञान उपयोग और ये आस्रवभाव उनको एक मानता है; क्योंकि इनका आधारभूत तो एक आत्मा है और इनका परिणमन एक ही काल मे होता है, इसलिये इसे भिन्नपना भासित नही होता और भिन्नपना भासित होने का कारण जो विचार है सो मिथ्यादर्शन के बल से हो नहीं सकता। तथा ये मिथ्यात्व-कषायभाव आकुलता सहित हैं, इसलिये वर्तमान दु:खमय है और कर्मबन्ध के कारण हैं, इसलिये आगामी काल मे दु:ख उत्पन्न करेंगे—ऐसा उन्हें नही मानता और भला जानकर इन भावों रूप होकर स्वयं प्रवर्तता है[1]।" यही संसार का कारण है।

भूल कहाँ है ?

अनादि काल से तीनों लोकों में परिभ्रमण करता हुआ यह जीव अपने स्वरूप से अपरिचित रहा है। यह जानता हुआ भी कि मैं जिन-जिन वस्तुओं के सम्पर्क में रहा हूँ, जिन को अपनाता रहा हूँ और जिन को आज भी अपना मानता हूं, वास्तव में उनका वियोग होगा वे हमारी न होंगी; पर उन से मोह बुद्धि हटती नहीं है। मोह के कारण ही हमने सारे संसार को अपना मान लिया है और अपने भावों में उस को बुन लिया है, जितना हमारा संसार है, उतने ही हम हैं। इस भ्रम के कारण ही हम संसार को अपने से भिन्न नही समझते, भिन्न नहीं मानते। और यही मकारण है कि हमारी दृष्टि सदा संसार की ओर रहती है। किन्तु हम संसार का कितना निर्माण कर सके हैं और कर रहे हैं; यह चिन्त्य अवश्य है।

---

१. मोक्षमार्ग प्रकाशक, चौथा अधिकार, पृ० ८२

वास्तव में जीव की सबसे बड़ी भूल यही है कि यह अपने में नहीं रहता। जो अपने ही कक्ष में गुप्त रहे, तो विश्व की विभिन्न वस्तुओं से उसका सम्पर्क ही क्यों हो? किन्तु जो घर से बाहर ही रहने का अभ्यस्त हो, वह अनेक प्राणियों के सम्पर्क में संयोग-सम्बन्ध स्थापित कर उन्हें अपना मान कर चलता है। लोक में ऐसा ही देखा जाता है कि एक-दूसरे के निमित्त से तरह-तरह के कार्य सम्पन्न होते हैं, क्योंकि उन सभी में पर के आश्रित दृष्टि होती है और पर-संयोग की दशा में वे सभी कार्य निष्पन्न होते हैं। किन्तु परमार्थ ऐसा नहीं है; परमार्थ में पदार्थ की अपनी सहज योग्यता ही कार्यकारी होती है। अतएव जीव अपने आत्म-स्वभाव में गुप्त हो जाए, तो फिर उसके संयोगजन्य संसार की दशा अपघटित नहीं हो सकती। व्यवहार से भी यह जीव पर का कर्ता नहीं है, किन्तु अपने योग-उपयोग को ही करने वाला है। अतएव यथार्थ ज्ञान न होने के कारण हम अपने स्वभाव से हट कर परभावों में चले जाते हैं—यही जीव की महान् भूल है। और इस भूल का ही यह दण्ड है कि पर-वस्तुओं में आज भी भ्रम बना हुआ है—जो हमारी नही है, उन्हें हम अपनी (चैतन्य की) मान रहे हैं। किन्तु अपन: इस भूल को समझ कर जो केवल आत्मोन्मुखी हो कर अपने स्वरूप में स्थिरता प्राप्त कर लेते हैं, वे फिर संसार-भ्रमण का दण्ड नहीं भोगते हैं। आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं: जो सम्यग्दृष्टि वीतरागी पुरुष विकल्पों की चर्चा छोड़ कर सतत अपने ही स्वरूप में निवास करते हैं, निर्विकल्परूप शान्त चित्त वाले वे ही साक्षात् अमृत का पान करते हैं[1]। ऐसे ही प्राणी अपने ज्ञानानन्द स्वरूप का भोग करने वाले होते हैं। वस्तुत: जो अपने चैतन्य द्रव्य में है, उसी के हम कर्ता-धर्ता-स्वामी तथा भोक्ता हो सकते हैं; अन्य किसी वस्तु के नहीं। परन्तु हम अपने से भिन्न को ही अपना कर्ता-धर्ता, स्वामी मानते आए हैं और स्वयं को पर का कर्ता-धर्ता-स्वामी एवं भोक्ता मानते हैं—यही मूल में भूल है।

---

१. य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं स्वरूपगुप्ता निवसन्ति नित्यम्।
विकल्पजालच्युतशान्तचित्तास्त एव साक्षादमृतं पिबन्ति ॥
समयसारकलश, श्लोक ६९

पुण्य और पाप

आगम में जीव को सामान्य अर्थ वाचक 'भाव' शब्द से समझाया गया है। भाव दो प्रकार के कहे गए हैं—स्वभाव और परभाव। स्वभाव सामान्य किंवा सहज है और परभाव विशिष्ट किंवा आगन्तुक है। द्रव्य के परिणाम को भाव कहते हैं। धर्म स्वभाव में है, साम्यभाव में है। राग, मोह आदि में धर्मभाव नहीं है। धर्म वीतराग परिणति में है। इसलिये शुभ, अशुभ दोनों प्रकार के परिणाम धर्म की क्रिया से भिन्न हैं। कहा भी है : स्वभाव से शुद्ध आत्मा में शुभ, अशुभ भाव नहीं होते। इसीलिये केवलीभगवान के कभी संसार नहीं होता। वस्तुतः कोई भी द्रव्य न शुभ है और न अशुभ। किन्तु यह जीव रागादिक भावों से शुभ, अशुभ की कल्पना कर अच्छा या बुरा मानता है[1]। शुभ, अशुभ भाव संसार के कारण हैं, क्योंकि ये भाव पराश्रय से होते हैं। पराश्रित होना ही संयोग है।

पुण्य है क्या ? कर्म की विशिष्ट प्रकृति भी पुण्य कही जाती है। शुभ प्रकृति पुण्यरूप होती है और अशुभ प्रकृति पापरूप। पुण्य और पाप दोनों ही कर्म की विभिन्न श्रेणियों की प्रकृतियाँ हैं। शुभ योग से शुभ प्रकृतियाँ बँधती हैं और अशुभ योग से अशुभ प्रकृतियों का बन्ध होता है। कर्म के उदय में होने वाले तथा शारीरिक एवं मानसिक सुखसाता रूप सामग्री का आश्रय लेने वाले शुभ भाव को सच्चा सुख या श्रेयस्कर नहीं कहा जा सकता; क्योंकि वह इन्द्रियजन्य है, दुःख का ही कारण है। आचार्य कुन्दकुन्द का कथन है : मनुष्य, नारकी, तिर्यंच और देव इन चारों ही गति के जीव शरीर से उत्पन्न होने वाले दुःख भोगते हैं। इसलिये जीवों का वह उपयोग शुभ अथवा अशुभ कैसे हो सकता है[2] ? इसका अर्थ यह है कि जो कर्मजन्य है, वह वास्तव में सुख का कारण नहीं है। किन्तु संसारी जीव संसार के सुख के अनुभव में निमित्त होने से शुभ को पुण्य और दुःखानुभव में निमित्त होने से अशुभ को पाप कहते हैं। इस प्रकार ये दोनों ही कर्म

---

१ जदि सो सुहो व असुहो ण हवदि आदा सयं सहावेण।
संसारो वि ण विज्जदि सव्वेसिं जीवकायाणं।। प्रवचनसार, १,४६

२. णरणारयतिरियसुरा भजंति जदि देहसंभवं दुक्खं।
किध सो सुहो व असुहो उवओगो हवदि जीवाणं।। वही, १,७२

के भेद हैं। हेतु, प्रकृति, अनुभव और आश्रय के भेद से पुण्य और पाप में जो भेद कहा जाता है, वह व्यवहार के अनुरूप होने से बताया जाता है। परमार्थ में तो इन युक्तियों से पुण्य और पाप दोनों में ही कर्मों का अभेद सिद्ध होता है । क्योंकि कर्मबन्ध का कारण जीव का विकारी भाव है; चाहे उसे शुभयोग कहो या अशुभयोग। दोनों ही पौद्गलिक प्रकृतियाँ हैं, इसलिये स्वभाव में भी अभेद है। दोनों ही विकारी अनुभव हैं और दोनों से ही संसार में परिभ्रमण होता है, इसलिये बन्धरूप हैं। कहा भी है : हेतु, स्वभाव, अनुभव और आश्रय इन चारों की अपेक्षा पुण्य और पाप दोनों ही कर्मों में अभेद है, क्योंकि दोनों बन्धमार्ग का आश्रय करने वाले हैं; यही इष्ट है। इसलिये स्वयं बन्ध के कारण हैं[1]। सिद्धान्त भी यही है कि राग-द्वेष भाव करने वाला नियम से बन्ध को प्राप्त होता है। इसलिये उपदेश यह दिया जाता है कि शुभ-अशुभ भावों से बचना चाहिए; क्योंकि ये विभाव भाव हैं जो बन्धन के कारण हैं। इसमें कोई सन्देह नही है कि शुभ भाव से उत्पन्न होने वाला पुण्य भी दुःख का कारण है। यह सच है कि पुण्य के उदय से स्वर्ग के देवादिक पदों की प्राप्ति होती है, किन्तु आचार्यों ने उन पदो को भी दुःख का कारण कहा है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं : यद्यपि शुभयोग रूप परिणामों से उत्पन्न होने वाले विविध प्रकार के पुण्य विद्यमान रहते हैं, किन्तु वे देवों तक सभी प्रकार के जीवों को विषय तृष्णा ही उत्पन्न करते हैं[2]।

तो क्या पुण्य आराधना करने योग्य नहीं है ? सारा संसार जिसके पीछे भाग रहा है, रात-दिन जिसकी आपा-धापी मची है, वह क्या सर्वथा त्याज्य है ? यह निश्चित है कि पाप से पुण्य में विशेषता है। जिनेन्द्रदेव ने जिनशासन में पूजादिक को तथा व्रतों को पुण्य कहा है और मोह, क्षोभ (राग-द्वेष) से रहित आत्मा के शुद्ध परिणाम को धर्म बताया है[3]। इतना

---

१. हेतु—स्वभावानुभवाश्रयाणां सदाप्यभेदान्नहि कर्मभेदः ।
तद् बन्धमार्गाश्रितमेकमिष्टं स्वयं समस्तं खलु बन्धहेतुः ।।
समयसारकलश, श्लोक १०१

२. जदि संति हि पुण्णाणि य परिणामसमुब्भवाणि विविहाणि ।
जणयंति विसयतण्हं जीवाणं देवदंताणं ।। प्रवचनसार, १,७४

३. पूयादिसु वयसहियं पुण्णं हि जिणेहिं सासणे भणियं ।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो ।।भावपाहुड, गा० ८३

ही नहीं, आचार्य गुणभद्र, ने पुण्य को परम्परा मुक्ति का साधन बताया है। कहा भी है : हे जिनेन्द्र ! आपने जिस पुण्य का उपदेश दिया है, वही ज्ञान आदि के द्वारा निवृत्ति (कषाय-त्याग) का साधन होने से इष्ट है। देवों के सभी सुख देने वाला पुण्य अभीष्ट नहीं है, क्योंकि उससे कर्मबन्ध होता है और जीव विषय-वासनाओं में रम जाता है[1]। फिर, किसी-किसी शास्त्र में यह भी कहा गया है कि पुण्य परम्परा मोक्ष का कारण है। शास्त्रों में समागत इस सम्पूर्ण चर्चा का स्पष्टीकरण यही है कि यथार्थ में निश्चय चारित्र या वीतराग भाव ही साक्षात् मोक्षमार्ग है। पुण्यभाव या व्यवहार चारित्र को जो परम्परा मोक्ष का कारण कहा जाता है, वह भी वहिरंग कारण की अपेक्षा या वाह्य साधन के निमित्त से कहने में आता है। इसी प्रकार यह जो कहा जाता है कि सम्यग्दृष्टि का पुण्य मोक्ष का कारण है, सो भी यथार्थ नहीं है। क्योंकि सम्यग्दृष्टि के पुण्य में सम्यक्त्व का ही माहात्म्य है; पुण्य का नहीं। पं० जयचन्द्रजी छावड़ा के शब्दों में "पूर्व कह्या जिनवचन तें पराङ्मुख मिथ्यात्वसहित जीव तिस तें विपरीत कहिये जिन आज्ञा का श्रद्धानी सम्यग्दृष्टि जीव है सो विशुद्धभाव कूं प्राप्त भया शुभकर्म कूं बांधै है, जातें याके **सम्यक्त्व माहात्म्य करि ऐसे उज्ज्वल भाव हैं** ताकरि मिथ्यात्व की लार बंध होती पाप प्रकृतीनि का अभाव है, कदाचित् किंचित् कोई पाप प्रकृति बंधे है तिनिका अनुभाग मन्द होय है, कछु तीव्र पाप फल का दाता नांही तातें सम्यग्दृष्टि शुभकर्म का ही बांधने वाला है। ऐसे शुभ-अशुभ कर्म के बन्ध का संक्षेप करि विधान सर्वज्ञदेव ने कह्या है सो जानना[2]।"

यथार्थ में पुण्य और पाप दोनों ही भोग है। भोग का अर्थ पंचेन्द्रिय विषयों के भोगोपभोग न होकर कर्मदण्ड का फल या रस-परिपाक है। आचार्य अमृतचन्द्र स्पष्ट रूप से कहते हैं कि समस्त सुकृत (शुभकर्म)

---

१. पुण्यं त्वया जिन विनेयविधेयमिष्टं गत्यादिभिः परमनिर्वृत्तिसाधनत्वात्।
नैवामराखिलसुखं प्रति तच्च यस्माद् बन्धप्रदं विषयनिष्ठमभीष्टघाति ॥

उत्तरपुराण, ७६,५५३

२. भावपाहुड, गाथा ११८ की भाषावचनिका।

भोगियों के भोग का मूल है[1]। कर्मोदयजन्य होने के कारण इनकी जाति समान कही गई है। आचार्यकल्प पं० टोडरमलजी के शब्दों में : "इन पुण्य-पाप की एक जाति है; तथापि मिथ्यादर्शन से पुण्य को भला जानता है, पाप को बुरा जानता है। पुण्य से अपनी इच्छानुसार किंचित् कार्य बने, उसको भला जानता है और पाप से इच्छानुसार कार्य नहीं बने, उसको बुरा जानता है; परन्तु दोनों ही आकुलता के कारण हैं इसलिये बुरे ही हैं। तथा यह अपनी मान्यता से वहाँ सुख-दुःख मानता है। परमार्थ से जहाँ आकुलता है वहाँ दुःख ही है; इसलिये पुण्य-पाप के उदय को भला-बुरा जानना भ्रम ही है। तथा कितने ही जीव कदाचित् पुण्य-पाप के कारण जो शुभ-अशुभ भाव उन्हें भला-बुरा जानते हैं वह भी भ्रम ही है; क्योंकि दोनों ही कर्मबन्धन के कारण हैं[2]।" इस प्रकार पण्य-पाप की विशेषता और समानता को समझ कर जो इन को हेय नही मानता है, वह स्पष्ट रूप से मिथ्यादृष्टि है; क्योंकि इनका यथाथ ज्ञान होने पर ही श्रद्धान यथार्थ होता है।

यदि ऐसी मान्यता वनायी जाय कि पुण्य धर्म का साधन है, तो फिर यह भी मानना पड़ेगा कि पाप भी धर्म का वाहरी साधन है। क्योंकि जिस प्रकार पुण्य करते-करते धर्म हो जाएगा, वैसे ही पाप करते-करते पुण्य हो जाएगा। परमार्थ में तो यह निश्चित ही है कि तीनों कालों में कभी भी पुण्य से धर्म नही हो सकता। व्यवहार में भी यह नियम से नहीं कहा जा सकता है कि शुभ भाव से पुण्य ही होता है। क्योंकि शुभ भाव कथंचित् पापबंध का भी कारण है। आचार्य अकलंकदेव कहते हैं[3] : घातिकर्मों का बन्ध भी शुभ परिणामो से होता है। शुभ पुण्य का ही कारण है—ऐसा

---

१. सुकृतमपि समस्तं भोगिनां भोगमूलं
त्यजतु परमतत्त्वाभ्यासनिष्णातचित्तः।
उभयसमयसारं सारतत्त्वस्वरूपं
भजतु भवविमुक्त्यै कोऽत्र दोषो मुनीशः ॥ नियमसारकलश, श्लोक ५९

२. मोक्षमार्गप्रकाशक, चौथा अधिकार, पृ० ८४

३. "शुभः पुण्यस्यैवेति । कथं तर्हि ? शुभ एव पुण्यस्येति ।
तेन शुभः पापस्यापि हेतुरित्यविरोधः ।"

—तत्त्वार्थवार्तिक, ६,३,२५, पृ० ५०७

अवधारण नहीं करते हैं; किन्तु शुभ ही पुण्य का कारण है—यह अवधारण किया गया है। इससे शुभ परिणाम पाप के भी हेतु हो सकते हैं, इसमें कोई विरोध नहीं है।

वास्तव में पुण्य अनुपादेय क्यों है ? इसके कई कारण हैं जो निम्न-लिखित हैं—

(१) पुण्य-पाप की जाति एक है। दोनों संसार के कारण हैं।

(२) पुण्य को इष्ट मानते रहने से मिथ्यात्व कभी छूट नहीं सकता, उल्टे मिथ्यात्व का ही पोषण होता रहता है।

(३) पुण्य को इष्ट मानने का अर्थ है—सांसारिक विषयों तथा वैभव की अभिलाषा होना। क्योंकि पुण्य से हम लौकिक सुखों की चाहना करते हैं। पुण्य से या तो संसार के वैभव प्राप्त होते हैं अथवा स्वर्गादिक सुख।

(४) यद्यपि पुण्य शुभ भावों से उत्पन्न होता है, किन्तु पुण्य स्वतः शुभ नहीं है। क्योंकि जो संसार का कारण है, वह मोक्षमार्ग में शुभ नहीं माना जा सकता है।

(५) केवल अज्ञानी जन ही पुण्य को उपादेय मानते है। पुण्य को उपादेय मानने का अर्थ है कि लोग अशुभ कर्म को ही बन्ध का कारण मानते हैं, किन्तु अज्ञानता के कारण शुभ कर्म को बन्ध का कारण नहीं मानते।

(६) अज्ञानरूप परिणमन के साथ किए जाने वाले व्रत, नियम, शील, तप आदि शुभ भावमयी शुभकर्म जिनशासन में कही भी मोक्ष के कारण नहीं कहे गए हैं।

(७) ज्ञानी पुण्य को हेय समझ कर पुण्य का तिरस्कार करता है। ज्ञानी पुण्य को भी परिग्रह समझता है। ज्ञानी स्वयं परिग्रह से रहित होने के कारण पुण्य को नहीं चाहता। सम्यग्दृष्टि जीव भी विषय-सुख की अभिलाषा से रहित होने के कारण पुण्य और पाप दोनों को हेय समझता है।

(८) पुण्य से जिस वैभव की प्राप्ति होती है, उसे भोगोपभोग का साधन मान कर यह संसारी जीव उसे विषय-भोगों में गँवा देता है। इस तरह पुण्य से पाप का ही अनुबन्ध होता है।

(९) मिथ्यात्व से युक्त पुण्य अत्यन्त अनिष्टकारक कहा गया है। ऐसे पुण्य से प्राप्त भोग पाप के ही मित्र हैं।

(१०) जिनवाणी में एक स्वर से पुण्य की अभिलाषा का निषेध किया गया है। स्वामी कार्तिकेय कहते हैं : जो पुण्य को चाहता है, वह संसार को चाहता है। पुण्य से अच्छी गति मिल सकती है; किन्तु निर्वाण पुण्य के क्षय होने पर ही प्राप्त होता है[1]।"

संक्षेप में, पुण्य औदयिक है। जो कर्म की उदयजनित अवस्था है, वह ज्ञानी के लिए कदापि ग्राह्य नहीं है। जो आत्मा के सन्मुख हैं, शुद्धोपयोग की भावना भाते हैं, ज्ञान में वर्तन करना जिन्हें इष्ट है, वे पुण्य को हेय ही समझते हैं। इसी प्रकार जो अपनी मान्यता ठीक बनाना चाहते हैं, उनकी दृष्टि में भी पुण्य सर्वथा हेय है। इस मान्यता के बिना सच्चा श्रद्धान नहीं हो सकता। तभी तो आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं : जो परमार्थ से बाहर हैं, वे मोक्ष का कारण न जानते हुए अज्ञान से संसार-गमन के कारण पुण्य को चाहते हैं[2]।

आचार्यों का यह भी कथन है कि पुण्य से मद, अहंकार उत्पन्न होता है। अहंकार से मति मोहित हो जाती है। इसलिये पुण्य की कामना नहीं करनी चाहिए[3]। आचार्य योगीन्द्रदेव तो यहां तक कहते हैं : "पाप को पाप तो सभी जानते हैं, किन्तु जो पुण्य को भी पाप कहता है—ऐसा पण्डित कोई विरला ही है[4]।" आचार्य कुन्दकुन्द का कथन स्पष्ट है कि जो व्रत, नियम, शील आदि का पालन करते हैं, किन्तु ज्ञान से शून्य हैं, जिन को निश्चय सम्यक्त्व नहीं हुआ है, वे परमार्थ से बाहर हैं, उन को निर्वाण की

---

१. पुण्णं पि जो समिच्छदि संसारो तेण ईहिदो होदि ।
पुण्णं सुगईहेदुं पुण्णखयेणेव णिव्वाणं ।। कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गा. ४१०

२. परमट्ठबाहिरा जे अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति ।
संसारगमणहेदुं वि मोक्खहेदुं अजाणंता ।। समयसार, गाथा १५४

३. तिलोयपण्णत्ति, ९,५४ तथा—परमात्मात्मप्रकाश, २,६० एवं—पाहुडदोहा, १३८

४. जो पाउ वि सो पाउ मुणि सव्वु को वि मुणेइ ।
जो पुण्णु वि पाउ वि भणइ सो बुह को वि हवेइ ।। योगसार, ७१

प्राप्ति नहीं होती[1]। इसी का भावार्थ स्पष्ट करते हुए पं० जयचन्दजी छावड़ा कहते हैं : "ज्ञान होते ज्ञानी के व्रत, नियम, शील, तपोरूप शुभ कर्म बाह्य न होते भी मोक्ष होय है। यहां ऐसा जानना, जो व्रत आदि की प्रवृत्ति शुभकर्म है, सो प्रवृत्ति का अभाव भये निवृत्ति अवस्था भये व्रत, नियम, शील तप का बाह्य प्रवृत्तिरूप का अभाव है, तोऊ मोक्ष होय है, यह नियम जानना।" इससे स्पष्ट है कि मोक्ष-मार्ग में ज्ञान का विशेष महत्त्व है।

यहाँ सबसे बड़ा प्रश्न यही उत्पन्न होता है कि यदि शुभकर्म मोक्ष की प्राप्ति में बाधक हैं, तो चरणानुयोग में इन शुभ क्रियाओं के परिपालन का उपदेश क्यों दिया गया है ?

इसका उत्तर यह है कि व्यवहारचारित्र निश्चयचारित्र की उपलब्धि के लिए साधन है। जो साधन है, उसका साधक के लिए निषेध नहीं है। किन्तु व्यवहार से साधन के आलम्बन का उपदेश भी दिया जाता है। परन्तु जो चारित्र वास्तव में निश्चयचारित्र का साधक नहीं है, केवल बाहरी क्रियाएँ मात्र हैं; जिनके पालन में काय-क्लेश मात्र अनुभव में आता है, उसका निषेध किया जाता है। मोक्षमार्ग तो सम्यग्दर्शन या स्वानुभूतिस्वरुप आत्म-दर्शन में है। जिन को आज तक आत्म-दर्शन नहीं हुआ, वे भेद-विज्ञान के अभाव में पंच महाव्रतों तथा समितियों का पालन करते हुए भी आगम की दृष्टि से निश्चय सम्यक्त्व से हीन होने के कारण आज भी पापी हैं[2]।

जिन-सिद्धान्त में किसी भी अवस्था में राग को धर्म नहीं माना गया है। धर्म वीतरागता ही है। इसलिये जो रागरूप आचरण करते हैं, उनको भी धर्मात्मा नहीं बताया गया है। धर्म की दृष्टि रखने वाले धर्मात्मा कहे जाते हैं, भले ही वे व्रतरूप आचरण न करते हों; किन्तु महाव्रतों का पालन करने वाले भी यदि शुद्धोपयोग रूप धर्म-दृष्टि से शून्य है, तो आचार्य उन्हें भी धर्मात्मा नहीं कहते। आचार्य समन्तभद्र ने स्पष्ट शब्दो में मोही साधु

---

१. वदणियमाणि धरंता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता।
परमट्ठबाहिरा जे णिव्वाणं ते ण विदंति॥ समयसार, गाथा १५३

२. सम्यग्दृष्टि: स्वयमयमहं जातुबन्धो न मे स्यात्
इत्युन्तानोत्पुलकवदना रागिणोऽप्याचरन्तु।
आलम्बन्तां समितिपरतां ते यतोऽद्यापि पापा:
आत्मानात्मावगमविरहात् सन्ति सम्यक्त्वरिक्ता:॥ समयसार, गाथा १३७

से निर्मोही गृहस्थ को श्रेष्ठ माना है[1] । यथार्थ में शुद्धधर्म की दृष्टि ऐसी ही है । अत: मोक्षमार्ग में शुभ और अशुभ सभी प्रकार के कर्मों का निषेध किया गया है, क्योंकि सभी प्रकार की क्रियाएँ समान रूप से बन्ध की हेतु हैं । क्रिया मात्र से आस्रव कहा गया है। आचार्य अमृतचन्द्र का भी मन्तव्य यही है कि जो मोक्ष को उपादेय मानता है, उसे सभी प्रकार के शुभ,अशुभ कर्म का परित्याग कर देना चाहिए। जहाँ सम्पूर्ण कर्मों के त्याग की बात कही गई हो, वहाँ पुण्य-पाप के भेद की कथा को क्या स्थान है ? कर्म से निर्वृत होने पर अपने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वाभावरूप परिणमन होने पर मुक्ति का हेतु ज्ञान अपने उत्कट निज रूप में स्वयं दौड़ा चला आता है[2] । परमार्थ में केवल ज्ञान ही मुक्ति का कारण कहा गया है ।

व्रत, तप दान-पूजादि को ही धर्म समझने वाले केवल बाहरी क्रियाओं से ही आत्म-कल्याण मानते हैं; किन्तु जहाँ राग भाव है, वहाँ ज्ञानभाव स्थित नहीं रह सकता । अत: लोग अनादि काल से यथाशक्ति साधन अनुसार बाह्य चारित्र का पालन तो करते चले आ रहे हैं, किन्तु आन्तरिक परिणति में शुद्धता नहीं आती । वर्तमान में भी अन्तरंग परिणति में सुधार न होने से आज भी जैसे के तैसे हैं, जैसे कि तीस-चालीस-पचास वर्ष पहले थे ।

वास्तव में मोक्षमार्गी के लिए पुण्य-पाप दोनों ही भाररूप हैं । अन्तर केवल इतना ही है कि पुण्य के बोझे में मेवा भरी हुई है और पाप के बोझे में सीमेन्ट लदी हुई है । दोनों ही बोझे हैं और बोझा ढोने वाले के लिए दोनों ही समान हैं । आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं[3] : "मोक्ष से विमुख जीव

---

१. गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान् ।
अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः ।। रत्नकरण्डश्रावकाचार, १,३३

२. सन्यस्तव्यमिदं समस्तमपि तत्कर्मैव मोक्षार्थिना
संन्यस्ते सति तत्र का किल कथा पुण्यस्य पापस्य वा ।
सम्यक्त्वादिनिजस्वभावभवनान्मोक्षस्य हेतुर्भवन्
नैष्कर्म्यप्रतिबद्धमुद्धतरसं ज्ञानं स्वयं धावति ।। समयसारकलश, श्लोक १०९

३. क्लिश्यन्तां स्वयमेव दुष्करतरैर्मोक्षोन्मुखैः कर्मभिः
क्लिश्यन्तां च परे महाव्रततपोभारेण भग्नाश्चिरम् ।
साक्षान्मोक्ष इदं निरामयपदं संवेद्यमानं स्वयं
ज्ञानं ज्ञानगुणं विना कथमपि प्राप्तुं क्षमन्ते न हि ।। समयसारकलश, श्लोक १४२

शुभ पुण्य कर्मों को मोक्ष का कारण मान कर पाँच महाव्रतों तथा उपवासादि तपस्याओं के भार से भग्न हो कर चिरकाल तक क्लेश उठाते रहते हैं, सो उठायें। इन सब से अज्ञानी जीवों को आत्म-लाभ नहीं है। वस्तुतः स्वयं स्वानुभूति से संवेद्यमान, समस्त क्लेशों से रहित आत्मज्ञान साक्षात् मोक्ष है। मिथ्यादृष्टि जीव आत्मज्ञान के बिना उस स्वानुभव को किसी भी कर्मकाण्ड से किसी भी प्रकार प्राप्त करने में समर्थ नहीं हो सकते।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि पुण्य संसार का कारण है। जो पुण्यको भला कहते है, वे अज्ञानी तथा मिथ्यादृष्टि है। क्योंकि मोक्ष का कारण जो स्वसंवेद्यमान ज्ञान है, उससे बेखबर हैं, उसे तो जानते-मानते नहीं हे; किन्तु पुण्य को मोक्ष का कारण मानते है। वास्तव मे जो संसार का कारण है, वह मोक्ष का कारण कैसे हो सकता है ? आचार्यकल्प पं० टोडरमलजी ने अत्यन्त विशद रूप से इसकी विवेचना की है। उनके ही शब्दों में— "सर्व जीवों के जीवन-मरण, सुख-दुःख अपने कर्म के निमित्त से होते हैं। जहाँ अन्य जीव अन्य जीव के इन कार्यो का कर्ता हो, वही मिथ्याध्यवसाय बन्ध का कारण है। वहाँ अन्य जीवों को जिलाने का अथवा सुखी करने का अध्यवसाय हो वह तो पुण्यबन्ध का कारण है और मारने का अथवा दुःखी करने का अध्यवसाय हो वह पापबन्ध का कारण है। इस प्रकार अहिंसावत् सत्यादिक तो पुण्यबन्ध के कारण है और हिंसावत् असत्यादिक पापबन्ध के कारण है। ये सर्व मिथ्याध्यवसाय है, वे त्याज्य है। इसलिये हिंसादिवत् अहिंसादिक को भी बन्ध का कारण जान कर हेय ही मानना। हिंसा में मारने की बुद्धि हो परन्तु उसकी आयु पूर्ण हुए बिना मरता नहीं है, यह अपनी द्वेषपरिणति से आप ही पाप बांधता है। अहिंसा मे रक्षा करने की बुद्धि हो, परन्तु उसकी आयु अवशेष हुए बिना वह जीता नहीं है, यह अपनी प्रशस्त राग-परिणति से आप ही पुण्य बांधता है। इस प्रकार यह दोनों हेय है; जहाँ वीतराग हो कर द्रष्टा-ज्ञातारूप प्रवर्ते वहाँ निर्बन्ध है सो उपादेय है। सो ऐसी दशा न हो तब तक प्रशस्त रागरूप प्रवर्तन करो, परन्तु श्रद्धान तो ऐसा रखो कि यह भी बन्ध का कारण है—हेय है; श्रद्धान में इसे मोक्षमार्ग जाने तो मिथ्यादृष्टि ही होता है[1]।"

---

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवां अधिकार, पृ० २२६

स्पष्टतः हमारा श्रद्धान ऐसा ही होना चाहिए कि पुण्य-पाप बन्ध के कारण होने से उपादेय नहीं हैं। जब तक हम निर्बन्ध-दशा की भूमिका को उपलब्ध नहीं हो जाते, तब तक यथायोग्य भूमिका के अनुसार पुण्य-कार्यों को करने का निषेध नहीं है। किन्तु पुण्य-कार्यों को मोक्षमार्ग मानने का निषेध किया गया है। साधन साधन ही है; साध्य नहीं। कर्तव्य की भूमिका में तो अशुभ कार्यों से हट कर शुभ कार्यों को करने का उपदेश दिया जाता है। पाप की अपेक्षा पुण्य-कार्य अच्छे ही माने जाते हैं। जहाँ पुण्य को त्याज्य बता कर उसे हेय कहते हैं, वहाँ ऐसा अर्थ कदापि नहीं समझना चाहिए कि पाप में प्रवृति करने अथवा स्वच्छन्द आचरण करने के लिए ऐसा कहा जाता है। क्योंकि जो पुण्य को हेय समझता है,वह पाप को उपादेय कैसे मान सकता है? वास्तव में पुण्य-कार्य परमार्थ की सम्यक् दृष्टि से होने पर ही साधन कहे जाते हैं। परमार्थ की दृष्टि के बिना मोक्ष-मार्ग में इन साधनों का कोई महत्त्व नहीं है।

सम्पूर्ण जिनागम में पुण्य को बन्ध तथा संसार का कारण बताया गया है। जिस प्रकार धन–सम्पति का उपयोग विषय–भोगों में ही अधिकतर होने के कारण उसे बुरा कहा जाता है, वैसे ही पुण्य संसार-सुख का जनक होने से उसे बुरा ही कहा गया है। यद्यपि मुनीश्वर रत्नत्रय के आराधक होते हैं, फिर भी वे सीधे मुक्ति में न जाकर स्वर्गादिक में उत्पन्न होते हैं, देवायु का बन्ध करते हैं। इसलिये क्या यह मानना चाहिये कि रत्नत्रय बन्ध का कारण है? आचार्य अमृतचन्द्र इसका समाधान करते हुए कहते हैं--

"रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र) धर्म निर्वाण का ही कारण है; अन्य स्वर्गादिक का कारण नही है। मुनीश्वरों को जो स्वर्गादिक पुण्य का आस्रव होता है, उस में शुभोपयोग का ही अपराध है[1]।"

इस प्रकार शुभ उपयोग अर्थात् पुण्य लाने वाले शुभ भावों से मुनीश्वरों को भी स्वर्ग में जाना पड़ता है। उनका संसार छूटता नहीं है। यह निश्चित है कि जब तक पुण्य की स्थिति या बन्ध है, तब तक संसार से छुटकारा

---

१. रत्नत्रयमिह हेतुर्निर्वाणस्यैव भवति नान्यस्य।
आस्रवति यत्तु पुण्यं शुभोपयोगोऽयमपराधः ॥ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक २२०

नहीं मिल सकता। तब प्रश्न उत्पन्न होता है कि मुनिवर जो वीतरागता की साधना करते हैं, उस वीतरागता का क्या होता है, उसका भी फल होगा ? आचार्य स्वयं इसका उत्तर देते हैं । वे कहते हैं :

"इस आत्मा के जिस अंश में सम्यग्दर्शन है, उस अंश (पर्याय) से बन्ध नहीं है तथा जिस अंश से राग है, उस अंश से बन्ध होता है। इसी प्रकार इसके जितने अंशों में ज्ञान और चारित्र है, उतने अंशों में बन्ध नहीं है और जितने अंशों में राग है, उतने अंशों में बन्ध है[1] ।"

पण्डितप्रवर टोडरमल जी व्याख्या करते हुए कहते हैं :

"जीव के तीन भेद हैं : बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। इन तीनों में बहिरात्मा तो मिथ्यादृष्टि है क्योंकि उसके सम्यग्दर्शन नहीं है : केवल रागभाव, है तातें सर्वथा बन्ध ही है और परमात्मा भगवान जिनके पूर्ण वीतराग रत्नत्रय हो गया है, उनके रागभाव रंच मात्र भी नहीं है, तातें सर्वथा बन्ध नही है, मोक्ष ही है। और अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टि चौथे गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक है। अतएव इन अन्तरात्मा के जितने अंश में सम्यग्दर्शन हो गया है, उतने अंश मे कर्म का बन्ध नही है, और जितने अंश में रागभाव है, उतने अंश में कर्म का बन्ध है । जैसे चौथे गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी सम्बन्धी रागभाव नहीं है, तो उतना कर्मबन्ध भी नहीं है, बाकी अप्रत्याख्याननि का बन्ध है। पाँचवें गुणस्थान में अप्रत्याख्यान का भी रागभाव नहीं होने से उसका भी बन्ध नहीं है, किन्तु प्रत्याख्यान का बन्ध है। इसी प्रकार आगे-आगे जितने अंश में रागभाव का अभाव है, उतने ही अंश में कर्म का बन्ध नही है तथा जितने अंश में रागभाव है, उतने ही अंश में कर्म का बन्ध है। जितने अंश में जीव के सम्यग्ज्ञान हो गया है, उतने ही अंश में रागभाव नहीं होने से कर्म का बन्ध नहीं है तथा जितने अंश में रागभाव है, उतने ही अंश में कर्म का बन्ध है। इसी प्रकार जितने अंश में सम्यक्चारित्र प्रगट हो गया है, उतने ही अंश में कर्म का बन्ध नहीं तथा जितने अंश में राग-द्वेष भाव है, उतने अंश में कर्म का बन्ध है[2] ।"

---

१. येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ।। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय,२१२, [१३-१४
२. वही, भावार्थ, पृ० ११५-११६

इस प्रकार जैनधर्म में पुरुषार्थ का प्रथम सूत्र यह बताया गया है कि विपरीत श्रद्धान को नष्ट कर अपने वास्तविक स्वरूप की श्रद्धा करें। हम संसार की नाशवान वस्तुओं को जान रहे हैं, पहचान रहे हैं, उनसे अपना सम्बन्ध जोड़ रहे हैं; किन्तु जो अविनाशी, अजर, अमर है और जिसके कारण अपना अस्तित्व है, उसकी ओर से पराङ्‌मुख हैं। यही नहीं, जो मैं नहीं हूँ, उसे भी 'मैं' मान रहा हूँ। स्वभाव से ही मैं भगवान हूँ, इस बात को आज तक नहीं जाना है। यही समझते आ रहे हैं कि जैसा बाहरी निमित्त होता है, वैसा कार्य होता है। जब तक मुक्ति पाने में सहायक कारण नही मिलेगा, तब तक मुक्ति कैसे हो सकती है? किन्तु यह जीव अनगिनत बार भगवान के पास जाकर भी अपने आपको समझे बिना लौट आया और अभी तक वैसा ही बना हुआ है। इसका अर्थ यही है कि हम अपनी भूल को बार-बार दुहराते रहे है, क्योंकि अपनी भूल का पता ही नहीं है। भूल क्या है? यही कि अपने आपका आज तक आलम्बन नहीं लिया, दूसरे-दूसरे साधनों को अपनाते रहे है, जुटाते रहे है, किन्तु अपनी ओर लक्ष्य नही गया। यदि अपने म लक्ष्य दिया होता, तो परावलम्बी बनने की आवश्यकता नहीं पडती और निमिताधीन दृष्टि भी नही बनती। प्रसिद्ध आध्यात्मिक कवि भैया भगवतीदासजी कहते है—

उपादान कहै रे निमित्त ! ऐसे बोल न बोल।
तोको तज निज भजत हे ते ही करें किलोल ।।

इसी प्रकार देव, शास्त्र और गुरु के निमित्त से ही संसार-समुद्र से पार हो सकते है, अन्यथा नही। यदि देव, शास्त्र और गुरु में यह सामर्थ्य है, तो फिर पुरुषार्थ करने की क्या आवश्यकता है और फिर, ईश्वर को भी कर्ता-धर्ता मान लेना चाहिए। उनसे अपना क्या विरोध है? यही ना, संसार में कोई किसी का कर्ता-धर्ता नही है, चाहे वह ईश्वर या परमात्मा हो अथवा कोई भी द्रव्य हो; जो इसे नही मानता है, जिसका इसमें श्रद्धान नहीं है, उसकी मूल में भूल अवश्य है।

निमित और उपादान क्या हैं?

उपग्रह, निमित्त, अपेक्षा, कारण और हेतु ये एकार्थवाचक नाम हैं। निमित्त का सम्बन्ध पर से है; किन्तु उपादान वस्तु की सहज शक्ति का

नाम है। चाहे निमित्त हो या चाहे उपादान; मूल में सत् विद्यमान रहता है। जिस प्रकार सत् को लक्ष्य में लिये बिना व्यवहार धर्म नहीं बनता, उसी प्रकार बिना उपादान के हमारी त्रिकाली ध्रुव शक्तियों की अभिव्यंजना नहीं होती। उपादान के सम्मुख दृष्टि होने पर ही अध्यात्म व मोक्षमार्ग बनता है। उपादान अपनी शक्ति है और परसंयोग निमित्त है जो अनादिकाल से चला आया है[1]। प्रत्येक द्रव्य के अपने-अपने उपादान के अनुसार प्रत्येक समय में कार्य होते समय अन्य द्रव्य की पर्याय उसके बलाधान में स्वयं निमित्त होती है। बल के आधान पर कार्य (अपने परिणमन स्वभाव और स्वतन्त्र व्यक्तित्व के कारण) स्वयं उपादान उत्पन्न करता है, यह निमित्त का कारण नहीं है; किन्तु कार्य उत्पन्न करने के लिए उपादान जो बल का आधान करता है, उसमें अन्य द्रव्य की पर्याय स्वयं निमित्त हो जाती है। उपादान उत्तर कार्य का सजातीय कारण कहा गया है[2]।

"उपादान" शब्द दो शब्दों के संयोग से बना है। 'उप' का अर्थ है—'पास में' और 'आदान' का अर्थ है—ग्रहण करना। इसका अर्थ है—आत्मा से ग्रहण करना। आत्मा केवल अपने स्वभाव को ग्रहण करता है, इसलिये वही उपादान है जो जीव के निकट है। आत्मा से उसका तादात्म्य सम्बन्ध है। वही कार्य को निरूपित (निष्पन्न) करने वाला है और स्वयं के लिए कारण है[3]। आचार्य विद्यानन्दि ने इसी भाव को ध्यान मे रखकर उपादान की परिभाषा इस प्रकार की है—

जो द्रव्य (पर्याय विशिष्ट) तीनों कालों में अपने रूप को छोड़ता हुआ भी नही छोड़ता है और पूर्व रूप से अपूर्व रूप में वर्तन करता है, वह उपादान है[4]। प्रत्येक द्रव्य में नित्य तथा क्षणिक दो प्रकार के अंश होते हैं,

---

१. उपादान निज शक्ति है जिय को मूल स्वभाव।
है निमित परभोग तें बन्यो अनादि बनाव ॥३॥ —भैया भगवतीदास

२. "उपादानमुत्तरस्य कार्यस्य सजातीयं कारणम्।" —न्यायविनिश्चय विवरण, १,१३२

३. "तादात्म्य सम्बन्धावच्छिन्नकार्यतानिरूपितस्वध्वंसत्वसम्बन्धावच्छिन्नकारणताशालित्वं तदिति उपादानकारणत्वम्।" — अष्टसहस्री, मूल, पृ० १९५

४. त्यक्तात्यक्तात्मरूपं यत्पूर्वापूर्वेण वर्तते।
कालत्रयेऽपि तद्द्रव्यमुपादानमिति स्मृतम् ॥१॥ अष्टसहस्री मूल, पृ० २१०

किन्तु वे दोनों ही अंश उस द्रव्य से पृथक् कोई अर्थान्तर रूप नहीं होते। इसलिये आचार्य कहते हैं कि जो अपने स्वरूप को छोड़ता ही है—ऐसा क्षणिक है और जो एकान्त रूप से उसे सर्वथा नहीं छोड़ता है—ऐसा नित्येकान्त स्वरूप है; जैसे कि क्षणिक और शाश्वत[1]। परिणाम तो क्षणिक उपादान है और गुण शाश्वत उपादान है। इसका अर्थ यह है कि त्रिकाली द्रव्य कारण है और पर्याय कार्य है। इसलिये सामान्य विशेषात्मक द्रव्य को उपादान माना जाता है। अव्यवहित पूर्व स्वपर्यायविशिष्ट द्रव्य की उपादान कारण संज्ञा कही गई है। प्रत्येक द्रव्य का स्वभाव ही कारण है और पर्याय कार्य है। इसलिये उपादान शब्द की निरुक्ति ही यह है कि जो अभिन्न रूप से या तन्मयता से पर्याय को धारण करता है अर्थात् पर्याय से तन्मय होता है, उसे उपादान कहते हैं[2]। परमार्थ में कारण और कार्य में कोई भेद नही है। इसलिये पूर्व पर्यायविशिष्ट द्रव्य कारण है और उत्तर पर्याय उसका कार्य है। यही नही, वर्तमान पर्याय की दृष्टि से भी विद्यमान पर्याय मात्र स्वयं ही कारण है और स्वयं ही कार्य है, क्योंकि वर्तमान मात्र पर्याय सत् है [3]। अत: उपादान स्वत: कार्य रूप परिणमता है। उसके परिणमन में कोई नियामक कारण नही है। योग्यता ही विषय की प्रतिनियामक कारण कही गई है। इसलिये वर्तमान समय की पर्याय की योग्यता उपादान कारण है और यह विद्यमान पर्याय स्वयं कार्य है। इस प्रकार पर्यायविशिष्ट द्रव्य में जो कार्य होता है, उसमें वस्तु की योग्यता ही वास्तविक कारण हैं। योग्यता के ही पर्यायवाची नाम हैं—सामर्थ्य, शक्ति, पात्रता, लियाकत या लायकात।

सामान्यत: 'निमित्त' से हमारा अभिप्राय कारण से होता है। निमित्त का अर्थ है—भली-भांति मित्र रूप से सहायक होना। यह निमित्त शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है। निमित्त मित्र है, सहायक है, इसलिये पर है।

---

१. यत्स्वरूपं त्यजत्येव यन्न त्यजति सर्वथा।
तन्नोपादानमर्थस्य क्षणिकं शाश्वतं यथा ।।२।। अष्टसहस्री मूल, पृ० २१०

२. "उप अभिन्नत्वेन तन्मयत्वेन आदानं धारणं यत्र तदुपादानम् ।"—वही

३. "पर्याय एवार्थः कार्यमस्य न द्रव्यम् अतीतानागतयोर्विनष्टानुत्पन्नत्वेन व्यवहाराभावात्, स एवैकः कार्यकारणव्यपदेशभागिति पर्यायार्थिकः।" तत्त्वार्थवार्तिक, १,३३, पृ० ९५

व्यवहार भी हममें सहायक या मित्र किसे कहते हैं ? जो हमारे साथ रहे, दस-बीस कदम साथ में चले, साथ में व्यवहार करे, वह मित्र कहा जाता है। आचार्य विद्यानन्द कहते हैं---कार्य-काल में एक क्षण पहले से रहते हुए कार्योत्पत्ति में सहायता करने वाले अर्थ को निमित्त कारण कहते हैं[1]। दूसरे शब्दों में जो पदार्थ स्वयं कार्य रूप परिणत न हो, किन्तु कार्य की उत्पत्ति में जिसके अनुकूल होने का व्यवहार या आरोप किया जाए, उस पदार्थ को निमित्त कारण कहते हैं। निमित्त की प्रेरणा से कार्य होना कहा जाता है, किन्तु निमित्त के सद्भाव में भी परिणमन द्रव्य में स्वतः ही होता है। इसलिये द्रव्य स्वतः ही अपना कर्ता कहा जाता है। प्रत्येक द्रव्य में अपना-अपना परिणमन होता है। प्रत्येक परिणमन स्वतन्त्र है। जीव की वर्तमान संसार दशा में संयोगी अवस्था होने से भिन्न-भिन्न प्रकार का परिणमन देखा जाता है। जीव का परिणमन जीव में होता है और पौद्गलिक कर्मों का तथा पुद्गल का परिणमन पुद्गल मे होता है। कोई भी द्रव्य किसी अन्य द्रव्य के परिणमन में हस्तक्षेप या व्यवधान नही डाल सकता। इसे ही समझाने के लिए निमित्त दो प्रकार का माना गया है---अन्तरग निमित्त और वहिरंग निमित्त। वहिरंग निमित्तों के विद्यमान होने पर भी अन्तरग निमित्त के विना कार्य की उत्पत्ति नही देखी जाती। उदाहरण के लिए, मिट्टी का घडा वनने में मिट्टी उपादान कारण है। विना मिट्टी के और कोई घडा भले ही बन जाए, पर मिट्टी का नहीं बन सकता। घडा बनने मे सहायक कारण है---दण्ड, चक्र, कुलाल आदि। इन सबके उपस्थित होने पर भी यदि कुम्हार का मन घड़ा बनाने का न हो, किसी दूसरे काम मे लगा हो तो घडा नही बन सकता। इसलिये कुम्हार की इच्छा घड़ा बनने मे अन्तरंग कारण कही जाती है। इतना होने पर भी व्यवहार से भले ही घड़े का बनाने वाला कुम्हार कहा जाता हो, पर वास्तव में घडे की मूल योग्यता मिट्टी मे होने के कारण मिट्टी ही घड़े की रचना करने वाली कही गई है। मिट्टी से घड़े का तादात्म्य सम्बन्ध है और कुम्हार से घड़े का संयोग सम्बन्ध है। इसलिये मिटटी उपादान है और कुम्हार निमित्त है। कुम्हार के निमित्त से मिट्टी स्वयं परिणमती है। कुम्हार जो भी सरचना करता है वह मिट्टी रूप ही होती है।

१. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग २, पृ० ६०९

मिट्टी की पर्याय मिट्टी में ही उत्पन्न होती है। यदि कुम्हार भूल से सुराही बनाने लग जाए और फिर ध्यान आने पर उसे मिटा कर घड़ा बनाने लग जाए, तो सुराही का पिण्ड भी उसी मिट्टी से बना था और घड़ा भी उसी मिट्टी में बना। इसलिये मिट्टी स्वयं घड़े की कर्ता कही जाती है। यदि कुम्हार मिट्टी को अपने जैसा परिणमा देता, तो कुम्हार कर्ता कहा जाता परन्तु लोक में आज तक कही ऐसा देखा नहीं गया कि कुम्हार मिट्टी से सजीव मनुष्य को उत्पन्न करता हो। अतएव मिट्टी का उपादान स्वयं कर्ता कहा जाता है। जैनदर्शन में कर्ता का अर्थ यही किया गया है— जो परिणमित होता है सो कर्ता है और जो परिणाम है सो कर्म है तथा उसकी परिणति ही क्रिया है। ये तीन होने पर भी वास्तव मे भिन्न-भिन्न नही है[1]। क्योंकि तीनों ही मूल मे वस्तु से उत्पन्न होने वाले हैं। उक्त उदाहरण मे मिट्टी ही एक पर्याय से दूसरी पर्याय रूप परिणमन करती है, इसलिये मिट्टी कर्ता है, वह जिस पर्याय रूप परिणमी, वही कर्म है और उस परिणमन रूप परिणति ही उसकी क्रिया है। अतः वस्तुतः तीनों अभिन्न ही है। इस प्रकार कार्य-कारण भाव की मीमांसा में यह सदा ध्यान देने योग्य है कि उचित द्रव्य को ही कारण कहा जाता है; निरपेक्ष वस्तु मात्र को नही। और इसलिये जिसकी उपस्थिति मे कार्य-सम्पन्न हो जाता है, उसे निमित्त कहने में आता है। निमित्त का भी विचार आभ्यन्तर और बाह्य दोनों प्रकार की सामग्री के आधार पर किया जाता है। आचार्य समन्तभद्र का कथन है—बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार की सामग्री से कार्यों की सिद्धि होती है, यह द्रव्यगत स्वभाव है। सभी द्रव्य अपने स्वभावरूप परिणमन करते है, यही मोक्ष की विधि है। इसके सिवाय अन्य कोई मुक्ति नहीं है। इसीलिये आप सभी से वन्दनीय है[2]।

अब प्रश्न यह है कि हमारे जीवन मे निमित्तों की कोई कमी नहीं है। यह चौदह राजू प्रमाण सम्पूर्ण लोक बाह्य कारण-सामग्री से ठसाठस भरा है। फिर ऐसी क्या कमी रह जाती है जिसके कारण यह जीव मिथ्यात्वादि के अभाव

१. यः परिणमति सः कर्ता यः परिणामो भवेत्तु तत्कर्म।
या परिणतिः क्रिया सा त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया ॥ समयसारकलश, ५१

२. बाह्येतरोपाधिसमग्रतेयं कार्येषु ते द्रव्यगतस्वभावः।
नैवान्यथा मोक्षविधिश्च पुंसां तेनाभिवन्द्यस्त्वमृषिर्बुधानाम् ॥ बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र, ६०

में होने वाले सम्यग्दर्शनादि परिणाम को उत्पन्न नहीं कर पाता ? निमित्त तो प्रत्येक समय में उपस्थित है । किन्तु मोक्षमार्ग में वस्तुस्वभाव के सन्मुख आत्मा ही उपादान कहा जाता है । आचार्य समन्तभद्र का कथन भी इसी बात की पुष्टि करता है कि उपादान निमित्त आभ्यन्तर उपाधि इसलिये है कि जिस प्रकार कारण-कार्य भावों की दृष्टि से दर्शनमोहनीय की प्रकृतियों के उपशमादि को अन्तरंग निमित्त तथा देव,शास्त्र और गुरु को बाह्य निमित्त कहा जाता है, वहाँ जिन कर्म और नोकर्मों का ग्रहण किया जाता है, वे जीव से भिन्न हैं । इसलिये 'श्लोकवार्तिक' में उपादान निमित्त को निश्चय कारण भी कहा गया है । इसका दूसरा नाम समर्थ उपादान कारण भी है । निश्चय कारण के अतिरिक्त कार्य के प्रति निमित्तभूत अन्य जितनी भी बाह्य सामग्री होती है, वह सब जिनागम मे व्यवहार से ही हेतु मानी गई है । इसका कारण यह है कि जैसे उपादान द्रव्य से अभिन्न होने के कारण स्वयं कार्य रूप परिणमता है, वैसे बाह्य सामग्री जो प्रत्येक कार्य में निमित्त व्यवहार को प्राप्त होती है, स्वयं उस कार्य रूप न परिणम कर उससे भिन्न रह कर ही अपना अन्य कार्य करती है । फिर भी, उसमें निमित्त व्यवहार करने का प्रथम कारण कालप्रत्यासत्ति है अर्थात् उक्त दोनों के एक काल में होने के कारण इनमें परस्पर निमित्त-नैमित्तिक व्यवहार किया जाता है । दूसरा कारण यह है कि उक्त दोनों मे बाह्य व्याप्ति घटित हो जाती है । और इसी आधार पर इन दोनों में अन्वय-व्यतिरेक घटित हो जाता है । जहाँ बाह्य निमित्त कारण सामग्री या अन्तरंग निमित्त कारण सामग्री हो और कार्य न हो, वहाँ उन दोनों को उस कार्य का निमित्त कहना स्थूल दृष्टि है । वस्तुतः जब कोई द्रव्य निश्चय उपादान पदवी को प्राप्त होता है, तब उसके अनन्तर समय में जिसका वह उपादान निमित्त होता है, वह कार्य अवश्य होता है और उसकी उस प्रकार के कार्य के साथ त्रैकालिक व्याप्ति होती है, ऐसा कोई-न-कोई बाह्य निमित्त भी होता है । तीसरा कारण यह है कि उपादान के अनुसार जो कार्य होता है, बाह्य सामग्री का व्यापार व्यवहार नय से उसके अनुकूल ही होता है । ये तीन कारण हैं, जिन्हें लक्ष्य में रखकर कारण-कार्य और उसके अनुकूल बाह्य सामग्री में निमित्त-नैमित्तिक व्यवहार किया जाता है । अतएव स्पष्ट है कि चाहे कारण-कार्य भाव के सम्बन्ध में हो, चाहे

बन्ध-मोक्ष और जीव-कर्म के सम्बन्ध में हो, जितने भी संयोग सम्बन्धों का कथन किया जाता है, वह सब व्यवहार नय से तथा उपचार से समझना चाहिए। इसके बिना वस्तु-तत्त्व को समझा नहीं जा सकता, इसलिये इस प्रकार का कथन किया जाता है। इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि वस्तु-तत्त्व ऐसा भी है, वैसा भी है; वस्तुतः वस्तु-तत्त्व जैसा है, वैसा ही है। उसमें कोई भेद नहीं किया जा सकता। फिर भी, जो भेद करके समझाया जाता है, वह उपचार का कथन है, उसे उसी रूप से समझना चाहिए, यथार्थ नही मान लेना चाहिए[1]।

कार्य की उत्पत्ति का विचार

जो होता है, वह कार्य है और जिसके होने पर कार्य होता है, उस सद्भाव को कारण कहते हैं[2]। यह कहा जाता है कि कारण से कार्य उत्पन्न होता है, यह व्यवहार का कथन है। इसलिये व्यवहार में यह कथन ठीक हो सकता है, किन्तु निश्चय मे ऐसा नहीं है। क्योंकि प्रत्येक द्रव्य में जो उत्पत्ति और नाश देखा जाता है, उसमें केवल बाहरी ही नही, अन्तरंग भी कारण है। अन्तरंग कारण किसी निमित से न हो कर स्वनिमित्तक है। आचार्य पूज्यपाद का कथन स्पष्ट है कि उत्पाद (उत्पत्ति) दो प्रकार का होता है[3]—स्वनिमित्त से और परनिमित्त से। स्वनिमित्त उत्पाद क्या है? आगम के अनुसार षट्स्थानपतित वृद्धि और हानि से प्रवर्तमान अनन्त अगुरुलघु गुणों का स्वभाव से उत्पाद व व्यय होता है। इसी प्रकार परप्रत्यय उत्पाद-व्यय की अपेक्षा अश्वादि की गति, स्थिति और अवगाहन के धर्म, अधर्म और आकाश के वे द्रव्य क्रम से हेतु होने के कारण तथा क्षण-क्षण में भेद होने से भिन्न होते हैं। आचार्यदेव का यह उल्लेख एक विशिष्ट सन्दर्भ से जुड़ा हुआ है। आगम में काल द्रव्य के साथ धर्म, अधर्म और

---

१. द्रष्टव्य है · मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवां अधिकार, पृ० २५४-२५५

२. "यस्मिन् सत्येव च यद्भावः तत्कार्यमितरत् कारणम्।"—सिद्धविनिश्चयवृत्ति, ३,१०

३. "उत्पादः स्वनिमितः परप्रत्ययश्च। स्वनिमितस्तावदनन्तानामगुरुलघुगुणानामागमप्रामाण्यादभ्युपगम्यमानानां षट्स्थानपतितया वृद्धया हान्या च प्रवर्तमानानां स्वभावादेतेषामुत्पादो व्ययश्च। परप्रत्ययोऽपि अश्वादिगतिस्थित्यवगाहनहेतुत्वात्क्षणे क्षणे तेषा भेदात्तद्धेतुत्वमपि भिन्नमिति परप्रत्ययापेक्षा उत्पादो विनाशश्च व्यवह्रियते।"—सर्वार्थसिद्धि, ५ अ०, ७ सू० टीका।

आकाश द्रव्य भी निष्क्रिय माने गए हैं। छह द्रव्यों में से जीव और पुद्गल को छोड़ कर चारों द्रव्य निष्क्रिय होते हैं। तब प्रश्न यह है कि जब सभी द्रव्यों में उत्पाद-व्यय होता है, तो इन निष्क्रिय द्रव्यों में उत्पाद-व्यय कैसे होता है? इसी प्रश्न का उत्तर देने के लिए आचार्य पूज्यपाद ने यह बताया कि उत्पाद दो प्रकार का होता हैं। इन द्रव्यों में स्वभाव से उत्पाद और व्यय होता है, किसी परनिमित्त को मानने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि अगुरुलघु गुण अनन्त हैं और उनमें स्वभाव से उत्पाद-व्यय होता है। अब प्रश्न यह है कि द्रव्य की पर्याय-व्यवस्था क्या है? वास्तव में पर्याय स्वाभाविक होती है। स्वभाव और विभाव पर्याय का भेद परकृत या बाह्यनिमित्तिक है। विभाव पर्यायों मे विभाव का अर्थ वे बाह्यनिमित्त है जिनकी विकल्प द्वारा पर-कर्तृत्व, प्रयोजकता या प्रेरकता स्वीकार की जाती है। अतः यह उपचरित व्यवहार का कथन है। कारण-कार्य भाव का विचार करते समय इस बात को हम प्रायः भूल जाते है कि जब आगम में यह स्वीकार किया गया है कि द्रव्य की जितनी पर्यायें होती है, वे सब आभ्यन्तर और बाह्य सामग्री के सद्भाव में होती है, तब हम अन्तरंग सामग्री या उपादान को क्यों उपेक्षित कर देते है, उसे क्यों नही ध्यान मे लाते है? हमारा सारा ध्यान परनिमित्तो पर ही केन्द्रित रहता है।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि अगुरुलघु गुण के शक्त्यशों में अनन्तभागवृद्धि, असंख्यातभागवृद्धि, सख्यातभागवृद्धि, संख्यातगुणवृद्धि, असंख्यातगुणवृद्धि और अनन्तगुणवृद्धि के रूप में तथा अनन्तभागहानि, असंख्यातभागहानि, सख्यातभागहानि, संख्यातगुणहानि, असंख्यातगुणहानि और अनन्तगुणहानि के रूप में स्वभावतः सतत परिणमनशील स्वप्रत्यय कार्य कहलाते है[1]। वस्तुतः 'अगरुलघुगुण' से यहाँ गुण विवक्षित नहीं है। प्रकृत मे 'अगुरुलघुगुण' पद से अविभाग प्रतिच्छेदों को ग्रहण करना चाहिए। धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन चार द्रव्यों में व्यंजनपर्याय तो होती नही, मात्र अर्थपर्याये ही होती हैं। और उनमें अविभाग प्रतिच्छेदों के आधार

१. "स्वनिमितस्तावदनन्तानामगुरुलघुगुणामागमप्राण्यादभ्युपगम्यमानानां षट्स्थान-पतितया वृद्धया हान्या च प्रवर्तमानाना स्वभावादेषामुत्पादो व्ययश्च।"
—तत्त्वार्थराजवार्तिक, ५, ७, ३,

पर स्वभाव से ही उत्पाद-व्यय स्वीकार किया गया है। षड्गुणी हानि-वृद्धि के अनुसार किस समय अनन्त भाग-वृद्धि आदि में से पूर्व पर्याय की अपेक्षा उत्तर पर्याय में कब कौन-सी हानि या वृद्धि होती है, उसी आधार पर उस पर्याय की अनन्त भाग-वृद्धि या अनन्त भाग-हानि आदि स्वीकार की जाती है। उदाहरणार्थ, क्षीणकषाय गुणस्थान के अन्तिम समय में जो श्रुतज्ञान होता है, उस से सयोगकेवली के प्रथम समय में केवलज्ञान को अनन्तगुणवृद्धि रूप स्वीकार किया गया है। इसी प्रकार सर्वत्र छहों द्रव्यों की चाहे स्वभाव पर्यायें हों, या जीवों और पुद्गलों की उक्त रूप से विभाव पर्यायें हों, उनमें उत्पाद-व्यय की यह व्यवस्था घटित कर लेनी चाहिए। इस प्रकार इन द्रव्यों में जो व्यवहार देखा जाता है, उसमें बलाधान ही निमित्त है। स्पष्ट रूप से धर्म, अधर्म, आकाश द्रव्य जीव तथा पुद्गलों की गति, स्थिति, अवगाहन के लिए प्रेरणा नहीं करते हैं। परन्तु यदि जीव और पुद्गल गमन करें, तो धर्मद्रव्य उनके गमन में अप्रेरक निमित्त कहा जाता है। अप्रेरक, उदासीन और बलाधान शब्दों का प्रयोग समानार्थ मे किया जाता है। अधर्म द्रव्य जिस प्रकार स्थिति में उदासीन कारण है, उसी प्रकार आकाश द्रव्य अवगाहन में बलाधान वा उदासीनता से निमित्त है। आचार्य पूज्यपाद ने "बलाधान निमित्तत्वाच्चक्षुवत्" कह कर स्पष्ट कर दिया है कि हमारी आँखें देखने में तभी निमित्त हो सकती हैं, जब उपादान कारण पहले से मौजूद हो अर्थात् मन और नेत्र दोनों सन्मुख हो, तब पुरुष के नेत्र रूप देखने मे निमित्त होते हैं। दुनिया में यह सभी जानते है कि शिष्य पढ़ते हैं, बिजली की रोशनी उन्हें नहीं पढ़ाती। फिर भी, यह व्यवहार किया जाता है कि रोशनी पढाती है, क्योंकि यदि रोशनी न हो तो विद्यार्थी पढ़ नही सकते। परन्तु रोशनी बलात् किसी को पढ़ा नही सकती। इससे यही समझना चाहिए कि निमित्त स्वयं अन्य किसी द्रव्य का कार्य नही कर सकता

कार्य-कारण-भाव की व्यवस्था

आचार्य समन्तभद्र ने वस्तु में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की सिद्धि करते हुए बताया है कि वास्तव में ये तीनों भिन्न नहीं हैं। वे कहते

हैं–हे भगवन् ! आपके शासन में वस्तु सामान्य की अपेक्षा से न तो उत्पन्न होती है और न नष्ट होती है। यह बात स्पष्ट है, क्योंकि सब पर्यायों में उसका अन्वय पाया जाता है। किन्तु विशेष की अपेक्षा से वस्तु उत्पन्न-नष्ट होती है। एक साथ एक ही वस्तु में उत्पादादि तीनों का होना सत् है[1]। अनुभव से भी यह बात सिद्ध है कि द्रव्य की अपेक्षा से पदार्थ का उत्पाद और विनाश नहीं होता है। यही बात हमें कार्य-कारण के मूल में भी लक्षित होती है। जिस प्रकार सब पर्यायों में द्रव्य का अन्वय सदा बना रहता है कि यह वही द्रव्य है, उसी प्रकार सामान्य उपादान कारण पूर्व पर्याय को छोड़ कर उत्तर पर्याय को धारण कर लेता है; किन्तु दोनों का हेतु एक ही है। इसलिये तात्कालिक उपादान कारण का क्षय हो कर उपादेय का उत्पाद हो जाता है। आचार्य विद्यानन्द स्वामी ने इस विषय को अत्यन्त विशद करते हुए कहा है कि अनुपादान के क्षय से अनुपादेय के उत्पाद का नियम नहीं है। इसलिये उपादान का पूर्वाकार से क्षय कार्य का उत्पाद ही है, क्योंकि ये दोनों एक हेतु से होते हैं–ऐसा नियम है[2]। स्वामी कार्तिकेय ने द्रव्यों के कार्य-कारणभाव का निरूपण इस प्रकार किया है––

"पूर्व परिणाम सहित द्रव्य कारण रूप है और उत्तर परिणाम सहित द्रव्य नियम से कार्य रूप है। वस्तु के पूर्व और उत्तर परिणाम को लेकर तीनों ही कालों में प्रत्येक समय में कार्य-कारणभाव होता है[3]।" सामान्यतः उपादान के तीन अर्थ किए जाते हैं:–द्रव्योपादान, गुणोपादान और पर्यायो-

---

१. न सामान्यात्मनोदेति न व्येति व्यक्तमन्वयात्।
व्येत्युदेति विशेषात्ते सहैकत्रोदयादि सत्॥ आप्तमीमांसा, का० ५७

२. "उपादानस्य पूर्वाकारेण क्षय. कार्योत्पाद एव हेतोर्नियमात्। यस्तु ततोन्यस्तस्य न हेतोर्नियमो दृष्टो यथाऽनुपादानक्षयस्यानुपादेयोत्पादस्य च। नियमश्च हेतोरुपादानक्षयस्योपादेयोत्पादस्य च। तस्मादुपादानक्षय एवोपादेयोत्पादः।"
— अष्टसहस्री, पृ० २०९

३. पुव्व–परिणाम–जुत्तं कारण–भावेण वट्टदे दव्वं।
उत्तर–परिणाम–जुदं तं चिय कज्जं हवे णियमा॥ कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गा० २२२
कारण–कज्ज–विसेसा तीसु वि कालेसु हुंति वत्थूणं।
एक्केक्कम्मि य समए पुव्वुत्तर–भावमासिज्ज॥ वही, २२३

पादान । इनमें द्रव्य-गुणोपादान शाश्वत हैं, पर पर्याय-उपादान एक समयवर्ती है । अत: त्रैकालिक उपादान तो सदा विद्यमान है, किन्तु कार्य इसलिये नहीं होता कि क्षणिक उपादान की योग्यता उस काल में नहीं होती । आचार्य समन्तभद्र ने जो बात कही थी, वही बात प्रकारान्तर से यहाँ कही गयी है । निश्चित ही पूर्व पर्याय युक्त द्रव्य उत्तर पर्याय का कारण है और उत्तर पर्याय पूर्व पर्याय का कार्य है । दोनों ही परस्पर अविनाभावी हैं । क्योंकि पूर्व पर्याय नष्ट हुए बिना दूसरी पर्याय उत्पन्न नहीं होती । जैसे कि; लकड़ी जलने पर कोयला हो जाती है और कोयला जल कर राख हो जाता है । यहाँ लकड़ी कारण है और कोयला कार्य है तथा कोयला कारण और राख कार्य है । इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य में प्रति समय में कार्य-कारणभाव की यह परम्परा चालू रहती है । स्पष्ट रूप से इसका फलित अर्थ यही है कि प्रत्येक द्रव्य स्वयं अपना कारण है और स्वय अपना कार्य है । कोई भी द्रव्य किसी अन्य द्रव्य का कार्य नही कर सकता है । यदि ऐसा न हो, तो चना से गेहूँ उत्पन्न होने लगेगा और आम से गन्ना पैदा हो जाएगा ।

जैनदर्शन में कार्य-कारणभाव का विचार करते हुए यह स्वीकार किया गया है कि कार्योत्पत्ति के प्रति उपादान कारण तो कार्य रूप परिणत होने के आधार पर एक ही होता है, इसलिये उसमें जो कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण कारकों की तथा सम्बन्ध कारक की व्यवस्था स्वीकार की गई है, वह उसमें भेद विवक्षा के आधार पर ही स्वीकार की गई है, परन्तु उसी कार्योत्पत्ति के प्रति निमित्त कारण भिन्न-भिन्न रूप में सहायक होने के आधार पर अनेक हुआ करते हैं[1] । यह पहले ही कहा जा चुका है कि कार्य-कारणभाव की व्यवस्था में निमित्त का निषेध नहीं है । उनमें निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध देखा ही जाता है ।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि इसमें किसी को विवाद नहीं है कि अन्तरंग और बाह्य निमित्तों के सद्भाव में कार्य की उत्पत्ति देखी जाती

---

१. द्रष्टव्य है : पं. बंशीधर, व्याकरणाचार्य: जैनदर्शन में कार्यकारणभाव और कारक व्यवस्था, पृ० १११

है। परन्तु निमित्ताधीन दृष्टि वाले प्रायः यह कहा करते है कि कर्म का तीव्र उदय आने पर पुरुषार्थ कार्यकारी नहीं होता। हम तो सब कुछ करना चाहते हैं, पर ये कर्म रुला रहे हैं। जब ऐसा निमित्त मिले, तब कार्य हो। लोक में निमित्तों की प्रबलता है, इसलिये निमित्त को अकिंचित्कर कह कर उसका उपहास नहीं करना चाहिए और यह कहना तो किसी भी प्रकार उचित नहीं है कि निमित्तसे कार्य उत्पन्न नहीं होता ? यदि उपादान की समर्थता है तो बाधक कारण मिलने पर कार्य की सिद्धि क्यों नहीं होती ? **यही मुख्य प्रश्न है।**

वास्तव में जब भी कार्य होता है, तब पुरुषार्थ से होता है। कर्मों की प्रबलता मे पुरुषार्थ की हीनता कहने में भी पुरुषार्थ की मुख्यता लक्षित होती है। कार्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे यह कहा गया है कि प्रत्येक द्रव्य के अपने-अपने समर्थ उपादान (कारण) के अनुसार प्रत्येक समय में कार्य होते समय अन्य द्रव्य की पर्याय उसके बलाधान में स्वयं निमित्त होती है। जब समर्थ उपादान और लोक में निमित्त के रहते हुए भी कार्य की लोक में कही जाने वाली बाधक सामग्री आ जाती है, तब विवक्षित द्रव्य उसके कारण क्या अपने परिणमन स्वभाव को छोड़ देता है ? यदि यह कहा जाए कि द्रव्य में परिणमन तो तब भी होता रहता है। वह तो उसका स्वभाव है। उसे वह कैसे छोड़ सकता है ? तो फिर जिसे बाधक सामग्री कहा जाता है, वह किस कार्य की बाधक मान कर कही जाती है ? यदि आप यह कहे कि जो कार्य हम उससे उत्पन्न करना चाहते थे, वह कार्य नही हुआ, इसलिए हम ऐसा कहते है। तो विचार कीजिए कि वह सामग्री उस द्रव्य के आगे होने वाले कार्य की बाधक ठहरी कि आपके संकल्प की ? वस्तुतः द्रव्य के कार्य में कभी भी कोई बाधा उत्पन्न नही होती। क्योंकि प्रत्येक समय में द्रव्य की पूर्व पर्याय का विनाश और उत्तर पर्याय की उत्पत्ति होती ही रहती है। हमारे संकल्प के अनुसार कार्य की सिद्धि न होने पर उसमें क्या बाधा पड़ती है ? हाँ, हमारे मन के माफिक न होने पर हमें ठेस जरूर लगती है। इसलिये बाधक कारण कहना हमारे मन की कल्पना है। निमित्त के अन्धविश्वासी बन कर हम जो उसका पक्ष लेने के अभ्यासी हैं, उससे हमारी कोई समस्या नहीं सुलझती है, बल्कि हम ही

उलझते जाते हैं। इसी ओर संकेत करते हुए पं. भैया भगवतीदासजी कहते हैं :—

"अरे निमित्त ! बिना उपादान के तुम एक भी काम नहीं कर सकते। भले ही इसे यह जगत् न जानता हो, पर जिनेन्द्रदेव तो जानते हैं। इस जीव को निमित्त तो अनन्त बार मिले, किन्तु स्वयं में परिवर्तन न होने से संसार में भटकता रहा है[1] ।"

यह पहले ही कहा जा चुका है कि उपादान अपने परिणमन में स्वतन्त्र है। यद्यपि जीव में और रागादिक भाव में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, तथापि निमित्त किसी मे अनहोनी शक्ति उत्पन्न नहीं कर सकता है। वस्तु मे स्वयं परिणमनशील शक्ति पाई जाती है। उसका कभी विनाश नहीं होता, चाहे वस्तु पर्याय में शुद्ध हो चाहे परसंग से अशुद्ध हो। जो रागादिक भाव की उत्पत्ति में सारा दोष निमित्त कारणों को देते हैं, अपना अपराध स्वीकार नही करते, वे वास्तव में मोहभाव से कभी छूट नही सकते। इसलिए निमित्त के अधीन दृष्टि होने का अर्थ है—अपने को पराधीन समझना। इसलिए अध्यात्म में उपादान की प्रमुखता से कथन किया जाता है कि यह जीव अपने स्वभाव की पहचान कर अपने को पराधीन न समझे और आत्म-विवेक जाग्रत कर पुरुषार्थ करे। तभी स्वावलम्बन का मार्ग प्रशस्त होता है। इस प्रकार उपादान की दृष्टि सच्चे पुरुषार्थ की ओर उन्मुख होती है। जब तक हम विकारी भावों के उत्पन्न होने में परद्रव्यों का ही दोष ढूंढते रहेंगे, तब तक सचाई को नही समझ सकते है। यह हम जानते ही हैं कि संसार का कारण राग-द्वेष मोहादि भाव हैं। ये हम से दूर कैसे हो सकते हैं ? अध्यात्मशास्त्र में इनके दूर होने का उपाय बताया गया है। आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं[2] : अज्ञानी पुरुष राग की उत्पत्ति में परद्रव्य को ही कारण मानते है: क्योंकि

---

१. उपादान बिन निमित्त तू कर न सके इक काज।
कहा भयो जग ना लखे जानत हैं जिनराज ॥७॥
यह निमित्त इह जीव के मिल्यो अनन्ती बार।
उपादान पलट्यो नहीं तो भटक्यो संसार ॥९॥

२. रागजन्मनि निमित्ततां परद्रव्यमेव कलयन्ति ये तु ते।
उत्तरन्ति न हि मोहवाहिनीं शुद्धबोधविधुरान्धबुद्धयः ॥ समयसारकलश, श्लोक २२१

उन्हें शुद्ध वस्तु का ज्ञान नहीं है। ऐसे जीव मोह की सेना को कदापि नहीं जीत सकते है। वास्तव में वस्तु-स्वरूप से अनभिज्ञ पुरुष ही ऐसा कह सकते हैं कि क्या करें? अमुक के आने से ऐसा हुआ, न यह श्रृंगारिक प्रसाधन दिखलाई पड़ता, न रागादि भाव उत्पन्न होते। मैं तो ऐसा भाव करना नहीं चाहता था, पर सामने लगे हुए चित्र के देखने से ऐसे भाव हो गए। इससे बढ़ कर अज्ञान अन्य क्या हो सकता है? यथार्थ में निमित्त तो अनन्त हैं। हम उन सब को कहाँ तक हटा सकते हैं? केवल अपनी दृष्टि हटा लें, तो निमित्त स्वयं दूर हो जाते है। कितना सुन्दर उपाय है!

पं जयचन्द्रजी छावड़ा आचार्य अमृतचन्द्र के 'न जातु रागादिनिमित्त भावं०' कलश का अर्थ समझाते हुए कहते हैं: "आत्मा है सो आपके रागादिक का निमित्तभाव कूं कदाचित् न प्राप्त होय है, तिस आत्मा विषें रागादिक का निमित्त परद्रव्य का सग ही है। इहा सूर्यकान्तमणि का दृष्टान्त है। जैसे सूर्यकान्तमणि आप ही तो अग्निरूप नाहीं परिणमे है, तिस विषे सूर्य का बिम्ब अग्निरूप होने कूं निमित्त है, तैसें जानना। यह वस्तु का स्वभाव उदय कूं प्राप्त है, काहू का किया नाहीं है[1]।"

प्रस्तुत कलश मे आचार्य अमृतचन्द्र एकान्त से निमित्त का निषेध नहीं करते है, किन्तु यह कहते है कि जो पर को ही निमित्त मानते है, वे शुद्ध बोध से रहित अन्धी बुद्धि वाले है। 'निमित्त' का अर्थ यहाँ 'कारण' ही है। यथार्थ में रागादि भावो की उत्पत्ति में परनिमित्त कारण नही है। इसके पूर्व कलश में आचार्य इस बात को भलीभाँति समझा चुके हैं। यद्यपि करणानुयोग मे यह बताया जाता है कि मोहादि कर्म की प्रकृतियों मे रागादि भाव उत्पन्न होते है, किन्तु उन कर्म-प्रकृतियों के उदय में—उनकी उपस्थिति में राग-द्वेष भाव होते है, ऐसा ही निमित्त है, परन्तु कर्म-प्रकृतियाँ राग-द्वेष को उत्पन्न करने वाली नही होतीं। यदि कर्म-प्रकृतियों से राग-द्वेष का जन्म माना जाए, तो जीव का कोई अपराध ही नही बनेगा। जब कर्म-प्रकृति ही अपराध करेगी, तो उसका फल भी वही भोगेगी। अतः इस मान्यता से जिन-सिद्धान्त का ही

---

१. न जातु रागादिनिमित्तभावमात्माऽऽत्मनो याति यथार्ककान्तः।
तस्मिन्निमित्त परसंग एव वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत् ।। समयसारकलश, श्लो. १७५ की भाषा-वचनिका

विरोध होगा। आचार्य अमृतचन्द्र स्पष्ट रूप से कहते हैं : जब जीव का ज्ञान मिथ्यात्व के उदय में अज्ञान भाव रूप परिणमित होता है, तब आत्मा में राग-द्वेष के परिणाम होते है। वस्तुतः जीव द्रव्य को देखा जाए, तो उसमें राग-द्वेष भाव नही है। क्योंकि ये भाव तो केवल अज्ञान-दशा में प्रकट होते हैं। इसलिए सम्यग्दृष्टि अपनी तत्त्वदृष्टि से उन दोनों का नाश कर देता है, जिससे सम्पूर्ण स्थिर केवलज्ञान-ज्योति प्रकाशमान होती है[1]।

अब, प्रश्न यह है कि यदि बाह्य सामग्री की उपस्थिति में उसकी सहायता के बिना ही प्रत्येक द्रव्य अपना कार्य करता है, तो फिर बाह्य सामग्री में निमित्त का व्यवहार करने का क्या प्रयोजन है? व्यवहार करने में कोई कारण अवश्य होता है।

इसका समाधान यह है कि प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने परिणाम स्वभाव से आन्तरिक योग्यतावश कब क्या करता है, इसकी प्रसिद्धि करना ही मुख्य प्रयोजन है। इसलिए बाह्य सामग्री मे कार्य की सिद्धि होने पर निमित्त का व्यवहार किया जाता है। वस्तुतः प्रत्येक द्रव्य स्वयं जब जैसा है, उसके उस समय वैसा होने मे कोई निमित्त नही है। हां, उसकी प्रसिद्धि परसापेक्ष अवश्य होती है। अतएव आगम में स्वतः सिद्ध होने पर भी उपादान-उपादेय में इसी प्रयोजन को ध्यान में रखकर कार्य-कारण भाव को स्वीकार किया गया है। जिनागम में यह भी बताया गया है कि कार्य-कारण भाव की व्यवस्था में धर्म और धर्मी का अविनाभाव परस्पर सापेक्ष सिद्ध होता है; उनका वैसा स्वरूप नहीं है, वह स्वयं है। जैसे कर्ता और कर्म का स्वरूप या प्रमाण और प्रमेय का स्वरूप स्वतः सिद्ध है, परसापेक्ष नही है। परन्तु उन में यह इसका कर्ता है और यह इसका कर्म है या यह इसका ज्ञापक है और यह इसका ज्ञाप्य है, यह व्यवहार परस्पर सापेक्ष ही होता है, उसी प्रकार धर्म और धर्मी के विषय मे भी समझ लेना चाहिए। वस्तुतः यह सब संयोग की अपेक्षा से कहा जाता है। संयोग लौकिक सम्बन्ध है। अध्यात्म या परमार्थ मे उसका कोई स्थान नही है।

---

१. रागद्वेषाविह हि भवति ज्ञानमज्ञानभावात्
तौ वस्तुत्वप्रणिहितदृशा दृश्यमानौ न किंचित्।
सम्यग्दृष्टिः क्षपयतु ततस्तत्त्वदृष्ट्या स्फुटन्तौ
ज्ञानज्योतिर्ज्वलति सहजं येन पूर्णाचलार्चिः ॥ समयसारकलश, श्लोक २१८

कार्य-कारणभाव के प्रकार

इस बात का पहले ही उल्लेख किया जा चुका है कि जैनदर्शन में अन्तरंग और बाह्य दोनों प्रकार के निमित्त स्वीकार किए गए है। इन निमित्तों के आधार पर कार्य-कारणभाव का विभाजन किया जाता है। अतः कार्य-कारणभाव के दो प्रकार निश्चित किए जाते है—उपादान-उपादेय भाव रूप और निमित्त-नैमित्तिक भाव रूप। वास्तव में प्रथम परमार्थ मे कार्य-कारण है और दूसरा उपचार से कहा जाता है। जहाँ शुद्ध दृष्टि है और शुद्ध वस्तु है, वहाँ केवल एक की बात है। दूसरे की चर्चा करना व्यर्थ है।

पण्डितप्रवर टोडरमलजी ने कर्मो के फलदान में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का उल्लेख करते हुए कर्तृत्वभाव का निषेध किया है। उनके ही शब्दों मे "तथा जब कर्म-प्रकृतियो का उदयकाल आये, तब स्वयमेव उन प्रकृतियो के अनुभाग के अनुसार कार्य बने, कर्म उन कार्यो को उत्पन्न नही करते। उसका उदयकाल आने पर वह कार्य बनता है—इतना ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध जानना[1]।" स्पष्ट रूप से यहाँ ईश्वर की भाँति कर्म को भी कर्ता मानने का निषेध किया गया है। कर्म को कर्ता मानना तो मिथ्यात्व है। क्योकि कोई ईश्वर को करने-धरने वाला मानता है, तो आप ईश्वर शब्द से न मान कर कर्म शब्द से मान रहे है, अन्तर क्या है? जब प्रत्येक द्रव्य का परिणमन स्वतन्त्र है, कोई किसी के परिणमन को नही कर सकता है, तब कर्ता मानने का प्रश्न ही उत्पन्न नही होता। व्यवहार तो व्यवहार-काल मे करना ही पडता है, उसके लिए भाषा का सहारा लेना पडता है। भाषा मे निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध मानना पडता है, जो औपचारिक है। व्यवहार में यह बताना ही पडता है कि द्रव्यकर्म से भावकर्म और भावकर्म से द्रव्यकर्म होते है और इस प्रकार कारण-कार्य-भाव से ससार-चक्र में परिभ्रमण होता है[2]। आचार्य कुन्दकुन्द ने भी जीव के परिणाम और पुद्गल के परिणाम का

---

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, दूसरा अधिकार, पृ. ३०

२. वही, पृ. ३१

निमित्त मात्र सम्बन्ध स्वीकार किया है। वे कहते हैं : "जीव के परिणामों के निमित्त मात्र से पुद्गल कर्म रूप परिणमन करते हैं। इसी प्रकार जीव भी पुद्गल कर्म के निमित्त से परिणमन करता है। किन्तु न तो जीव कर्मों के गुणों को करता है और न कर्म जीव के गुणों को करता है। परन्तु परस्पर दोनों के निमित्त से परिणाम उत्पन्न होते हैं[1]।" परमार्थ से तो आत्मा अपने को ही करता है, अन्य किसी का कर्ता नहीं है। कहने का अभिप्राय यही है कि निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का अभाव नही है और न उसका निषेध ही है। किन्तु निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध को कर्ता मानने का निषेध किया गया है। पं० जयचन्द्रजी छावड़ा ने इस विषय पर अच्छा प्रकाश डाला है। वे लिखते हैं : "आत्मा का भेदज्ञान भये आत्मा ज्ञानी होय, तब कर्तृ-कर्मभाव भी थाके न होय ऐसे कह्या है। आगे कह्या है, जो जीव-पुद्गल कर्म के परस्पर निमित्त-नैमित्तिक भाव है, तो कर्तृ-कर्मभाव न कहिये। आगे कह्या है, यह निश्चयनय है—जो जैसे आत्मा के अर कर्म के कर्तृ-कर्मभाव नही है, तैसे भोक्तृभोग्यभाव भी नाही है। आपका आप ही के कर्तृ-कर्मभाव भोक्तृभोग्य-भाव है। आगे व्यवहार नय है सो आत्मा के अर पुद्गल कर्म के कर्तृ-कर्मभाव अर भोक्तृभोग्यभाव कहे है, ऐसा कह्या है। आगे आत्मा पुद्गल कर्म का कर्ता मानिये, तो तामें बड़ा दोष आवे है। दोय क्रिया का कर्ता आत्मा ठहरै, तो यह जिनमत नाही[2]।"

इस प्रकार निश्चयनय की दृष्टि में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध में कर्तृत्व भाव नहीं है। यदि यह सम्बन्ध न माना जाए, तो सात तत्त्वों में से पाँच तत्त्वों का अभाव हो जाएगा। कहा भी है—"जो प्रयोजन तथा निमित्त के वशतें प्रवर्तं अन्यकूं अन्य कहना तहाँ उपचार है, सो परस्पर द्रव्यनिके निमित्त-नैमित्तिक भाव है। सो तो सत्यार्थ है ही। तातें संसार, मोक्ष आदि तत्त्वनि की प्रवृत्ति है। जो निमित्त-नैमित्तिक भाव झूठा होय तो संसार, मोक्ष आकाश

---

१. जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमदि ।। समयसार, गा. ८०
णवि कुव्वदि कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हं पि ।। वही, गा ८१

२. समयप्राभृत की प्रस्तावना, पाना ८

के फूल ज्यों ठहरे [1]।" इसलिए व्यवहार में निषेध न कर समर्थन किया गया है[2]। इन दोनों ही प्रकार के कथनों को न समझने के कारण प्राय: विरोध उत्पन्न होता है। अतएव अध्यात्म मे सत्यार्थ को लक्ष्य मे रखना ही चाहिए, क्योंकि उसके विना वास्तविकता समझ में नही आती। वास्तव में अध्यात्म-शास्त्र में सत्यार्थ की कथनी होती है, किन्तु उस सत्यार्थ को समझाने के लिए व्यवहार का आलम्बन लिया गया है।

अध्यात्म को समझने की दो दृष्टियाँ

आगम में अध्यात्म को समझने की दो दृष्टियाँ कही गई है, जिनको 'नय' कहा जाता है। नय का अर्थ है—ले जाना। जो अनेक गुणों और अनेक पर्यायो के द्वारा एक परिणाम से दूसरे परिणाम में, एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में और एक काल से दूसरे काल मे अविनाशी स्वभाव वाले द्रव्य को ले जाता है अर्थात् उसका ज्ञान करा देता है, उसे नय कहते हे[3]। वस्तुत: विभिन्न भावों से हटा कर वस्तु-स्वभाव को जो दृष्टि में लाता है, वह नय है[4]। नयरूपी दृष्टि की हमे इसलिए आवश्यकता है कि वस्तु के स्वभाव को समझना है। अध्यात्मशास्त्र की कुंजी ही नयो के हाथों में है। कहने वाले के अभिप्राय को ठीक-ठीक समझाने वाला नय है। जिस अपेक्षा से, जिस दृष्टिकोण से जो बात कही जाती है, उस भाव तक ले जाने वाला नय ही है।

प्राय: यह समझा जाता है कि निश्चय नय ही अध्यात्म को समझाने में समर्थ है। यह सच है कि शुद्धनय की दृष्टि ही शुद्ध तत्त्व का ज्ञान कराने में समर्थ है। किन्तु व्यवहार नय भी किसी स्थिति तक वस्तु को समझाने मे सहायक है। क्योंकि द्रव्य केवल गुणात्मक ही नही है; परिमाणात्मक भी है। इसी प्रकार गुणो के समूह को ही नही, गुण-पर्याय के समूह को द्रव्य कहा जाता है। द्रव्य के नित्य और क्षणिक दोनों ही अंशों को हमें समझना है।

---

१. प जयचन्दजी छावडा . सर्वार्थसिद्धि-वचनिका, पाना १०४

२. निमित्त—नैमित्तिक जाने बिना, मिटे न कर्तृत्वभाव ।
   ताते ताको जान कर, करो मोक्ष उपाव ।।

३. णयदित्ति णयो भणिओ बहूहि गुण-पज्जएहि जं दव्व ।
   परिणामखेत्तकालतरेसु अविणट्ठसब्भावं ।। धवला, १,१,४

४. "नानास्वभावेभ्यो व्यावर्त्य एकस्मिन्स्वभावे वस्तु नयति प्रापयतीति वा नय. । "
   नयचक्र, पृ. १

वस्तु के गुणों की भाँति पर्यायों को भी हमें विशेष रूप से समझना है, जिससे उनकी ओर झुकने वाली हमारी दृष्टि पराङ्मुख हो सके और वस्तु-स्वभाव की उपादेयता हमारे ध्यान में आ सके। सात तत्त्वों में भी अजीव, आस्रव, बन्ध का स्वरूप इसीलिए समझाया गया है, जिससे उनकी हेयता का बोध हो सके। व्यवहार से एक द्रव्य में जितनी अतीत, भविष्य और वर्तमान की अर्थपर्यायें तथा व्यंजनपर्यायें हो चुकी है, होने वाली है, हो रही है, वह द्रव्य उतना ही है।

यह निश्चित है कि जब तक हमें द्रव्य, उसके गुणों तथा पर्यायों का बोध नहीं होता, तब तक हम अपनी वास्तविकता से अनभिज्ञ रहते हैं। तत्त्व का ज्ञान इसलिए कराया जाता है कि हम वस्तु की असलियत को समझें। वास्तव में पर्याय मात्र द्रव्य नही है, क्योंकि पर्याय एक समयवर्ती होती है। दूसरे समय मे नई पर्याय का जन्म हो जाता है। जिस समय जो पर्याय जिस रूप परिणमने वाली है, वैसा ही परिणमन करेगी। किन्तु हम राग-द्वेष के आश्रित दृष्टि वाले अपने मन के अनुकूल वस्तु को तथा वस्तु की उन पर्यायो को परिणमाना चाहते हैं और जब वे हमारे मन के माफिक वैसा परिणमन नही करती हैं, तो हम कर्ता-बुद्धि से द्वेष भाव कर उन पर अपना क्रोध प्रकट करते है। वास्तव मे क्रोध वहीं होता है, जहाँ अरुचि होती है। पर-पदार्थ के प्रति रुचि या अरुचि होने का कारण है---राग-द्वेष और राग-द्वेष होने का कारण है---मोह या दर्शनमोह अथवा अज्ञान। अज्ञानता से यह जीव पर-पदार्थ को और उनकी पर्यायों को अपना मान रहा है। वास्तव मे यह भ्रम ही है। इस भ्रम-जाल के दूर होते ही ज्ञानी ऐसा विचार करता है कि इस द्रव्य की पर्याय का ऐसा ही परिणमन होना था, किसी वस्तु के टूटने-फूटने या भग्न होने पर खेद-खिन्न होना व्यर्थ है, अपने परिणामों में संक्लेश करने से अपनी आत्मा का अहित ही होगा। ऐसी समझ आने पर वह किसी पर क्रोध नही करेगा, मोह नही करेगा। यही इन दोनों दृष्टियों को समझाने का तात्पर्य है। यहाँ पर यह भी समझ लेना आवश्यक है कि पर्याय किसी वस्तु से भिन्न नही पाई जाती, वह वस्तु की ही होती है। इसलिए वस्तु मात्र का विचार करने के लिए, उसको सम्पूर्ण रूप से समझने के लिए आगम की नय-दृष्टि से समझना जरूरी होता है।

नय किसे कहें ?

जिस प्रकार हमारी दृष्टि कुदृष्टि, सुदृष्टि या संदृष्टि आदि हो सकती है, वैसे ही नय, कुनय, सुनय आदि होते है । इन को ठीक से समझ लेने पर किसी प्रकार की उलझन या विरोध नही रह जाता है। मूल में यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि नय की प्रतिष्ठा सत् के आधार पर होती है। वस्तु को लक्ष कर के ही कोई कथन किया जाता है, अवस्तु के विषय मे कुछ भी कहना व्यर्थ है। इसलिए किसी अपेक्षा से ही वस्तु का कथन किया जाता है। जो नय अपने विषय की मर्यादा को लांघ कर कथन करता है, उसे कुनय कहा जाता है; जैसे कि–जीव को सर्वथा नाशवान मानना। इसके विपरीत अपने विषय का कथन करना सुनय कहा जाता है। कहा भी है : अपने-अपने पक्ष का कथन करने मे संलग्न सभी निरपेक्ष नय मिथ्यादृष्टि है। जब कोई दृष्टि दूसरे का निराकरण करती हुई अपने विषय की पुष्टि करती है, तब निरपेक्ष कथन के कारण मिथ्या कही जाती है। किन्तु जब वही दूसरे के विषय का निराकरण नही करती हुई परस्पर सापेक्ष दृष्टि से प्रतिपादित करती है, तब सम्यक् होती है,[1] जैसे कि—किसी अपेक्षा से जीव को नित्य कहना और किसी अपेक्षा से अनित्य कहना। जीव न सर्वथा नित्य है और न सर्वथा अनित्य, उसमे कथंचित् नित्यानित्यपना अवश्य कहा जाता है।

सम्यक्नय श्रुतज्ञान का अंश है। उसे ही प्रमाण से निरूपण किए गए अर्थ का एक देश भी कहते है। परमार्थ मे तो वह ज्ञानोपयोग का ही अंश है। नय के ही ज्ञाननय, शब्दनय और अर्थनय इस प्रकार तीन भेद किए जाते है जो सम्यक्नय को ले कर प्रवृत्त होते है। वास्तविक प्रमाणज्ञान है। उसके एकदेश को ग्रहण करने वाला ज्ञाननय कहा जाता है। ज्ञान के द्वारा जाने गए पदार्थ का प्रतिपादन शब्दों के माध्यम से किया जाता है जो शब्दनय रूप होता है। उस प्रमाणज्ञान का विषय पदार्थ है, इसलिए नय से कहे जाने वाले पदार्थ को अर्थनय कहते है। वस्तुत. इन तीनो में ज्ञानात्मक परिच्छेद अन्तर्हित है, इसलिए नय भी ज्ञानात्मक कहा जाता है।

---

१. तम्हा सव्वे वि णया मिच्छादिट्ठी सपक्खपडिबद्धा ।
अण्णोण्णणिस्सिया उण हवंति सम्मत्तसब्भावा ।। सन्मतिसूत्र, १,२१

अध्यात्मशास्त्र में वस्तु से अभिप्राय आत्मद्रव्य से है। प्रमाण, नय निक्षेप आदि वस्तु का अनुगमन नही करते, किन्तु वस्तु को समझने के लिए ये स्वयं साधन हो जाते है। इन सबका ज्ञान एक साथ हो नहीं सकता; क्योंकि उपयोग एक समय में एक ही ज्ञेय पर रहता है। वस्तु शुद्ध और अशुद्ध दोनों रूपों में लक्षित होती है। अशुद्धता पर-संयोग का नाम है। किन्तु सामान्य रूप से जब वस्तु का प्रतिपादन किया जाता है, तो शुद्ध वस्तु को ही लक्ष कर कथन किया जाता है। क्योंकि नय का उद्देश्य अपने स्वरूप की प्राप्ति कराने तक दृष्टि को वस्तु-स्वभाव की ओर ले जाना है। शुद्ध वस्तु तक ले जाने वाला शुद्धनय ही कार्यकारी है। यदि कोई यह कहे कि जिनमार्ग में दोनों प्रकार के नय बताए गए है, इसलिए दोनों का ग्रहण करना चाहिए। उसका समाधान करते हुए आचार्यकल्प पं० टोडरमलजी कहते हैं : "जिनमार्ग में कहीं तो निश्चय नय की मुख्यता लिए व्याख्यान है, उसे तो 'सत्यार्थ ऐसे ही है'—ऐसा जानना। तथा कहीं व्यवहारनय की मुख्यता लिए व्याख्यान है, उसे 'ऐसे है नहीं, निमित्तादि की अपेक्षा उपचार किया है'—ऐसा जानना इस प्रकार जानने का नाम ही दोनों नयों का ग्रहण है। तथा दोनों नयों के व्याख्यान को समान सत्यार्थ जान कर ऐसे भी है, ऐसे भी है—इस प्रकार भ्रम रूप प्रवर्तन से तो दोनों नयों का ग्रहण करना नही कहा है[1]।" प्रमाण, नय, निक्षेप आदि सभी वस्तु-स्वरूप का ज्ञान कराने मे सहायक हैं। वस्तु-स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर और शुद्ध स्वरूप का अनुभव प्राप्त होने पर इन में से किसी का अवलम्बन नही रहता। पं० जयचन्द्रजी छावड़ा ने इसी बात को अत्यन्त विशदता के साथ प्रकट किया है। उनके ही शब्दों में : "बहुरि ऐसा जानना जो स्वरूप की प्राप्ति दोय प्रकार है, प्रथम तो यथार्थ ज्ञान होय करि श्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन होगा। सो यह तो अविरत सम्यग्दृष्टि चतुर्थगुण-स्थानवर्ती के भी होय है।—तहाँ बाह्य व्यवहार तो अविरत रूप ही रहे। तहाँ व्यवहार का आलम्बन है ही। अर अन्तरंग सर्व नय का पक्षपात रहित अनेकान्त तत्त्वार्थ की श्रद्धा होय है। बहुरि जब सयम धारि प्रमत्ताप्रमत्त-गुणस्थानवर्ती मुनि होय अर जहाँ ताँई साक्षात् शुद्धोपयोग की प्राप्ति न होय श्रेणी न चढै, तहाँ शुभरूप व्यवहार का भी बाह्य आलम्बन रहे। बहुरि

---

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवां अधिकार, पृ. २५१

दूजा साक्षात् शुद्धोपयोग रूप वीतराग चारित्र का होना सो अनुभव में शुद्धोपयोग की साक्षात् प्राप्ति होय, तामें व्यवहार का भी आलम्बन नहीं, अर शुद्धनय का भी आलम्बन नहीं। जातें आप साक्षात् शुद्धोपयोग रूप भया, तब नय का आलम्बन काहे का? नय का आलम्बन तो जेते राग अंश था, तेतेंहि था। ऐसे अपने स्वरूप की प्राप्ति भये पीछे पहले तो श्रद्धा में नयपक्ष मिटे है, पीछे साक्षात् वीतराग होय, तब चारित्र सम्बन्धी पक्षपात मिटे है। ऐसा नाहीं, जो साक्षात् वीतराग तो भया नाहीं, अर शुभ व्यवहारकूं छोड़ि स्वच्छन्द प्रमादी होय प्रवर्ते। ऐसें होय तो नयविभाग में समझा नाहीं, उल्टा मिथ्यात्व ही दृढ़ भया[1]।"

नय के भेद

वस्तु में अनन्त शक्तियाँ पाई जाती हैं। उसकी जिस शक्ति की अपेक्षा से जो कथन किया जाता है, वही नय है। अत: कथन के जितने विकल्प हो सकते हैं, उतने ही नय हो सकते हैं। कहा भी है—जितने वचन-मार्ग हैं, उतने ही नय के भेद हैं[2]। संक्षेप में नय के दो प्रकार हैं : द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। विस्तार से नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ एवंभूतनय ये सात नय कहे गए हैं। इन नयों के ही अति विस्तार से संख्यात शरीर वाले और अवान्तर भेदों से असंख्यात विकल्प-प्रकार समझना चाहिए। मानसिक विकल्प कषाय के अध्यवसाय से असंख्य तथा अनन्त भी हो सकते हैं। इस प्रकार नय अनन्त कहे जाते हैं। मुख्य रूप से कहे गए सातों नयों का विभाग द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दो नयों में हो जाता है। द्रव्यार्थिक नय के अन्तर्गत नैगम, संग्रह तथा व्यवहार और पर्यायार्थिकनय के अन्तर्गत ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ एवं एवंभूत की परिगणना की जाती है। इन दोनों ही नयों में वस्तु का सामान्य-विशेष स्वरूप का विषय-वर्णन गर्भित हो जाता है, इसलिए अध्यात्मशास्त्र में इनके अनुसार कथनी की जाती है। द्रव्यार्थिकनय को ही निश्चयनय कहते हैं। यह सामान्य को विषय करता है। पर्यायार्थिकनय को व्यवहारनय कहते हैं। यह विशेष को विषय करता है। जिस प्रकार चलने के लिए दो पैर हैं, काम करने के लिए दो हाथ हैं, सुनने के लिए दो कान

---

१. समयप्राभृत की प्रस्तावना, पाना ६

२. जावइया वयणवहा तावइया चेव होंति णयवाया।
जावइया णयवाया तावइया चेव परसमया ॥ सन्मतिसूत्र, ३,४७

हैं, उसी प्रकार तत्त्व को समझने के लिए, तत्त्व का निर्णय करने के लिए दो नय हैं, दो दृष्टियाँ हैं।

यद्यपि हम एक पैर से चल सकते हैं, एक हाथ से काम कर सकते हैं एक कान से सुन सकते हैं और एक आँख से देख सकते हैं, किन्तु ये हमारे सभी कार्य एकांगी होने से भले प्रकार से नहीं बन सकते। जब तक हम भली-भाँति दोनों आँखों से वस्तु को देखेंगे नहीं, तब तक उसका ठीक से उपयोग नहीं किया जा सकता। अतएव अध्यात्म की दोनों दृष्टियों को समझना आवश्यक ही नही, अनिवार्य भी है।

निश्चय नय क्या है ?

जो दृष्टि अभेदरूप से वस्तु का प्रतिपादन करती है, उसे निश्चय नय कहते हैं[1]। जो दृष्टि भेद व उपचार रूप से वस्तु का कथन करती है, वह व्यवहार नय कही जाती है[2]। निश्चयनय आत्माश्रित है और व्यवहारनय पराश्रित है[3]। निश्चयनय की सीधी दृष्टि मूल पदार्थ की ओर रहती है। वास्तव में मोक्षमार्ग में सम्यक्त्व-दृष्टि की महिमा है। उसे प्राप्त किए बिना रत्नत्रय की प्राप्ति नहीं होती है। नय की दृष्टि से ही वस्तु-स्वभाव की उपलब्धि होती है और वस्तुस्वभाव की परिच्छित्ति (पहचान) से सम्यग्दर्शन होता है[4]। निश्चयनय को भूतार्थ और व्यवहारनय को अभूतार्थ कहा गया है। इस से मुख्य कथन निश्चयनय के अधीन है। पण्डितप्रवर टोडरमलजी के शब्दों में "सर्व परद्रव्य सौं भिन्न अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप को अनुभव होय है तहाँ परम आनन्द दशा विषै मगन होय केवल दशा को प्राप्त होय है। उ अज्ञानी इसको बिना जाने धर्म को लगे हैं, शरीराश्रित क्रियाकाण्ड को उपादेय जानि संसार का कारण जु है शुभोपयोग, तिस ही कों मुक्ति का कारण मान स्वरूप तें भ्रष्ट हुआ संसार विषें भ्रमे हैं। तिसतें मुख्यकथन का जानपना

---

१. "अभेदानुपचरितया वस्तु निश्चीयते इति निश्चयः।"

२. "भेदोपचारतया वस्तु व्यवह्रियते इति व्यवहारनयः।"

३. "आत्माश्रितो निश्चयनयः। पराश्रितो व्यवहारनयः।" समयसार, गा. २७ आत्मख्याति टीका

४. जे णयदिट्ठीविहीणा ताण ण वत्थुसहावउवलद्धि।
वत्थुसहावविहीणा सम्मादिट्ठी कहं होंति॥ नयचक्र, गा. १८१

अवश्य चाहिये, सो निश्चयनय के आधीन है। तिसतें उपदेशदाता निश्चयनय का जाननहारा चाहिये। काहेते जो आप ही न जाने, तो शिष्यनि को कैसे समझाय सके ? बहुरि पराश्रित व्यवहार जो परद्रव्य के आश्रित होय, सो व्यवहार कहिये। किंचित् मात्र कारण पाय और द्रव्य का भाव और द्रव्य विषे स्थापन करे, तिस को पराश्रित कहिये, तिसका जो कथन सो उपचार कथन कहिये। इसके जानि शरीरादिक सो सम्बन्ध रूप संसार दशा को जानि संसार के कारण जो है आश्रव, बन्ध तिन को पहचानि मुक्ति होने के उपाय जु है सवर, निर्जरा तिस विषे प्रवर्ते। अज्ञानी इसको विना जाने शुद्धोपयोगी हुआ चाहे है, तो पहले ही व्यवहार साधन को छोडि पापाचार विषे लागि नरकादिक दु:ख सकट में जाय परें हैं। तिसते उपचार कथन का भी जानपना चाहिये, सो व्यवहारनय के आधीन है[1]।"

इस प्रकार दोनों नयों के द्वारा आगम के उपदेश का उल्लेख किया गया है, किन्तु अध्यात्मशास्त्र में निश्चयनय की मुख्यता है; क्योंकि निश्चयनय को प्रमुख किए विना आध्यात्मिक दृष्टि नही आती। आध्यात्मिक दृष्टि वीतरागता से भिन्न नही है। वीतरागता को उपलब्ध होना ही आध्यात्मिकता का उद्देश्य है।

निश्चयनय का महत्त्व इसलिये भी है कि उसमें केवल द्रव्यदृष्टि है। द्रव्य के स्वभाव का निरूपण करने वाली दृष्टि है। इसलिये तीनो कालो में उसके कथन मे एकरूपता (जो जैसा है, वैसा ही) है, किन्तु व्यवहारनय के कथन मे अनेकता पाई जाती है। जो जिस वस्तु को अच्छी कहता है, उसे ही कोई किसी अन्य दृष्टि से बुरा कहता है। परन्तु वस्तु न तो अच्छी है और न बुरी; जैसी है, वैसी ही है। यही कारण है कि नीम किसी के लिए कडवा है, तो किसी के लिए मीठा भी है। दूध को सब मीठा कहते है, किन्तु पित्तज्वर के रोगी के लिए वह कड़वा है। व्यवहार मे यह भिन्नता पाई ही जाती है। क्योंकि उसकी दृष्टि पर्यायों पर केन्द्रित रहती है। परन्तु निश्चय-नय शुद्ध द्रव्य को लक्ष कर कथन करता है। यद्यपि निश्चयनय के भी दो भेद किए गए है--अशुद्ध निश्चयनय और शुद्ध निश्चयनय; किन्तु द्रव्य की यथार्थता को समझने के लिए शुद्ध निश्चयनय कार्यकारी है; क्योंकि शुद्धनय का आश्रय लेने वाला जीव ही निश्चय से सम्यग्दृष्टि है[2]।

---

१. पुरुषार्थसिद्धयुपाय, श्लो. ४ की वचनिका

२. ववहारो अभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो।। समयसार, गा. ११

शुद्धनय : शुद्ध दृष्टि

बिना शुद्धदृष्टि के हम शुद्धता को प्राप्त नही हो सकते । अत: सभी दृष्टियों में शुद्धदृष्टि श्रेयस्कर है । यह आत्मा चित् चैतन्यचमत्कारमात्र ज्योतिस्वरूप है; अपने ज्योतिप्रकाश से यह अभिन्न है; दोनों में अद्वैतपना है । इसलिये नव तत्त्वों में प्राप्त होने पर भी यह अपने एकत्व को विसर्जित नहीं करती[1] । यह कथन इसलिये किया गया है कि नवतत्त्वों को जानने पर नियम से आत्मा की अनुभूति होती है[2] । केवल शब्दों से जानना शुद्धनय नहीं है । शुद्धनय उस शुद्ध अवलोकन का नाम है, जिस भूतार्थ नय से सतत एकरूप ही प्रकाशमान आत्मा का ही प्रकाश अनुभव में आता है । आत्मा के स्वभाव का शुद्ध अनुभव होते ही दृष्टि में किसी प्रकार का द्वैत भासित नही होता । इसी को शुद्धनय कहा जाता है । शुद्ध अनुभव की दशा मे विकल्प मिट जाता है और परमानन्द की उपलब्धि हो जाती है । आचार्य अमृतचन्द्र शुद्धनय को प्रकाशरूप बताते हुए कहते है : "शुद्धनय आत्मा के स्वभाव को प्रकट करता हुआ उदित होता है । वह परद्रव्य, परद्रव्य के भाव तथा पर-द्रव्य के निमित्त से होने वाले अपने विभाव—इन सभी परभावों से भिन्न प्रकट होता है । आत्मस्वभाव सम्पूर्ण है, ज्ञायक स्वभावी है और आदि, अन्त से रहित है । इस आत्मस्वभाव मे किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं है । सभी द्वैतभावों से रहित , समस्त संकल्प-विकल्पों के समूह के विलीन हो जाने पर शुद्धनय प्रकाशित होता है[3] ।" आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने इस शुद्धनय की दृष्टि से ही समयसार, प्रवचनसार आदि ग्रन्थों में अध्यात्मतत्त्व का निर्वचन किया है । अतएव शुद्धनय की व्याख्या उनके ही शब्दों मे पठनीय है[4] : "जो निश्चय से अबद्ध, अस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष, असंयुक्त, आत्मा

---

१. अत: शुद्धनयायत्तं प्रत्यग्ज्योतिश्चकास्ति तत् ।
नवतत्त्वगतत्वेऽपि यदेकत्वं न मुंचति ।। समयसारकलश, श्लो. ७

२. पं. जयचन्द्रजी छावड़ा कृत "समय प्राभृत" में समयसार की गाथा १३ की वचनिका पठनीय है ।

३. आत्मस्वभावं परभावभिन्नमापूर्णमाद्यन्तविमुक्तमेकम् ।
विलीनसंकल्पविकल्पजालं प्रकाशयन् शुद्धनयोऽभ्युदेति ।। समयसारकलश, श्लो. १०

४. जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं ।
अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणीहि ।। समयसार, गाथा १४

की अनुभूति करता है, उसे शुद्धनय जानो।" अपने आप की अनुभूति या अनुभव ही निश्चय से आत्मा है। इस प्रकार आत्मा एक प्रकाशमान वस्तु है जो शुद्धनय का विषय है। जो साधुपद ग्रहण कर लेते हैं, पर इस शुद्ध दृष्टि को नही अपनाते है, वे मुनि मुक्ति को प्राप्त नहीं होते[1]। शुद्धनय की दृष्टि को प्राप्त करने के पश्चात् ही मुनि निर्वाणपद को उपलब्ध हो सकते हैं।

इस शुद्धनय से भिन्न व्यवहारनय है। भेदज्ञान से रहित जीव मोह, ममता व आसक्ति की ओर प्रधावित होता है। संसार की पराई वस्तुओं में और अपने चेतन स्वभाव में वह कोई भेद नही मानता है। इसे ही शास्त्र की भाषा में अध्यवसान कहा गया है। पं. जयचन्द्रजी छावड़ा के शब्दों में : "जिनेश्वरदेव अन्य पदार्थनि विषे आत्मबुद्धि रूप अध्यवसान छुड़ाया है, सो यह पराश्रित सर्व ही व्यवहार छुड़ाया है, ऐसे जानूं। तातें शुद्धज्ञान स्वरूप अपना आत्मा ता विषें थिरता राखियो, ऐसा शुद्धनिश्चय का ग्रहण का उपदेश है। आचार्य आश्चर्य भी किया है–जो भगवान् अध्यवसान कूँ छुड़ाया, अब सत्पुरुष याकूं छोड़ि अपने स्वरूप विषें क्यों नाही तिष्टे हे ? यह हमारे अचरज है[2]।" इस प्रकार आचार्यों ने शुद्धनय का उपदेश देकर यह स्पष्ट कर दिया कि इस नय के सन्मुख रहना उचित है। क्योंकि इस शुद्धदृष्टि से ही भेदविज्ञान हो सकता है, निर्मल आत्मा का स्वभाव प्रकट होता है और परमानन्द का अनुभव होता है। जब निश्चयनय के श्रद्धान से ये सभी सिद्धियाँ प्राप्त होती है, तो फिर आचार्यों ने व्यवहारनय का उपदेश क्यों दिया ?––यह एक प्रश्न उपस्थित होता है। साथ ही यह भी समझ लेना आवश्यक है कि व्यवहारनय को अभूतार्थ व असत्यार्थ क्यों कहा है ? इसमें वास्तविकता क्या है ?

व्यवहारनय क्या है ?

जो वस्तुगत धर्मों में किसी अपेक्षा से भेद का उपचार करता है, उसे व्यवहारनय कहा गया है। इसके विपरीत निश्चयनय है[3]। वास्तव में पर के

---

१. एवं ववहारणओ पडिसिद्धो जाण णिच्छयणयेण।
णिच्छयणयसल्लीणा मुणिणो पावंति णिव्वाणं॥ समयसार, गा. २७२

२. समयसारकलश, श्लो. ११ की वचनिका।

३. जो सियभेदुवयारं धम्माणं कुणइ एगवत्थुस्स।
सो ववहारो भणिओ विवरीओ णिच्छयो होदि॥ नयचक्र, गा. २६४

योग से जो भेद रूप कहा जाता है वह व्यवहारनय है। इस प्रकार व्यवहारनय का प्रयोग दो अर्थों में किया जाता है। प्रथम संग्रहनय से ग्रहण किए हुए पदार्थ को भेद रूप से व्यवहार में लाने के कारण इसे व्यवहारनय कहते हैं[1]। दूसरे पर के आश्रय से जो होता है, उसे व्यवहारनय कहते हैं। दूसरे शब्दों में पर के आश्रय से या पर के गुणों तथा पर्यायों के आश्रय से अथवा स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव के आश्रय से भेद का उपचार कर जो वस्तु को विषय करता है, वह व्यवहारनय है। इसे ही पर्यायार्थिक नय कहते हैं। इसमें समस्त व्यवहार उपचार मात्र होता है[2]। वास्तव में सिद्धान्त भिन्न है और उससे व्यवहार भिन्न है। संग्रहनय के द्वारा संगृहीत पदार्थों मे विधि पूर्वक जो विभाजन किया जाता है, वह सामान्य से भिन्न है। क्योंकि सर्वसंग्रहनय ने 'सत्' ऐसा सामान्य ग्रहण किया था, किन्तु व्यवहार नहीं चल सकता था इसलिए यह भेद किया जाता है–जो सत् है वह द्रव्य है या गुण? द्रव्य भी जीव है या अजीव? जीव और अजीव सामान्य से भी व्यवहार नही चल सकने के कारण देव, मनुष्य आदि पर्यायों से भेद कर व्यवहार किया जाता है[3]। संग्रहनय के दो भेद कहे गए हैं–परसंग्रह और अपरसंग्रह। परसंग्रहनय का विषय सत्ता मात्र शुद्ध द्रव्य है। यह नय सत्ता के सम्पूर्ण भेद-प्रभेदों का न तो निषेध ही करता है और न विधि अर्थात् उनसे उदासीन रहता है[4]। अपरसंग्रहनय समस्त द्रव्यों मे व्याप्त द्रव्यत्व तथा समस्त पर्यायों में व्याप्त पर्यायों को विषय करता है। यह पदार्थ में पाए जाने वाले भेदों को एकत्व रूप से संग्रहीत कर जानता है। जिस प्रकार यह सम्पूर्ण द्रव्य मे व्याप्त द्रव्यत्व को जानता है, वैसे ही पर्यायत्व को

---

१. "संग्रहेण गृहीतार्थस्य भेदरूपतया वस्तु व्यवह्रियत इति व्यवहारः।" आलाप-पद्धति, पृ. १९८

२. पर्यायार्थिक नय इति यदि वा व्यवहार एव नामेति।
एकार्थो यस्मादिह सर्वोऽप्युपचारमात्रः स्यात्॥ पंचाध्यायी, १,५२१

३. *"समस्तग्रहणं संग्रहो यथा सद् द्रव्यं घट इत्यादि। 'सत्' इत्युक्ते सत्तासम्बन्धार्हाणा* द्रव्यपर्यायतद्भेदप्रभेदानां तदव्यतिरेकात् तेनैकत्वेन संग्रहः। "द्रव्यम्' इति चोक्ते जीवाजीवतद्भेदप्रभेदानां द्रव्यत्वाविरोधात्तेनैकत्वेन संग्रहः"–तत्त्वार्थवार्तिक, १,३३

४. शुद्धद्रव्यमभि प्रेतिसन्मात्रं संग्रहः परः।
स चाशेषविशेषेषु सदौदासीन्यभागिह॥ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, श्लो. ६५

भी जानता है। अतः व्यवहारनय इस अपरसंग्रह द्वारा गृहीत पदार्थों का विधिपूर्वक विभाग करता है जो उपचार कथन रूप व्यवहार से भिन्न है[1]।

आचार्य कुन्दकुन्द ने व्यवहारनय को अभूतार्थ कहा है[2]। अभूतार्थ को ही असत्यार्थ कहते हैं। भूतार्थ का अर्थ है–सत्ता रूप से पदार्थ। 'भूत' का अर्थ है : विद्यमान (सत्ता)। अर्थ माने पदार्थ है। दूसरे शब्दों में सत्ता रूप से वस्तु जैसी है, उसे वैसी बताने वाला निश्चयनय है और वस्तु जैसी नहीं है, परन्तु पर्याय के संयोग से उसे उस रूप कहा जाता है–इस उपचार से कथन करने वाला व्यवहार नय है। व्यवहार नय पर का आश्रय ले कर कथन करता है। वर्तमान में जो पर्याय द्रव्य के साथ है, वह सदा बनी रहने वाली नही है। इसलिए उसे द्रव्य कहना उपचार का कथन है। द्रव्य पर्याय मात्र नही है। अपनी-अपनी सत्ता को सभी द्रव्य ग्रहण किए हुए है। द्रव्य अखण्ड है। उसमें कोई भेद नहीं है। व्यवहारनय भेद तथा उपचार से वस्तु का व्यवहार करता है। इसलिये उसे असद्भूत कहा जाता है। क्योंकि सभी नैमित्तिक भाव मूर्त होने से जीव के स्वभाव में उपलब्ध नही होते, किन्तु व्यवहार नय से वे सभी भाव जीव के माने जाते है। इस प्रकार अभेद व अनुपचार में भेद व उपचार मानना असत्यार्थ है। फिर भी, व्यवहार को इसलिए आवश्यक माना जाता है कि इससे असत् कल्पनाओं की निवृत्ति हो जाती है और यह स्वयं साधन रूप है।

यद्यपि निश्चय की दृष्टि से व्यवहार असत्य है, किन्तु अपनी लौकिक प्रवृत्ति की दृष्टि से व्यवहारनय सत्य है। लोक मे ही उसकी सत्यता है, परमार्थ मे किंवा मोक्षमार्ग मे वह असत्यार्थ है। भले ही जब तक आत्मा की पूर्ण विशुद्ध दशा प्रकट नही हुई, तब तक प्रवृत्ति की अपेक्षा उसे प्रयोजनीय माना जाता हो; किन्तु श्रद्धान की अपेक्षा व्यवहार नय हेय है, प्रयोजनीय नही है। सच्ची मान्यता तो यही है कि जो असद्भूत है, वह कभी सत्य का दर्शन, प्रतिपादन नही कर सकता। शुद्ध दृष्टि के अवलम्बन से ही शुद्ध दशा की प्राप्ति हो सकती है। सामान्य रूप मे शुद्ध द्रव्य का कथन करने

१. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, श्लो. ६९

२. ववहारो अभूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
सुद्धणयमस्सिदो खलु सम्भाइट्ठी हवदि जीवो ।। समयसार, गा. ११

वाला निश्चयनय है और अशुद्ध द्रव्य का कथन करने वाला व्यवहारनय है। व्यवहारनय इसीलिये असत्य है कि वह वस्तु के शुद्ध रूप व स्वभाव का कथन नही करता। एक वस्तु से दूसरी वस्तु नहीं बनती। सभी वस्तुएँ अपने स्वभाव में रहती हैं। किन्तु व्यवहार नय उनका जैसा स्वरूप है, वैसा नहीं कहता।

व्यवहारनय के तीन भेद कहे गए हैं—सद्भूत, असद्भूत और उपचरित। सद्भूत व्यवहारनय अभेद रूप है;[1] वस्तु में भेद को उत्पन्न करने वाला है। यह गुण-पर्यायो से तथा कारक-भेद से द्रव्य मे संज्ञादिक भेद करता है। सद्भूत व्यवहारनय के दो भेद है—शुद्ध सद्भूतव्यवहारनय और अशुद्ध सद्भूतव्यवहारनय। शुद्ध गुण-गुणी में, शुद्ध पर्याय-पर्यायी में भेद करने वाला शुद्ध सद्भूत व्यवहार नय है और अशुद्ध गुण-गुणी, पर्याय-पर्यायी मे भेद करने वाला अशुद्ध सद्भूत व्यवहार नय है। इसे उपचरित सद्भूत व्यवहारनय भी कहते हैं। जो अन्य के गुणों को अन्य का कहता है, वह असद्भूत व्यवहार नय है। उसके तीन भेद है—सजाति, विजाति और मिश्र। उनमें से भी प्रत्येक के तीन-तीन भेद हैं[2]।

जैन सिद्धान्त मे विविध नयों मे वस्तु-स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। इसलिये व्यवहार को सर्वथा असत् नहीं मानना चाहिए। पर्याय की दृष्टि मे व्यवहार को सत् कहा गया है, परंतु द्रव्यदृष्टि से असत् है। कहा भी है—जिनेन्द्रदेव ने सर्वत्र पर्याय रूप से व्यवहार को सत् कहा है। जो व्यवहार को सत् नही मानता उसके मत में संसार और मोक्ष के कारण कैसे बन सकते हैं?[3] यह कथन निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध की अपेक्षा है। क्योंकि शुद्ध द्रव्य में न तो बन्ध है और न मोक्ष। फिर, परमार्थ से जीव का जो स्वभाव है, उसमें भी भेद का उपचार कर कथन करना व्यवहारनय कहा जाता है। निश्चय

---

१. गुणपज्जयदो दव्वे कारकसब्भावदो य दव्वेसु।
सण्णाइहिय भेयं कुणइ सब्भूयसुद्धियरो॥ नयचक्र, गा. २१९

२. अण्णेसिं अण्णगुणा भणइ असब्भूय तिविह भेदोवि।
सज्जाइ इयर मिस्सो णायव्वो तिविहभेदजुदो॥ नयचक्र, गा. २२२

३. सव्वत्थ पज्जयादो संतो भणिओ जिणेहि ववहारो।
जस्स ण हवेइ संतो हेऊ दोण्हं पि तस्स कुदो॥ वही, गा. २३४

नय से तो जीव अनन्त धर्मों का एक अखण्ड पिण्ड है। उसकी दृष्टि में आत्मा में दर्शन, ज्ञान और चारित्र का भी भेद नही है। आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं : नयों के विकल्पों के बिना निश्चल, निर्विकल्प भाव को प्राप्त जो आत्मतत्त्व का रहस्य है और निश्चय से स्वानुभूति के रूप में प्रकाशित होता है, वह तत् स्वरूप है। वही भगवान् है, पवित्र पुराण-पुरुष है। उसे ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान या कुछ अन्य कहें, सब एक ही है—जो कुछ है सो है[1]। 'नयचक्र' में भी यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि निश्चयनय से जो जीव का स्वभाव सब जीवों में पाया जाता है, भेद के उपचार से वह भी व्यवहार है—ऐसा स्पष्ट जानो[2]। वास्तव में वस्तु-स्वरूप का ज्ञान निरपेक्ष नय से नही हो सकता। मिथ्यादृष्टि का तो भेदरूप उपचार तथा निश्चय मिथ्या ही होता है[3]. "व्यवहार अभूतार्थ है, सत्य-स्वरूप का निरूपण नही करता, किसी अपेक्षा उपचार से अन्यथा निरूपण करता है। तथा शुद्धनय जो निश्चय है वह भूतार्थ है, जैसा वस्तु का स्वरूप है, वैसा निरूपण करता है। इस प्रकार इन दोनों का स्वरूप तो विरुद्धता सहित है[4]।" जिस प्रकार आचार्यों ने जीव तत्त्व को समझाने के लिए, जीव और अजीव में भेद-विज्ञान हेतु अजीव तत्त्व का भी निरूपण किया है, ठीक उसी प्रकार निश्चय तथा व्यवहारनय का निरूपण किया है। प्रश्न यह है कि यदि व्यवहारनय त्याज्य एवं असत्यार्थ है, तो आगम में इसका उपदेश क्यों दिया गया है ? निश्चय तो साध्य है, व्यवहार साधन है ?[5] पं. दौलतरामजी ने भी "कारण सो ववहारो"

---

१. आक्रामन्नविकल्पभावमचलं पक्षैर्नयाना विना
सारो य: समयस्य भाति निभृतैरास्वाद्यमान. स्वयम्।
विज्ञानैकरस. स एष भगवान् पुण्य: पुराण: पुमान्
ज्ञानं दर्शनमप्ययं किमथवा यत्किंचनैकोऽप्ययम् ।। समयसारकलश, ९३

२. जो चिय जीवसहावो णिच्छयदो होइ सव्वजीवाण।
सो चिय भेदुवयारो जाण फुड होइ ववहारो ।। नयचक्र, गा. २३८

३. भेदुवयारं णिच्छय मिच्छादिट्ठीण मिच्छरूवं खु।
सम्मे सम्मा भणिया तेहि दु बंधो व मोक्खो वा वही, गा. २३९

४. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवा अधिकार, पृ. २४९

५. णिच्छयववहारणया मूलिमभेया णयाण सव्वाण।
णिच्छयसाहणहेऊ दव्वयपज्जत्थिया मुणह ।। नयचक्र, गा. १८२

कहकर व्यवहार का परिचय दिया है[१]। वास्तव में जिस प्रकार धर्म एक है, आत्मा का स्वरूप एक है, उसी प्रकार मोक्ष का मार्ग एक है। केवल समझाने के लिए मोक्षमार्ग और उसकी दो दृष्टियों का जैन आगम ग्रन्थों में वर्णन किया गया है। इसका कारण यही है कि जैसे आर्येतर जातियों को समझाने के लिए उनकी भाषा का आश्रय लेना पड़ता है, उसी प्रकार से व्यवहारी जनों को व्यवहार की भाषा में उपदेश देना पड़ता है[२]। जन साधारण शुद्धनय को जानते नहीं हैं। इसलिये सीधे शुद्धनय की भाषा में समझाने पर उनकी कुछ समझ में नहीं आ सकता है। किन्तु अशुद्धनय की भाषा में शुद्धनय की बात कहने पर उन्हें उसका बोध हो सकता है। इस विवशता, मजबूरी को ध्यान में रखकर आचार्यों ने व्यवहार के द्वारा परमार्थ का उपदेश दिया है। वस्तुतः उपदेश देना भी व्यवहार है। बिना उपदेश के परमार्थ का संकेत भी नहीं किया जा सकता है। अतएव व्यवहार को जो निश्चय का कारण बताया गया है, वह केवल समझने के लिए है; अनुसरण करने के लिए नहीं है। आचार्य अमृतचन्द्र ने स्पष्ट रूप से निर्देश किया है कि व्यवहारनय म्लेच्छ की भाषा के समान है, जो परमार्थ का प्रतिपादक होने से उपन्यास योग्य है; किन्तु ब्राह्मण को म्लेच्छ नहीं हो जाना चाहिए। इसी प्रकार व्यवहारनय के अनुसार प्रवृत्ति नहीं करना चाहिए[3]। यह कथन निश्चयनय की दृष्टि से है। क्योंकि निश्चय में अभेद-रत्नत्रय का उपदेश दिया गया है, किन्तु व्यवहार में भेदरत्नत्रय का प्रतिपादन किया गया है। यह सुनिश्चित है कि वीतराग भाव ही मोक्षमार्ग है। जो इसे नहीं पहचानते है, उनको यदि उनकी अज्ञानता पूर्वक समझ के अनुसार उपदेश देते रहें या वैसे ही समझाते रहें, तो वे कभी समझ नही सकते है। इसलिये उनको व्रत, तप, शील, संयम आदि का महत्त्व बताकर वीतराग भाव की विशिष्टता बतलाते है, जिससे वीतराग भाव की पहचान हो।

---

१. सम्यग्दर्शन ज्ञान चरन शिव, मग सो द्विविध विचारो।
जो सत्यारथ-रूप सो निश्चय, कारण सो ववहारो।। छहढाला, ३, १

२. द्रष्टव्य है—समयसार, गाथा ८

३. "एवं म्लेच्छस्थानीयत्वाज्जगतो व्यवहारनयोपि म्लेच्छभाषास्थानीयत्वेन परमार्थ-प्रतिपादकत्वादुपन्यसनीयः, अथ च ब्राह्मणो न म्लेच्छितव्य इति वचनाद्-व्यवहारनयो नानुसर्तव्यः।" —समयसार, गाथा ८ की आत्मख्याति टीका।

इस प्रकार व्यवहार से निश्चय का उपदेश दिया जाता है[1]। और यह कहा जाता है कि व्यवहार के बिना निश्चय की कदापि सिद्धि नहीं होती; क्योंकि व्यवहार निश्चय का साधन कहा गया है[2]। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं समझ लेना चाहिए कि व्यवहार करते-करते निश्चय हो जाएगा। यदि व्यवहार से परमार्थ सिद्ध हुआ होता, तो आज तक कभी का हो गया होता? यथार्थ में व्यवहार केवल निश्चय के प्रतिपादन में साधन है। व्यवहारमोक्ष-मार्ग का सर्वथा निषेध नहीं है; वह तो साधन है। कैसा साधन है? परद्रव्य की ओर संलग्न व्यवहारी जनों की जो बुद्धि है और पर को ही सत्य समझकर उनको जुटाने का प्रयत्न करते रहते हैं; क्योंकि उनसे सुख मिलता है, यह जो मान्यता है, इसी का नाम मिथ्यात्व है। इस बुद्धि को हटाने की दृष्टि से, परद्रव्य का निमित्त हटने की अपेक्षा से व्रत, शील, संयम आदि को मोक्षमार्ग कहा गया है। वास्तव में यह मोक्षमार्ग नहीं है। यहां पर फिर यह प्रश्न उठता है कि क्या केवल व्यवहारनय उपदेश का साधन मात्र है, वह अपनी दृष्टि से सत्यार्थ नहीं है और अपना कोई प्रयोजन नहीं साधता है? आचार्यकल्प पण्डितप्रवर टोडरमलजी इस प्रश्न का अत्यन्त सुन्दर समाधान करते हुए कहते हैं :

"आप भी जब तक निश्चय नय से प्ररूपित वस्तु को न पहिचाने, तब तक व्यवहार मार्ग से वस्तु का निश्चय करे। इसलिये निचली दशा में अपने को भी व्यवहारनय कार्यकारी है। परन्तु व्यवहार को उपचार मात्र मान कर उसके द्वारा वस्तु को ठीक प्रकार समझे, तब तो कार्यकारी है। परन्तु यदि निश्चयवत् व्यवहार को भी सत्यभूत मानकर 'वस्तु इस प्रकार ही है'—ऐसा श्रद्धान करे, उल्टा अकार्यकारी हो जाए[3]।" 'पुरुषार्थ सिद्ध-उपाय' में भी कहा गया है कि अज्ञानी जीवों को ज्ञान कराने के लिए व्यवहारनय का उपदेश किया गया है। इसकी व्याख्या करते हुए पण्डितप्रवर टोडरमलजी लिखते हैं। उनके ही शब्दों में : "अज्ञानी जीवनि कों आचार्य ने आत्मा ऐसा नाम ले करि उपदेश दिया, तब ए कछु न जानें, आचार्य की

---

१. द्रष्टव्य है मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवां अधिकार, पृ. २५२

२. णो ववहारेण विणा णिच्छयसिद्धी कया वि णिद्दिट्ठा।
साहणहेऊ जह्मा तस्स य सो भणिओ ववहारो ।। नयचक्र, गा. २९६

३. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवां अधिकार, पृ. २५२ से उद्धृत।

तरफ देखि रहे। तहाँ निश्चय-व्यवहार नय के ज्ञायक आचार्य व्यवहार नय करि भेद उपजाय कही। जो यह कोऊ देखनहारा, जाननहारा, आचरन करनहारा पदार्थ है, सोई आत्मा है, तब सहज परमानन्द दशा कों प्राप्ति होय। उस आत्मा का निज स्वरूप करि अंगीकार करे है। इस भांति यह सद्भूत व्यवहारनय का उदाहरण दिया। अब असद्भूत व्यवहार नय का उदाहरण कहिये है; जैसे माटी का घड़ा घृत करि संयुक्त है, तिसकों व्यवहार करि घी का घड़ा कहिये है। यहाँ कोई पुरुष जनमतै उसको घी का घड़ा जाने है। जो कोई उसको घी का घड़ा कहि कर समझाते, तो समझे और जो माटी का कहे, तो और कोई कोरा घड़ा का नाम समझे। निश्चय करि विचारिये तो घड़ा है सो माटी ही का है, परन्तु उसके समझाने के निमित्त घी का घड़ा ऐसा नाम करि कहिये है, तैसे चैतन्य स्वरूप आत्मा कर्मजनित पर्याय करि संयुक्त है, तिस कूं व्यवहार करि देव, मनुष्य इत्यादिक नाम करि कहिये है। इहां अज्ञानी अनादि तें उस आत्मा को देव, मनुष्य इत्यादि स्वरूप ही जाने है। जो कोई इनको देव, मनुष्य नाम कहि करि समझाते, तो समझे और चैतन्य स्वरूप आत्मा का नाम कहे, तो और कोई परम ब्रह्म परमेश्वर का नाम समझे। निश्चय करि विचारिये तो आत्मा है सो चैतन्य स्वरूप ही है, परन्तु इनके समझाने के वास्ते आचार्य गति, जाति भेद कर जीव का निरूपण करे है। इस भांति अज्ञानी जीवनि कूं ज्ञान उपजाने के निमित्त व्यवहार का उपदेश आचार्य करे है[1]।" "फिर, वस्तु की सिद्धि एक नय से नहीं होती है। क्योंकि शुद्ध साध्य की प्राप्ति में निश्चय नय साधकतम है, व्यवहार नय तो अशुद्ध का द्योतन करने वाला है[2]। शुद्धात्म-परिणमन की कथनी छोड़कर जो अशुद्ध-नय से अशुद्ध आत्मा का प्रतिपादन करता है, उससे अशुद्ध आत्मा का ही लाभ होता है[3]। अतएव आचार्यों का यह कथन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि जिनकी दृष्टि व्यवहार में ही मोहित है, वे परमार्थ को उसी प्रकार नहीं

---

१. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक ६ की भाषा-वचनिका

२. "किन्त्वत्र निश्चयनयः साधकतमत्वादुपात्तः, साध्यस्य हि शुद्धत्वेन द्रव्यस्य शुद्धत्वद्योतकत्वान्निश्चयनय एव साधकतमो न पुनरशुद्धत्वद्योतको व्यवहारनयः।" –प्रवचनसार, गाथा १८९ की तत्त्वप्रबोधिनी टीका।

३. प्रवचनसार, गा. १९० तथा–समयसार, गा. १५

जानते, जैसे कि तुष में लुभाने वाले चावल को नहीं जानते[1]। यह भी ध्यान देने योग्य है कि श्रावकधर्म और मुनिधर्म जैसे भेद भी व्यवहारनय के कारण है। व्यवहारनय की दृष्टि में मुनिलिंग और गृहीलिंग है, किन्तु निश्चयनय मोक्ष मार्ग में कोई भी लिंग स्वीकार नहीं करता[2]। इसलिये निश्चयनय मोक्षमार्ग का साधक है। इस परमार्थ दृष्टि को प्राप्त कर समयसार का अनुभव किया जा सकता है। समयसार से उत्कृष्ट अन्य कुछ भी नहीं है।

नय : दुर्नय

जैसे दृष्टि में दोष आ जाने पर हम काने या अन्धे हो जाते है और फिर वह दृष्टि काम की नही रहती, वैसे ही नय के निरपेक्ष होने पर वह मिथ्या या दुर्नय हो जाता है। क्योंकि नय प्रमाण से गृहीत अर्थ के एक देश को जानता है। हमें सामान्य रूप से अखण्ड वस्तु का ज्ञान हो नही सकता। इसलिए प्रमाण के एक अश का ज्ञान नय मे होता है। यद्यपि नय एक धर्म को ग्रहण करता है, किन्तु इसके साथ ही वह अन्य धर्मों की अपेक्षा भी रखता है। सुनय दूसरे धर्मों का निराकरण नही करता, किन्तु दुर्नय अन्य धर्मों का निराकरण कर एक धर्म का निरपेक्ष अस्तित्व सिद्ध करता है[3]। घट के नित्यत्व को ग्रहण करने वाला नय यदि अनित्यत्व आदि धर्मों का निराकरण न करके उनकी अपेक्षा रखता है, तो वह सम्यक् नय है। और यदि वह अनित्यत्व आदि धर्मो का निराकरण करता है, तो वही दुर्नय या मिथ्यानय हो जाता है। आचार्य सिद्धसेन ने इस विषय को बहुत खोलकर लिखा है। उनका कथन है कि द्रव्यार्थिकनय का जो विषय है, वह व्यवहारनय का विषय नही है। और जो पर्यायार्थिकनय का विषय है, वह निश्चय नय की दृष्टि मे अवस्तु है। इसलिए दोनों अपने-अपने विषय के प्रतिपादक तथा पोषक हैं, किन्तु एक-दूसरे के विषय को अवस्तु

---

१. व्यवहारविमूढदृष्टय: परमार्थं कलयन्ति नो जना.।
तुषबोधविमुग्धबुद्धय. कलयन्तीह तुषं न तण्डुलम् ।। समयसारकलश, श्लो० २४२

२. ववहारिओ पुण णओ दोण्णि वि लिंगाणि भणइ मोक्खपहे।
णिच्छयणओ ण इच्छइ मोक्खपहे सव्वलिंगाणि ।। समयसार, गा. ४१४

३. अर्थस्यानेकरूपस्य धी. प्रमाण तदंशधी.।
नयो धर्मान्तरापेक्षी दुर्नयस्तन्निराकृतिः ।। अष्टशती में उद्धृत

मानते हुए भी दोनों ही एक-दूसरे का निराकरण नहीं करते । कोई भी नय अपनी मर्यादा का अतिक्रमण कर अन्य किसी नय का निराकरण नही करता । अपनी इस व्यवस्था को जो नय लाँघता है, वही दुर्नय या मिथ्यानय कहा जाता है[1] । यदि सामान्य-विशेष से युक्त द्रव्य को एक साथ ग्रहण करने वाला कोई नय होता, तो एक तीसरा नय भी मान लिया जाता, किन्तु ऐसा कोई तीसरा नय नहीं है। मूल मे तो दो ही नय है । अपने-अपने विषय को पूर्ण रूप से कहने पर भी ये तब तक एकान्त रहते हैं, जब तक परस्पर सापेक्ष रूप मे अपने विषय का कथन नही करते । सापेक्ष कथन होने पर इनमे अनेकान्त होता है और ये सम्यक् कहे जाते हैं[2] । नयों में से कोई भी नय उभयवाद का प्रतिपादक नही है । अत: दोनों ही नयों को स्वतन्त्र रूप से स्वीकार किया गया है । स्वतन्त्र होने पर भी नयों में परस्पर मैत्री कही गई है । क्योंकि सत् को लक्ष्य मे रखकर दोनों ही अपने-अपने विषय का प्रतिपादन करते है । जिस प्रकार गुण द्रव्य के आश्रित रहते हैं, वैसे ही पर्याय भी द्रव्य के आश्रित रहती है । ऐसा समझ कर जो नय आपस मे मित्रता नही रखते और परस्पर में एक-दूसरे का तिरस्कार कर अपने विषय का एकान्त से कथन करते है, वे सब मिथ्यानय है । मूलनय की भांति उत्तरनय भी अपने-अपने विषय का प्रतिपादन करने मे संलग्न रहते हैं[3] । द्रव्यार्थिक नय जब सर्वव्यापक सत्ता सामान्य को विषय करता है, तब उसकी दृष्टि वस्तु के भीतर रहे हुए विशेष का लोप नही करती, किन्तु उसकी उपेक्षा कर देती है । इसी प्रकार पर्यायार्थिक नय जब वस्तुगत विशेष को विषय करता है, तब वह उसके भीतर वर्तमान सत्ता सामान्य का लोप नहीं करता है, किन्तु उसकी उपेक्षा कर देता है[4] । उपेक्षा

---

१. एए पुण संगहओ पाडिक्कमलक्खणं दुवेण्हं पि ।
तम्हा मिच्छादिट्ठी पत्तेयं दो वि मूलणया ।। सन्मतिसूत्र, १.१३

२. ण य तइओ अत्थि णयो ण य सम्मत्तं ण तेसु पडिपुण्णं ।
जेण दुवे एगंता विभज्जमाणा अणेगंतो ।। सन्मतिसूत्र,१,१४

३. जह एए तह अण्णे पत्तेयं दुण्णया णया सव्वे ।
हंदि हु मूलणयाणं पण्णवणे वावडा ते वि ।। सन्मतिसूत्र,१,१५

४. पज्जवणयवोक्कंत वत्थुं दव्वट्ठियस्स वयणिज्जं ।
जाव दविओवओगो अपच्छिमवियप्पिणिव्वयणो ।। वही,१,८

का अर्थ पर-पक्ष की अपेक्षा न करना समझना चाहिए; क्योंकि उसे गौण कर दिया जाता है, किन्तु इससे उसका सर्वथा अभाव नहीं हो जाता। इस प्रकार सापेक्षनय तो कार्यकारी होता है, किन्तु मिथ्यानय कार्यकारी नही है। सम्यक्‌नय से ही समस्त व्यवहारों की सिद्धि कही गई है। मिथ्या नय मे परपक्ष उड़ा दिया जाता है, इसलिये उसमे विकलता है। एक वस्तु के परस्पर जिन विरोधी अनेक धर्मों मे अविरोध सिद्ध करने के लिए नय का प्रयोग किया जाता है, वह उद्देश्य मिथ्यानय से सिद्ध नही होता है। अतएव नय मिथ्या वे ही होते है जो निरपेक्ष तथा अन्य धर्मों के अपलापक होते है। परन्तु जो नय सापेक्ष होते है, वे सम्यग्नय होते है। परस्पर अपेक्षा रखना स्वाभाविक ही है। क्योंकि व्यवहारनय के अनुसार क्रोध, मान, माया और लोभ दोष (द्वेष) व राग है। जहाँ राग-द्वेष है, वहाँ ससार है। किन्तु ऋजुसूत्रनय की दृष्टि से ये राग-द्वेष कुछ भी आत्मा में नहीं है।[1] इस प्रकार के कथनों मे परस्पर विरोध है, किन्तु इस विरोध मे शत्रुता न रखकर अपेक्षा ही रखना चाहिए। यही आचार्यो का मन्तव्य है। इस मन्तव्य के अनुसार निश्चयनय अपने नय का कथन करे और यह बताए कि वस्तु का स्वरूप ऐसा ही है, तो यहाँ तक उस के सुनय होने में कोई आपत्ति नही है, किन्तु जहाँ वह व्यवहारनय की निन्दा आरम्भ कर दे, समझ लेना चाहिए कि वही दुर्नय है। इनमें सापेक्षता इसलिये आवश्यक है कि विभिन्न निरपेक्ष दृष्टियों मे एक ही वस्तु का कथन करने पर वे अखण्ड वस्तु के प्रतिपादक नहीं होते। अतः निरपेक्ष मिथ्या या दुर्नय ही है।

नयाभास क्या है?

सामान्यतः जो नय का कथन जान पड़े, पर नय न हो, उसे नयाभास कहते है। वास्तव मे नय के किसी भी पक्ष मे वस्तु का विरोध नही होता है, बल्कि वस्तु को ध्यान में रखकर उसके अन्तरंग-बहिरंग को विभिन्न अपेक्षाओं के अनुसार कहा जाता है। इसलिये नय की परिभाषा यह कही गई है कि प्रतिपक्ष का निराकरण किए बिना ही वस्तु के अंश को ग्रहण कर उसे समझाने वाला नय है; किन्तु जो विपक्ष का निराकरण या खण्डन करता है, वह

---

१. "ववहारणयस्स कोहो दोसो, माणो दोसो, माया, दोसो, लोहो पेज्जं। उजुसुदस्स कोहो दोसो, माणो णो दोसो णो पेज्जं, माया णो दोसो णो पेज्जं, लोहो, पेज्जं।"
—जयधवला, १,३३७-३८, पृ. ३६८

नयाभास है[1]। दूसरे शब्दों में सम्यक् एकान्त को नय कहते हैं और मिथ्या एकान्त को नयाभास कहा जाता है। इसे मिथ्या नय या दुर्नय भी कहते हैं। परमार्थ में तो नय केवल ज्ञेय हैं; उपादेय नहीं। क्योंकि दोनों ही नय अपनी-अपनी मर्यादा में रहकर वस्तु का कथन करते हे। यदि ये परस्पर एक-दूसरे को तिरस्कृत करने लगें, तो दुर्नय या मिथ्यानय कहे जायेंगे। कोई भी नय अपनी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करते। कहा भी है : जब कोई दृष्टि दूसरे का निराकरण करती हुई अपने विषय की पुष्टि करती है, तब निरपेक्ष कथन करने के कारण मिथ्या कही जाती है। किन्तु जब वही नयात्मक दृष्टि दूसरे नय के विषय का निराकरण नहीं करती हुई परस्पर सापेक्ष दृष्टि से कथन करती है, तब सम्यक् होती है[2]। वास्तव में जो नय नही है, किन्तु जिससे नय का आभास होता है वह नयाभास है।

नय का अर्थ दृष्टि है। हम विभिन्न दृष्टियों से अन्ततः वस्तु को ही समझना चाहते हे। अतः जो वस्तु के तत्, सत् स्वरूप को बतलाती है, वही दृष्टि मोक्षमार्ग में कार्यकारी है। इसलिये इस बात पर वल देने के लिए पंचाध्यायीकार ने यहाँ तक कहा है कि असद्भूत व्यवहार वास्तविक नहीं है। यदि पर की अपेक्षा ऐसा कहे, तो कह सकते हे; परन्तु ऐसा है नही। क्योकि वह जीव और शरीर दो भिन्न धर्मियो को एक निरूपित करता है। अतः स्वय अतद्गुण होने से तथा न्यायानुसार अव्यवहार के साथ कोई विशेषता न रखने के कारण नय न होकर नयाभास है। उसका व्यवहार सिद्धान्त विरुद्ध होने से अव्यवहार है और इसलिए वह अपसिद्धान्त है[3]। नयाभास कल्पना से

---

१. तत्राऽनिराकृतप्रतिपक्षो वस्त्वंशग्राही ज्ञातुरभिप्रायो नयः। निराकृतप्रतिपक्षस्तु नयाभासः।" —प्रमेयकमलमार्तण्ड, परिच्छेद ६, सूत्र ७४ की विवृति

२. तम्हा सव्वे वि णया मिच्छादिट्ठी सपक्खपडिबद्धा।
अण्णोण्णणिस्सिया उण हवंति सम्मत्तसब्भावा॥ सन्मतिसूत्र, १, २१

३ ननु चासद्भूतादिर्भवति स यत्रेत्यतद्गुणारोपः।
दृष्टान्तादपि च यथा जीवो वर्णादिमानिहास्त्विति चेत्॥ पंचाध्यायी, अ० १, श्लोक ५५२
तन्न यतो न नयास्ते किन्तु नयाभाससंज्ञकाः सन्ति।
स्वयमप्यतद्गुणत्वादव्यवहाराविशेषतो न्यायात्॥ वही, अ० १, श्लोक ५५३
सोऽयं व्यवहारः स्यादव्यवहारो यथापसिद्धान्तात्। अप्यपसिद्धान्तत्वं नासिद्धं स्यादनेकधर्मित्वात्॥ वही, अ० १, श्लोक ५६८

आरोपित होता है। कहा भी है : जो कल्पित द्रव्य और पर्यायों के विभाग को ग्रहण करने वाला नय है, उसे नयाभास समझना चाहिए, क्योंकि वह प्रमाण से बाधित है[1]।

कोई यह कहे कि हम तो दोनों नयों को एक जैसा समझते है अथवा इस नय से ऐसा मानते है, उस नय से वैसा मानते है, सो यह भी नयाभास है। ऐसी मान्यता वाले को नय की दृष्टि नही मिली है। इसी प्रकार यह माने कि हम श्रद्धान तो निश्चय का रखते हैं, पर प्रवृत्ति व्यवहार की करते है, तो यह भी नयाभास ही है। क्योंकि जिनागम मे यह कहा गया है कि निश्चय का निश्चयरूप और व्यवहार का व्यवहार रूप श्रद्धान करना योग्य है। एक नय का श्रद्धान करने मे तो एकान्त मिथ्यात्व होता है। फिर, प्रवृत्ति मे नय का प्रयोजन ही नही है। द्रव्य का परिणमन ही उसकी क्रिया है और उसकी परिणति ही प्रवृत्ति है[2]। प्रतीति तथा परिणति मे अत्यन्त भिन्नता है। सम्यक् प्रतीति तो शुद्धज्ञान की अनुभूति है और शुद्धात्म-स्वभाव में लीनता का नाम परिणति है। इसलिए दोनों को एक समझना भ्रम है। इस प्रकार जो यह समझते है कि इस नय से ऐसा है और उस नय से वैसा है तथा दोनों नयों रूप सम्यक् है, दोनो ही ठीक है, दोनों एक साथ मान लेने चाहिए—वास्तव मे वे नय के मूल अभिप्राय को नही समझते है। क्योंकि जहाँ तक जिस नय का प्रयोजन होता है, वही प्रयुक्त होता है। यदि हम निश्चय नय के प्रयोजनभूत विषय मे व्यवहार को घटाना चाहे, तो नही घट सकता; क्योंकि वहाँ वह प्रयोजनीय नही है। नय के प्रयोजन को समझे बिना हम जिनवाणी के मूल भाव को नही समझ सकते। वास्तव मे व्यवहार नय तो प्रतिपादन के लिए है, मान्यता के लिए तो निश्चयनय है।

आचार्यकल्प पण्डितप्रवर टोडरमलजी अत्यन्त सरल शब्दो में इस रहस्य को समझाते हुए कहते है : "अथवा यह ऐसा मानता है कि इस नय से आत्मा ऐसा है, इस नय से ऐसा है। सो आत्मा तो

---

१. कल्पनारोपितद्रव्यपर्यायप्रविभागभाक्।
प्रमाणबाधितोऽन्यास्तु तदाभासोऽवसीयताम्॥ नयचक्र, परिशिष्ट, श्लो. ७४

२. दृष्टव्य है—मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवां अधिकार, पृ. २५०

जैसा है वैसा ही है; परन्तु उसमें नय द्वारा निरूपण करने का जो अभिप्राय है, उसे नहीं पहिचानता। जैसे---आत्मा निश्चय से तो सिद्ध समान केवलज्ञानादि सहित तथा द्रव्यकर्म-नोकर्म-भावकर्म रहित है, और व्यवहारनय से संसारी मतिज्ञानादि सहित तथा द्रव्यकर्म-नोकर्म-भावकर्म सहित है--ऐसा मानता है। सो एक आत्मा के ऐसे दो स्वरूप तो होते नहीं हैं; जिस भाव ही का सहितपना, उस भाव ही का रहितपना एक वस्तु में कैसे सम्भव हो? इसलिए ऐसा मानना भ्रम है। तो किस प्रकार है? जैसे--राजा और रंक मनुष्यपने की अपेक्षा समान हैं, उसी प्रकार सिद्ध और संसारी को जीवत्वपने की अपेक्षा समान कहा है; केवलज्ञानादि की अपेक्षा समानता मानी जाय, सो तो है नही। संसारी के निश्चय से मति-ज्ञानादिक ही हैं, सिद्ध के केवलज्ञान है[1]।"

नय कैसे घटित होते हैं?

वस्तुतः नय का रहस्य द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक शब्दों में अन्तर्हित है। द्रव्यार्थिक को सत्यार्थ इसलिए कहा जाता है कि वह त्रैकालिक 'सत्' को विषय करता है। वस्तु के शुद्ध स्वरूप को बताना उसका कार्य है। पर्यायार्थिक नय उस को लक्ष कर भेद-रूप कथन करता है। जो वस्तु है ही नहीं अथवा जो वस्तु का स्वभाव या स्वरूप नहीं है, उसे कहने वाला नय कैसे हो सकता है? यही बात हमे नयो का प्रयोग करते समय विशेष रूप से ध्यान मे रखनी होगी। इसके बिना हम ऊपर-ऊपर से नयो का लक्षण समझ कर भी नयो को घटा नहीं सकते? अतएव वस्तुस्वरूप का निर्णय करने के लिए प्रथम निश्चयनय का आश्रय लेना चाहिए। बिना निश्चय के व्यवहारनय मात्र से वस्तु का यथार्थ परिज्ञान नहीं हो सकता। उदाहरण के लिए, द्रव्यार्थिक या निश्चयनय के अनुसार आत्मा अमूर्तिक है और द्रव्यकर्म मूर्तिक है। अमूर्तिक का मूर्तिक के साथ कैसे बन्ध हो सकता है? इसका विचार हम नय-पक्ष को ले कर करते हैं। व्यवहार नय कहता है कि जीव में कर्म बंधे हुए है। और कैसे बंधे हुए है? जीव के सभी प्रदेशों से बंधे हुए हैं। इसलिए कर्म जीव का स्पर्श किए हुए हैं। किन्तु शुद्ध नय की दृष्टि से जीव में कर्म बंधे हुए नही है और न वे किसी प्रकार उसका स्पर्श ही करते हैं[2]। सभी

---

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवां अधिकार, पृ. २५४

२. जीवे कम्मं बद्धं पुट्ठं चेदि ववहारणयभणिदं।
सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्धपुट्ठं हवइ कम्मं ।। समयसार, गा. १४१

द्रव्य अपनी-अपनी सत्ता में विद्यमान हैं। सभी द्रव्यों का परिणाम स्वभाव से सिद्ध है। इसलिए जो जिसका भाव है, वह उसका कर्ता है। पुद्गल द्रव्य भी जिस भाव को स्वयं करता है, वह उसका कर्ता है[1]। वस्तुतः जिस प्रकार निश्चय नय से आत्मा अमूर्तिक है, वैसे ही इस आत्मा के ज्ञान में न तो कदापि विकार होता है और न किसी प्रकार बन्ध होता है। आगम में बन्ध दो प्रकार का बताया गया है—तादात्म्य और नैमित्तिक सम्बन्धजन्य। तादात्म्य सम्बन्ध तो कभी पृथक् नहीं होता, जैसा कि गुण-गुणी का सम्बन्ध। अतः जीव और कर्म में तादात्म्य सम्बन्ध तो बन नहीं सकता। नैमित्तिक में भी पुद्गल-पुद्गल में स्पर्श निमित्तक जो संश्लेष बन्ध होता है, वह जीव-पुद्गल में नहीं होता। जीव और द्रव्यकर्म का अन्यान्य प्रदेशानुप्रदेश रूप बन्ध बतलाया गया है। जीव के मिथ्यादर्शनादि भावों को निमित्त कर जीव प्रदेशों का तथा कार्मण-वर्गणाओं का परस्पर अवगाहन कर अवस्थित होना, यही जीव का कर्म के साथ बन्ध है। अतः तात्त्विक दृष्टि से यही समझना चाहिए कि वास्तव में कर्म किसी रस्सी या जंजीर से जीव को बाँधता नहीं है। फिर भी, यह कहा जाता है कि क्या करू, ये कर्म मुझे घुमा रहे है, रुला रहे हैं, दारुण दुःख दे रहे है, सो यह सब उपचार का कथन है।

नयों का प्रयोग करते समय यह भी ध्यान में रखने योग्य है कि वस्तु-तत्त्व की यथार्थता का कथन व्यवहार नय नहीं कर सकता है। क्योंकि मूल द्रव्य तक उसकी दृष्टि नहीं पहुच सकती है। भेद रूप जितने भी विकल्प हो सकते है, वे सब पर्याय को ले कर होते है। व्यवहार नय का विषय पर्याय तक ही सीमित है। अतः वह वस्तु का कथन भी पर्याय की दृष्टि से ही करता है। जो जिसका विषय न हो, उस नय को अपने विषय से भिन्न ज्ञेयो मे प्रयुक्त नहीं करना चाहिए। जो व्यवहार नय का विषय हो, उसमे यदि निश्चयनय का प्रयोग किया जाए, तो हास्यास्पद ही होगा। प्रायः इन नयो के गलत प्रयोग से ही विवाद व विसंवाद उत्पन्न हो जाते है।

किसी भी वस्तु के सम्बन्ध मे जो प्रश्न किए जाते है, वे अस्ति या नास्ति रूप से होते है। जो हो चुका है, हो रहा है, होगा इन तीनों से अन्वित होने

---

१. स्थितेत्यविघ्ना खलु पुद्गलस्य स्वभावभूता परिणामशक्ति.।
तस्यां स्थितायां स करोति भावं यमात्मनस्तस्य स एव कर्ता॥

—समयसारकलश, श्लोक ६४

पर भी किसी एक समय की विवक्षा से कहा जाता है। व्यवहारनय कालादि का भेद होने पर भी अर्थभेद नहीं मानता। किन्तु शब्दनय काल, कारक, लिंग, संख्या, साधन और उपग्रह के भेद से अर्थभेद मानता है। इस प्रकार नयों में भेद होने पर भी वे परस्पर किसी का तिरस्कार नहीं करते। पर-पक्ष का लोप करने की उनकी प्रवृत्ति नहीं है। इतना ही नहीं, वस्तु अनन्तधर्मात्मक है---इस मूल प्रतिपत्ति के व्याघातक नय नही होते। वस्तु के किसी असाधारण गुण से वस्तु की पहचान करने से उसके सामान्य गुणों का लोप नही हो जाता। उदाहरण के लिए, आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं : यदि यह माना जाए कि एकान्त से ज्ञान आत्मा है, तो ज्ञान का अभाव हो जाएगा तथा आत्मा अचेतन हो जाएगी---अथवा विशेष गुण का अभाव होने से आत्मा का ही अभाव हो जाएगा। यदि यह माना जाए कि सर्वथा आत्मा ज्ञान है, तो निराश्रयता के कारण ज्ञान का अभाव हो जाएगा अथवा आत्मा की शेष पर्यायों का अभाव हो जाएगा और उनके साथ ही अविनाभावी आत्मा का भी अभाव हो जाएगा[1]। अतएव नयो को घटाते समय उनकी मूल प्रकृति, प्रवृत्ति, प्रयोजन तथा विषय का विचार करके ही प्रयोग करना चाहिए।

यह भी अच्छी तरह से समझने योग्य है कि व्यवहार नय सर्वथा व्यर्थ नही है, पर निश्चय नय की दृष्टि से असत्यार्थ अवश्य है; किन्तु संयोगी दशा तथा संसार को बताने के लिए मिथ्या नहीं है। यह अवश्य है कि अध्यात्म में नियम मे व्यवहारनय कार्यकारी नही है। केवल समझाने के लिए जिस व्यवहार की भाषा का आश्रय लेना पड़ता है, उतना ही व्यवहार नय का महत्त्व है। फिर, बिना निश्चयनय के मात्र व्यवहारनय व्यवहाराभास कहा गया है। क्योंकि कथन तो वस्तु का किया जाता है। यह मान्यता ठीक नहीं है कि किसी द्रव्यभाव का नाम निश्चय और किसी का नाम व्यवहार है। वास्तव में एक ही द्रव्य के भाव को उसके निजी स्वरूप से वर्णन करना निश्चय नय है, इसलिए उसे द्रव्य के शुद्ध स्वभाव में घटाना चाहिए। इसी प्रकार उस द्रव्य के भाव को उपचार से किसी प्रयोजनवश अन्य द्रव्य के भाव स्वरूप

---

१. "एकान्तेन ज्ञानमात्मेति ज्ञानस्याभावोऽचेतनत्वमात्मनो वि शेषगुणाभावादभावो वा स्यात्। सर्वथात्मा ज्ञानमिति निराश्रयत्वात्, ज्ञानस्याभाव आत्मनः शेष पर्याया-भावस्तदविनाभाविनस्तस्याप्यभावः स्यात्।"

—प्रवचनसार, गा २७ की तत्त्वप्रदीपिका टीका।

निरूपण करना व्यवहार है, इस कारण इसे द्रव्य के स्वरूप में नहीं घटाना चाहिए[1]। जैसे कि–दुनिया जानती है और व्यवहार भी करती है–"घी का डिब्बा लाओ", 'यह सडक कहा जाती है', 'यह जनाना डिब्बा है'। परन्तु आज तक कभी घी से डिब्बा बना नही, सडक चलने का काम करती नही और रेलगाडी का डिब्बा औरतो से नही बनता है। केवल हम लोक-व्यवहार चलाने के लिए इस प्रकार की भाषा का प्रयोग करते है। भाषा का प्रयोग स्वय औपचारिक है। अत इसे सत्यार्थ मान लेने से हमारी आत्मा का क्या कल्याण हो सकता है? परन्तु इसकी औपचारिकता समझे बिना भी हमारा काम नही चल सकता। इसलिए इस अवशता को ध्यान मे रख कर हमे नयो को समझ लेना है और उनकी प्रवृत्ति के अनुसार हमे यथास्थान उनको घटा लेना है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि द्रव्य की शुद्धता को समझे बिना उनकी शुद्धता का श्रद्धान हमे नही हो सकता। शुद्धता का वर्णन करने मे व्यवहारनय समर्थ नही है। इसलिए यह हमारे लिए प्रयोजनीय नही है। उदाहरण के लिए, आचार्य देवसेन ने कहा है कि सम्यग्दृष्टि का पुण्य नियम से ससार का कारण नहीं है, किन्तु मोक्ष का कारण है–यदि वह निदान-बन्ध नही करता है[2]। यहा पर ऐसा समझना चाहिए कि सम्यग्दृष्टि के पुण्य को जो मोक्ष का कारण बताया गया है, वह वास्तविक या यथार्थ नही है, केवल उपचार से (परम्परा से) ऐसा कहा गया है। क्योकि यदि पुण्य या प्रशस्त राग से मोक्ष होने लग जाए, तो फिर वीतरागता से क्या मिलेगा? वास्तव मे यह कथन वास्तविक नही है, क्योकि जहाँ सम्यग्दृष्टि का पुण्य मोक्ष का कारण बताया गया है, वहाँ भोग भी निर्जरा के कारण बताये गये है। परन्तु न तो पुण्य मोक्ष का कारण है और न भोग निर्जरा के कारण है। आचार्य अमृतचन्द्र कहते है–"क्योकि सम्यग्दृष्टि टकोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभावमय होने से ज्ञान की समस्त शक्ति को प्रगट करने मे प्रभावना करने वाला है। उसके ज्ञान की प्रभावना के वृद्धिगत नही होने मे बन्ध न होकर निर्जरा ही होती है[3]।" सिद्धान्त मे गुण-

---

१ द्रष्टव्य है 'मोक्षमार्गप्रकाशक', सातवा अधिकार, पृ २४९

२ सम्मादिट्ठी पुण्ण ण होइ ससार कारण णियमा।
मोक्खस्स होई हेउ जइ वि णिदाण ण सो कुणई॥ भावसग्रह, गा. ४०४

३ "यतो हि सम्यग्दृष्टि टकोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन ज्ञानस्य समस्तशक्तिप्रबोधेन प्रभावजननात्प्रभावनाकर ततोऽस्य ज्ञान प्रभावनाप्रकर्षकृतो नास्ति बन्धः किं तु निर्जरैव।"–समयसार, गा २३६ की आत्मख्याति टीका।

स्थानों की परिपाटी में चारित्रमोह के उदय निमित्त से सम्यग्दृष्टि के जो बन्ध कहा गया है, वह भी निर्जरा रूप ही है। इतना ही नही; सम्यग्दृष्टि के नवीन बन्ध भी रुक जाता है। पूर्वबद्ध कर्मो का नाश होने लगता है। वह ज्ञानानन्द स्वभाव का आस्वाद लेकर ज्ञान रूप हो कर नृत्य करने लगता है[1]। वास्तव में जितने-जितने अंश मे सम्यग्दृष्टि का राग घटता है, उतने-उतने अंश में वीतरागता आती है और वीतरागता के कारण निर्जरा, मुक्ति कही जाती है। पुण्य और भोग निर्जरा के कारण नहीं समझ लेना चाहिए। यही कारण है कि प्रशस्त राग रूप शुद्धात्मानुराग की चर्या जो शुभोपयोग है, वह श्रमणों के गौण होती है और गृहस्थों के मुख्य होती है। क्योंकि वीतरागता स्वरूप शुद्धात्म-परिणति के विरुद्ध उसका सम्बन्ध राग से है[2]। राग से कभी भी किसी भी रूप में न तो निर्जरा हो सकती है और न मुक्ति मिल सकती है। राग तो वीतरागता के विपरीत है और पुण्य प्रशस्त राग है। प्रशस्त राग उस शुद्ध जल के समान है जो नाव में छेद के जरिए भरता रहता है। नाव में चाहे गन्दा पानी भरे या चाहे साफ पानी भरे, दोनो ही अवस्थाओं में नाव संसार-समुद्र मे डूबने वाली है। उससे उद्धार होना कठिन है। इसी प्रकार चाहे राग हो या प्रशस्त राग हो, दोनों ही इस संसार के देने वाले हैं। प्रशस्त राग या पुण्य से देवलोक तक के भोग भोगने को मिल जायेंगे, लेकिन संसार नही छूटेगा। इस प्रकार नयो का वास्तविक प्रयोजन जान कर प्रसंग के अनुसार उन्हे घटाना चाहिए।

अनेकान्त क्या है ?

"अनेकान्त" शब्द 'अनेक' और 'अन्त' इन दो शब्दों से मिल कर बना हैं। अनेक का अर्थ है---परस्पर विरुद्ध शक्तिद्वय और अन्त का अर्थ है--- धर्म। एक ही वस्तु मे वस्तुत्व-निष्पादक अस्तित्व-नास्तित्व रूप परस्पर विरुद्ध सापेक्ष शक्तिद्वयों किवा विरोधी धर्मों का प्रतिपादन करना अनेकान्त

---

१. रुंधन बन्ध नवमिति निजै. सगतोऽष्टाभिरंगै :
प्राग्बद्ध तु क्षयमुपनयन् निर्जरोज्जृम्भणेन।
सम्यग्दृष्टि: स्वयमतिरसादादिमध्यान्तमुक्तं
ज्ञानं भूत्वा नटति गगनाभोगरंगं विगाह्य ।। समयसारकलश, श्लो. १६२

२. एसा पसत्थभूदा समणाणं वा पुणो घरत्थाणं।
चरिया परेत्ति भणिदा ता एव परं लहदि सोक्खं ।। प्रवचनसार, गा. २५४

कहा जाता है[1]। वस्तु अनेक विरोधी धर्मों से समन्वित है। अतः समस्त वस्तुएँ अनेकान्त स्वभाव वाली हैं। अनेकान्त का यह स्वरूप है कि जो वस्तु सत् है वही असत् है, जो एक है वही अनेक है, जो सत् है वही असत् है, जो नित्य है वही अनित्य है---इस प्रकार एक वस्तु में वस्तुत्व को निष्पन्न करने वाली परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशित होना अनेकान्त है[2]। वस्तु के विरुद्ध धर्मों के कथन में विरोध तभी सिद्ध होता है, जब कि निरपेक्ष रूप से कथन किया जाए। सापेक्ष कथन करने पर किसी प्रकार का विरोध प्रतीत नही होता। क्योंकि प्रत्येक वस्तु में सामान्य और विशेष दोनों अन्तर्हित रहते हैं। द्रव्यार्थिक नय सामान्य का प्रकाशन करता है और पर्यायार्थिक नय विशेष को प्रकाशित करता है। ऐसा कोई तीसरा उभयात्मक नय नही है जो दोनो का एक साथ कथन कर सके। इसी प्रकार एक ही वस्तु में विरोधी धर्मों के रहने पर भी वस्तु मे कोई विरोध उत्पन्न नही होता।

वास्तव मे अनेकान्त के विना वस्तु की सिद्धि नही होती। वस्तु स्वभाव से सिद्ध है तथा 'सत्' है। वस्तु एक होने पर भी अनेक गुणों, स्वभावों और पर्यायों की उपलब्धि होने से अनेक कही जाती है। पदार्थ द्रव्यमय है। द्रव्य गुणात्मक कहे गए हैं। द्रव्य के गुणों से पर्यायें प्रकट होती हैं। ज्ञानी वस्तु के मूल स्वरूप को जानता है, किन्तु मिथ्यादृष्टि पर्याय में ही विमुग्ध हो जाता है[3]। वस्तु मे स्वभाव का निर्देश तो होता ही है, पर किसी अपेक्षा से उस में परभाव भी कहा जाता है। क्योंकि वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। एक-एक नय वस्तु के एक-एक धर्म को ग्रहण करता है। इसलिए समझाने के लिए ऐसा भी कहा जाता है कि सब नयों का समूह वस्तु है। व्यवहार से नय और प्रमाण द्वारा जो गृहीत है, वह वस्तु है। जो नय और प्रमाण रूप युक्ति से शून्य है, वह

---

१ "अनेकान्त इति कोऽर्थः इति चेत् एकवस्तुनि वस्तुत्वनिष्पादकं--अस्तित्व-नास्तित्वद्वयादिस्वरूपं परस्पर विरुद्धसापेक्षशक्तिद्वयं यत्तस्य प्रतिपादने स्यादनेकान्तो भण्यते।" --समयसार, गा ४४५ की आ. जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति

२. "तत्र यदेव तत्तदेवातत्, यदेवैकं तदेवानेकं, यदेव सत्तदेवासत्, यदेव नित्यं तदेवानित्यमित्येकवस्तुवस्तुत्वनिष्पादकपरस्परविरुद्धशक्तिद्वयप्रकाशनमनेकान्तः।"
--समयसार, परिशिष्ट, गा ४१५ अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति टीका।

३. अत्थो खलु दव्वमओ दव्वाणि गुणप्पगाणि भणिदाणि।
तेहिं पुणो पज्जाया पज्जयमूढा हि परसमया ।। प्रवचनसार, गा. ९३

अवस्तु है। इस प्रकार नय-प्रमाण रूप युक्ति के द्वारा अनेकान्त ही वस्तु की सिद्धि करता है। वस्तु की प्रसिद्धि के साथ ही अनेकान्त सिद्धान्त के द्वारा तत्त्व की हेय व उपादेयता को प्रकट करता है। क्योंकि तत्त्व भी हेय और उपादेय होता है; किन्तु द्रव्य रूप तत्त्व (विकार) हेय है। निज द्रव्य में भी नय के योग से हेय और उपादेय जानना चाहिए। मिथ्यात्वी और सरागी आत्मा नियम से हेय है और उन से विपरीत सम्यक्त्वी वीतरागी आत्मा मोक्षार्थियों के ध्यान करने योग्य है[१]। यद्यपि गुण, पर्याय और स्वभाव द्रव्यरूप ही होते हैं, किन्तु द्रव्य मे अनन्त धर्म होने से एक समय में किसी एक धर्म को लेकर कथन किया जाता है। द्रव्य अपने स्वभाव में सदा स्थिर रहता है। सभी द्रव्यों में सामान्य स्वभावपर्याय पाई जाती है। किन्तु कर्मो से उत्पन्न होने वाले भाव हेय कहे जाते हे और कर्मों के क्षय से होने वाले भाव फलरूप ज्ञेय कहे जाते हे। उन सभी भावों मे से जीव का परमस्वभाव ही ध्यान करने योग्य है[२]।

वस्तु मे अर्थक्रिया ही सत् का लक्षण है। इसलिए वस्तु न तो सर्वथा सत्रूप मानी जा सकती है और न सर्वथा असत्रूप। एकान्त से आत्मा को शुद्ध माना जाए, तो फिर कर्म-कलंक के लेप से रहित सर्वथा निरंजन होगी और अशुद्ध माने तो अशुद्धमय होने से कदापि शुद्धता को प्राप्त नही होगी। अतएव अस्ति रूप से आत्मा निर्मल कही जाती है और पर रूप (नास्ति) से अशुद्ध कहने में आती है। क्योंकि एक ही वस्तु स्वभाव की अपेक्षा अस्ति-स्वभाव है तथा पररूप की अपेक्षा नास्तिस्वभाव है। वस्तु वस्तुत्वरूप से नित्य है, पर पर्याय रूप से अनित्य है। वस्तु में उत्पन्न होने वाली एक समय की पर्याय दूसरे समय में नष्ट हो जाती है। जो शरीर बचपन में देखा जाता है, वह किशोरावस्था में नहीं रहता और जो उस अवस्था मे लक्षित होता है, वह युवावस्था में परिवर्तित हो जाता है। भले ही, वस्तुओं में होने वाला परिवर्तन कालान्तर में परिलक्षित हो, किन्तु प्रत्येक समय में उनमे परिवर्तन

---

१ तच्चं पि हेयमियरं हेयं खलु होइ ताण परदव्वं।
णियदव्वे पि य जाणसु हेयाहेयं च णयजोये ॥
मिच्छा सरागभूदो हेयो आदा हवेइ णियमेण।
तव्विवरीओ झेओ णायव्वो सिज्झिकामेण ॥ नयचक्र, गा. २६२, २६३

२ हेया कम्मे जणिया भावा खयजा हु मुणसु फलरूवा।
झेओ ताणं भणिओ परमसहावो हु जीवस्स ॥ वही, गा. ५६

होता रहता है। जीव द्रव्य में यह परिवर्तन (परिणमन) संयोग-दशा होने के कारण द्विविध कहा जाता है। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध से पुद्गल के अचेतनत्व और मूर्तत्व धर्म का आरोप चेतन में किया जाता है और चेतन के चेतनत्व और अमूर्तत्व धर्म का आरोप पुद्गल में किया जाता है। वस्तुतः धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चारों ही द्रव्य अपने स्वभाव में नियत हैं। इनके सम्बन्ध मे उपचार का कथन नही किया जाता; क्योंकि ये सदा शुद्ध ही पाए जाते है। परन्तु चेतन की वर्तमान पर्याय में विकार-भाव होने से दो विरुद्ध स्थितियो को अलग-अलग नय की अपेक्षा से कथन करने पर भी अनेकान्त-प्रमाण रूप वस्तु जैसी अखण्ड नित्य, ध्रुव, त्रैकालिक चिन्मय है, वैसी ही है। इसी बात को आचार्यों ने अनेकान्त के विवेचन में स्पष्ट किया है। एक ही पदार्थ कथंचित् स्वचतुष्टय की अपेक्षा अस्तिरूप कथंचित् परचतुष्टय की अपेक्षा नास्तिरूप, कथंचित् समुदाय को अपेक्षा एकरूप, कथंचित् गुण-पर्याय की अपेक्षा अनेक रूप, कथंचित् सज्ञा, संख्या लक्षण की अपेक्षा गुण-पर्यायादि अनेक भेदरूप, कथंचित् सत्त्व की अपेक्षा अभेदरूप, कथंचित् द्रव्य की अपेक्षा नित्य और कथंचित् पर्याय को अपेक्षा अनित्य है। विभिन्न अपेक्षाओं से ये सभी विरोधी प्रतीत होने वाले धर्म एक ही पदार्थ म पाए जाते है। इतना अवश्य है कि वस्तु को जिस अपेक्षा से तत्स्वरूप स्वीकार किया गया है, उसी अपेक्षा से अतत्स्वरूप नही माना गया है। अत. कोई विरोध नही है। आचार्य समन्तभद्र कहते है . ऐसा कौन है जो चेतन-अचेतन सबको स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव की अपेक्षा से सत्‌रूप ही स्वीकार नही करता? इसी प्रकार परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव की अपेक्षा असत्‌रूप ही कौन अगीकार नही करता? यदि स्वरूप की भाँति पररूप से भी किसी को सत् माना जाए, तो फिर चेतनादि को अचेतनादि मानना होगा, जिससे सर्वथा शून्यता का प्रसंग उपस्थित हो जाएगा[1]।

वास्तव मे अनेकान्त वस्तु-तत्त्व का प्रकाशक है। इसलिए अनेकान्त वही लागू होता है जहाँ वस्तु है। वस्तु मे विरोधी प्रतीत होने वाले धर्मों के विद्यमान रहने पर भी वस्तु मे कोई अन्तर नही पड़ता। अन्तर हमारी दृष्टि

---

१ सदेव सर्वं को नेच्छेत्स्वरूपादि चतुष्टयात्।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते॥ आप्तमीमांसा, का. १५

में ही लक्षित होता है। आचार्य अकलंकदेव कहते हैं: तत् व अतत् स्वभाव वाली वस्तु से शून्य केवल वचन-विलास रूप परिकल्पित अनेक धर्मात्मक निरूपण मिथ्या अनेकान्त है[१]। अत: वस्तु में जो धर्म हों, उनका ही प्रतिपादन होना आवश्यक है। फिर, एकान्त और अनेकान्त भी किसी अपेक्षा से है। जो वस्तु अनेकान्त रूप है, वही सापेक्ष दृष्टि से एकान्त रूप भी है। बिना अपेक्षा के वस्तु रूप नहीं देखा जा सकता[२]। यहाँ यह प्रश्न होना भी स्वाभाविक है कि यदि वस्तु न सत् है, न असत् है, न उभय है और न अवाच्य है, तो वास्तव में वस्तु कैसी है? समाधान करते हुए आचार्य समन्तभद्र कहते हैं: आपके शासन में वस्तु किसी अपेक्षा से सत् ही है, किसी अपेक्षा से असत् ही है, किसी अपेक्षा से उभय ही है, किसी अपेक्षा से अवाच्य ही है। ऐसा नय की दृष्टि से है, वास्तव में सर्वथा ऐसा स्वरूप नहीं है[3]।

इस प्रकार नयों का सम्यक् ज्ञाता नयों की मर्यादा को जानता हुआ दोनों ही दृष्टियों से अलग-अलग समझता हुआ तत्त्व की कथनी को सत्यार्थ मानता है और इसी प्रकार नयों को घटा कर वस्तु-तत्त्व को शुद्ध और सयोगी दशाओं को अशुद्ध समझकर शुद्धता का आलम्बन लेता है। संक्षेप में, प्राय: सभी दर्शन वस्तु को अनेकान्त स्वरूप स्वीकार करते हैं। ऐसा कोई भी दर्शन नहीं है जो घटादि-पदार्थों को रूप, रसादि गुण विशिष्ट स्वीकार न करता हो; किन्तु वे विभिन्न गुण-पर्यायों की अपेक्षा उनका प्रतिपादन नहीं करते। जैन-दर्शन की दृष्टि से प्रत्येक वस्तु में विभिन्न अपेक्षाओं से अनन्त धर्म रहते हैं। अत: एक वस्तु में अनेक धर्मों के रहने का नाम अनेकान्त है। प्रत्येक धर्म अपने प्रतिपक्षी धर्म के साथ वस्तु में रहता है, ऐसा प्रतिपादन करना ही अनेकान्त का प्रयोजन है अर्थात् सत् असत् का अविनाभावी है और एक अनेक का अविनाभावी है, यह सिद्ध करना ही अनेकान्त का मुख्य लक्ष्य है।

---

१. "तदतत्स्वभाववस्तुशून्यं परिकल्पितानेकात्मकं केवलं वाग्विज्ञानं मिथ्यानेकान्त.।
—तत्त्वार्थवार्तिक-१, ६, ७,

२. जं वत्थु अणेयंतं एयंतं तं पि होदि सविपेक्खं।
सुयणाणेण णयेहि य णिरवेक्खं दीसते णेव ॥ कार्तिकेयानुप्रेक्षा गा. २६१

३. कथंचित् ते सदेवेष्टं कथंचिदसदेव तत्।
तथोभयमवाच्यं च नययोगान्न सर्वथा ॥ आप्तमीमांसाकारिका, १४

यह ध्यान में रख कर ही हम नयों का ठीक से प्रयोग कर सकते हैं। खींचातानी करने में एकान्त का प्रसंग आता है, नय की व्यवस्था भंग हो जाती है और मूल में जिस सत्-वस्तु को ध्यान मे रख कर बात कही जा रही है, आचार्यों का वह अभिप्राय एक ओर छूट जाता है। इसलिए नयों को घटाते समय बहुत सावधानी की आवश्यकता पड़ती है। वस्तुत: नयों के आधार पर ही अनेकान्त के प्रतिपादन की नीव आधारित है। आचार्य समन्तभद्र ने प्रश्न करते हुए कहा है 'हे भगवन्! आपके मत में जीवादि वस्तु का जो नित्य स्वभाव कहा गया है, वह कथंचित् रूप से है या सर्वथा है? यदि सर्वथा रूप से माना जाए, तो एकान्त का प्रसंग आएगा, जिससे अनेकान्त की हानि है और सर्वथा माना जाए, तो अनवस्था दोष आता है। उत्तर में कहते हैं–आपके मत मे अनेकान्त भी प्रमाण और नय दृष्टि से अनेकान्त स्वरूप है। प्रमाण की अपेक्षा से अनेकान्त सिद्ध होता है और विवक्षित नय की दृष्टि से अनेकान्त मे एकान्त रूप सिद्ध होता है[1]। निष्कर्ष यह है कि अनेकान्त भी अनेकान्त रूप है, एकान्त रूप नहीं है।

सत्ता का स्वरूप

जैसे राज्य में राजा की सत्ता सब मे मुख्य होती है, वह जैसा होता है, वैसा शासन करता है। इसी प्रकार जीव, पुद्गल (जड़), धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छह द्रव्यों में एक अपना आत्मा सार पदार्थ है। वह स्वयं सत्ता स्वरूप है। अपने ज्ञान-राज्य में सतत ज्ञानानन्द स्वभाव में लीन रहना, यही उसका शासन है[2]। स्व० प० दीपचन्दजी कासलीवाल के शब्दो मे[3]–"सत्ता के आधार मे सब द्रव्य, गुण और पर्याय है, अत. सभी द्रव्यो, गुणो और पर्यायो के रूप का विलास सत्ता ही करती है। यदि कोई प्रश्न करे कि 'सत्ता तो है' (अस्ति रूप) लक्षण को धारण करती है, वह

---

१. अनेकान्तोऽप्यनेकान्त. प्रमाणनयसाधन. ।
अनेकान्त. प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात् ।। स्वयम्भूस्तोत्र. श्लो १०३

२. सत्ता चेतन भूप है, सब द्रव्यनि मे सार।
ज्ञानस्वभावी आत्मा, ज्ञानानंद करतार ।। (स्वरचित)

३. चिदविलास अधिकार २३, पृ. ११०

विलास कैसे कर सकती है ? तो उसका समाधान होगा कि द्रव्य का विलास द्रव्य करता है, गुण का गुण करता है और पर्याय का पर्याय करती है एवं तीनों के विलास का अस्तित्व भावसत्ता से है; क्योंकि वह बिलास सत्ता ही करती है। द्रव्य, गुण और पर्याय का विन्यास ज्ञान में आता है, अर्थात् ज्ञान-वेदन होता है, अत: ज्ञान ही तीनों का विलास करता है। परिणाम सब को वेद (जान) कर रसास्वाद लेना है, अत: पर्याय सबका विलास करती है। इसी प्रकार जो अनन्त गुण हैं, उनमें से प्रत्येक गुण तीनों अर्थात् द्रव्यों, गुणों और पर्यायों का विलास करता है।" वास्तव में ज्ञान ही सत्ता का शुद्ध स्वरूप है; क्योकि वह ज्ञान रूप से अनुभव में आता है। जो उस चेतन रूप सत्ता का अनुभव करता है, वही उसे प्रकट कर सकता है[१]। आचार्य अमृतचन्द्र कहते है--"एक ज्ञान ही आत्मा का पद है। इसमें कोई आपदा नहीं है। इसके आगे सब ही पद आकुलता मय अपद भासित होते है। आत्मा ज्ञान का ही अनुभव करता है[२]।" इस प्रकार सत्ता सम्पूर्ण पदार्थों में स्थित रहती है। उसके अनेक रूप कहे गए है। वह अनन्त पर्यायो से सहित है। उसके ही उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य कहे गए है। वह एक है तथा सत्प्रतिपक्ष वाली है[3]। अत: पदार्थों में स्वरूप का अवबोधक अन्वय रूप जो धर्म पाया जाता है, उसे सत्ता कहते हैं।

द्रव्य सत्ता से अभिन्न कहा गया है। बिना सत्ता के द्रव्य का कोई अस्तित्व नहीं हो सकता है। सत्ता के विद्यमान होने पर ही जो उन-उन गुणों तथा पर्यायों को प्राप्त होता है, उसे द्रव्य कहते है। वास्तव में सत्ता ही द्रव्य कही जाती है[४]। जीव द्रव्य चैतन्य मात्र है। जो चेतना है, वही जीव है। जीव द्रव्य में किसी भी प्रकार का विकल्प नहीं पाया जाता है। मूल में चेतना मात्र वस्तु है। सम्य-

---

१. प्रगटै निज अनुभव करै सत्ता चेतन रूप।
सब ज्ञाता लखिकै नमौ, समयसार सब भूप ।। पं. जयचन्द्र : समयप्रभृत, दोहा २

२. एकमेव हि तत्स्वाद्यं विपदामपदं पदम्।
अपदान्येव भासन्ते पदान्यन्यानि यत्पुर: ।। समयसारकलश श्लो. १३९

३. सत्ता सव्वपयत्था सविस्सरूवा अणंतपज्जाया।
भंगुप्पादधुवत्ता सप्पडिवक्खा हवदि एक्का ।। पंचास्तिकाय गा. १,८

४. दवियदि गच्छदि ताइं ताइं सब्भावपज्जयाइं जं.।
दवियं तं भण्णंते अणण्णभूदं तु सत्तादो ।। पंचास्तिकाय,१९

म्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, सुख, भोगादि भावों से यह चैतन्य एकत्वरूप है। इसी चैतन्य पिंड से इसको चेतना सिद्ध होती है। यहाँ कोई प्रश्न करता है कि यह जीव द्रव्य अनादि काल से चेतना वस्तु से सिद्ध है। इन ज्ञानादिक भावों से जब यह चेतना सिद्ध ही है, तो फिर, यह व्यवहार क्यों किया जाता है कि सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र में वह उत्पन्न होती है? स्व. पं. दीपचन्दजी कासलीवाल इसका समाधान करते हुए कहते हैं :—

"मित्र ! यह उपजी चेतना अवरु चेतना का ज्ञानादि भाव तो अनादिस्यो ज्यों है त्यों ही है, इन विषै तो हलचल कछु भया नाँही। प्रत्यक्ष है, कहुँ आये गये नाँही। इस बात माँही संदेह कछु नही भइया। वस्तु तो छती है, विद्यमान है, परन्तु यह विभाव-विकार-भाव कोई दोष अनादिते इस जीव को उपज्या, तिसते बावले की-सी दशा होय रही है[1]।" सत्ता रूप वस्तु तो अनादि से शुद्ध ही है। उसकी शुद्धता में किसी प्रकार का कोई अन्तर नहीं पड़ता है। केवल आत्मद्रव्य की पर्याय में विकार होने से जीव में अशुद्धता व्यवहार से कही जाती है। इसलिये यह व्यवहार भी किया जाता है कि रत्नत्रय उत्पन्न होने पर इसकी ज्ञान-चेतना प्रकट होती है। आचार्य अमृतचन्द्र का कथन है—"निरन्तर ज्ञान की संचेतना से ही ज्ञान अत्यन्त शुद्ध प्रकाशित होता है। अज्ञान चेतना (कर्मचेतना और कर्मफलचेतना) से बन्ध प्रधावित हो ज्ञान की शुद्धता को अवरुद्ध कर देता है[2]।" इसका कारण भी यही है कि अपने को पर समझता है और पर को आप समझता है। अपना, पराया नाम तक नहीं जानता। दर्शन, ज्ञान, सम्यक्त्व, चारित्र, परमानन्द, भोगादिक भाव विकार जो उत्पन्न हुए, उनमें ज्ञान तो अज्ञान रूप विकार को प्रवृत्त हुआ। वहाँ स्वज्ञेय, परज्ञेय आकार को तथा नाम मात्र को जानता नहीं। ऐसी ज्ञान की शक्ति अज्ञान रूप प्रवृत्त हो गई है[3]। इसीलिये सत्ता स्वभाव से अभिन्न तथा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप लक्षणों

---

१ आत्मावलोकन, पृ. ८८ से उद्धृत

२ ज्ञानस्य सचेतनयैव नित्य
प्रकाशते ज्ञानमतीव शुद्धम्।
अज्ञानसंचेतनया तु धावन्
बोधस्य शुद्धि निरुणद्धि बन्ध.।। समयसारकलश, श्लो. २२४

३. पं दीपचन्द शाह आत्मावलोकन, पृ. ८९

वाली होने पर भी सत्तादि भद नहीं करती है[1] । यह पहले ही कहा जा चुका है कि उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य तथा द्रव्य, गुण, पर्याय में लक्षण-भेद होने पर भी वस्तु-भेद नहीं है ।

सत्ता का ज्ञान क्यों ?

प्रश्न यह है कि हमें सत्ता को क्यों जानना चाहिए ? संस्कृत में महावीराष्टक के रचयिता स्व. पं. भागचन्द्रजी लिखते हैं—"जो देव, गुरु, शास्त्र, धर्म इत्यादिकनि का बाह्य लक्षणनि के आश्रय सत्ता, स्वरूप, स्थान, फल, प्रमाण, नय इत्यादिकनि का निश्चय तो नही होय वा लौकिकतें बाह्य रूप जुदा न मानें, ताको बाह्य रूप भी स्वरूप न भास्या । सो अन्य कों सेवे है अर कुल, पक्ष के आश्रय वा पंचायत के आश्रय वा सगति के आश्रय वा प्रभावनादि चमत्कार देखि, वा शास्त्र मे वा प्रकटि में देवादिक को पूजादिक तें भला होना कहा है, तिसके आश्रय साँचे देवादिक को ही पक्षपातीपना से सेवक होय प्रवर्ते है, तिके भी गृहीत मिथ्यात्व ही है[2] ।" यह स्पष्ट ही है कि जब तक हमे अपनी सहज सत्ता स्वभाव का शुद्ध ज्ञान नही होगा, तब तक हमारी मोहान्ध बुद्धि परद्रव्यों की ओर से नही हटेगी । दृष्टि के हटे बिना न तो अपनी महिमा ही आएगी और न गृहीत मिथ्यात्व ही दूर होगा । आचार्य अमृतचन्द्र यही कहते हैं : "जो पुरुष भेद-विज्ञान की शक्ति के द्वारा अपने स्वरूप की महिमा के विषय मे लीन है, उनके नियम से शुद्ध तत्त्व की प्राप्ति होती है । उस शुद्ध तत्त्व की प्राप्ति होने पर जो निश्चल जैसे होकर अन्य द्रव्यों से दूर ही रहते हैं, उनके कर्मों का मोक्ष तथा अभाव हो जाता है और फिर कभी कर्मबन्ध नही होता[3] ।" इसलिए अपनी शुद्ध आत्मा की महिमा प्रकट करने के लिए शुद्ध आत्मा रूप सत्ता का ज्ञान होना आवश्यक ही नही, अनिवार्य भी है ।

---

१. "यथा शुद्धसत्तया सहाभिन्नं परमात्मद्रव्यं पूर्वोक्तोत्पादव्ययध्रौव्यैर्गुणपर्यायैश्च सह संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदेपि सति तैः सत्तादिभेद न करोति, स्वरूपत एव तथाविधात्वमवलम्बते ।"—प्रवचनसार, गा ९५ की जयसेनाचार्य कृत टीका ।

२. पं. भागचन्द्र : सत्तास्वरूप, पृ. ११ से उद्धृत

३. निजमहिमरतानां भेदविज्ञानशक्त्या भवति नियतिमेषा शुद्धमात्मोपलम्भः ।
अचलितमखिलान्यद्रव्यदूरे स्थितानां भवति सति च तस्मिन्नक्षय : कर्ममोक्षः ॥
—समयसारकलश, श्लो. १२८

इस स्वसत्ता के अवलम्बन से ज्ञानी ज्ञानानन्दस्वभावी निज आत्मा का अनुभव करते हैं। स्वसंवेदनगम्य निजानुभूति ही मोक्षमार्ग की उत्कृष्ट साधिका है। इस अनुभव का परिचय पाने वाले ही धन्य हैं। स्वानुभूति का परिचय हुए बिना यथार्थ द्रव्यदृष्टि नहीं बनती। द्रव्यदृष्टि क्या है? यही कि प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र है, पृथक्-पृथक् है। एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य के साथ वास्तव में कोई सम्बन्ध नहीं है। अपने चिदानन्द स्वरूप के अवलोकन, अनुभव से सभी अविद्या के व्यापार तिरोहित हो जाते हैं। अपने आत्म-स्वरूप को समझना जितना कठिन प्रतीत होता है, उतना ही सरल है। अनादिकाल से आज तक इस जीव ने कभी अपनी ओर दृष्टि तक नहीं डाली। इसलिए मदिरा-पान किए हुए के समान मोह के नशे में परद्रव्यों को अपना मानता हुआ उनमें मोहित हो रहा है। इसीलिए परम गुरुदेव द्रव्यदृष्टि बनाने के लिए बार-बार प्रेरित करते हैं। वस्तु के वास्तविक स्वरूप को जाने बिना यह दृष्टि नहीं बनती है। इसलिये मोक्षमार्ग में इस की परम उपयोगिता है।

सत्ता के भेद

वस्तु में व्याप्त रहने वाले अनन्त गुणों की भांति सत्ता के भी अनन्त भेद कहे गए हैं। वस्तु के प्रत्येक गुण में अनन्त गुणों का रूप सम्भव है। क्योंकि सत्ता गुण है, तो सभी गुण हैं। अत: सत्ता के द्वारा सब गुणों की सिद्धि हुई। इस प्रकार सूक्ष्म, वस्तुत्व, द्रव्यत्व आदि हैं, तो सब गुण तन्मय हैं। कहना न होगा कि प्रत्येक गुण सब गुणों में है, सब की सिद्धि का कारण है[1]।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि पदार्थ सत्ता रूप है। इस सत्ता के मुख्य रूप से दो भेद हैं—महासत्ता और अवान्तर सत्ता। समस्त पदार्थों के अस्तित्व गुण को ग्रहण करने वाली सत्ता को महासत्ता कहते हैं। यह सभी पदार्थों में व्याप्त रहती है और उसके अस्तित्व को सूचित करती है। इस सत्ता के कारण ही 'सत्' प्रतीति की उपलब्धि होती है। यह अनन्त पर्यायमय विश्व के सब रूपों में वर्तती है। महासत्ता को सामान्यसत्ता भी कहा जाता है। यह सब पदार्थ-समूह में व्याप्त होने वाली तथा सादृश्य*

१. द्रष्टव्य है : चिद्विलास, अधिकार २०, पृ. ९९

अस्तित्व को सूचित करने वाली है। परन्तु एक-एक निश्चित वस्तु में रहने वाली तथा स्वरूप-अस्तित्व को सूचित करने वाली अवान्तरसत्ता या विशेषसत्ता है[1]। इस प्रकार सामान्यविशेषात्मक सत्ता महासत्ता रूप से होने के कारण एक है। वस्तुत: सत्ता लक्षण है और द्रव्य लक्ष्य है। द्रव्य में क्रमभावी भावों का प्रवाह जाति की अपेक्षा सदा एक रहता है। पं. दीपचंद जी के शब्दों में "सत्वं-असत्वं, त्रिलक्षणं-अत्रिलक्षणं, एकत्वं, अनेकत्वं, सर्वपदार्थस्थितत्वं, एक पदार्थ स्थितत्वं, विश्वरूपं-एकरूपं, अनन्तपर्यायित्वं-एक पर्यायित्वं द्रव्य ऐसा द्रव्य भाव सर्व द्रव्य में महासत्ता जीव द्रव्य, पुद्गल द्रव्य स्वरूप रूप वर्ते। अवान्तरसत्ता, द्रव्यसत्ता, अनादि-अनन्त पर्यायसत्ता, सादि-सान्त-स्वरूप सत्ता, तीन प्रकार-द्रव्यस्वरूप सत्ता, गुण-सत्ता, पर्याय-सत्ता। गुणसत्ता का अनन्त भेद, ज्ञानसत्ता, दरसनसत्ता, अनन्तगुण सत्ता पृथक् भेद न छे (नहीं है), अनन्यत्व भेद छे'[2]।"

परिणाम-शक्ति की अपेक्षा से सत्ता के दो भेद कहे गए हैं—साधारण और असाधारण। द्रव्यत्व आदि साधारण और ज्ञानादि असाधारण सत्ता है। ज्ञान, दर्शन आदि विशेष गुणों की सत्ता मे जीव का जानपना प्रकट हुआ, तब जीव के वस्तुत्व आदि गुण जानने में आए। अत: असाधारण से साधारण और साधारण से असाधारण है[3]। इस प्रकार शक्ति की अपेक्षा सैंतालीस भेद किए गए हैं। यों तो इन भेदों का कोई अन्त नहीं है; परन्तु अभेद रूप से शक्ति तथा सत्ता एक ही है। आचार्य सिद्धसेन के अनुसार महासत्ता द्रव्यार्थिक नय का विषय है; किन्तु मध्यवर्ती जो भी अवान्तर सत्ता विशिष्ट पदार्थमाला है, वह द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों नयों को विषय करती है। द्रव्यार्थिक नय जब सर्वव्यापक सत्ता सामान्य को विषय करता है, तब उसकी दृष्टि वस्तु के भीतर रहे हुए विशेष का लोप नहीं करती है, किन्तु उपेक्षा कर देती है। इसी प्रकार पर्यायार्थिक नय जब

---

१. "तत्र सर्वपदार्थसार्थव्यापिनी सादृश्यास्तित्वसूचिका महासत्ता प्रोक्तैव। अन्या तु प्रतिनियतवस्तुवर्तिनी स्वरूपास्तित्वसूचिकाऽवान्तरसत्ता।" —पंचास्तिकाय, गा. ८ की टीका।

२. अनुभव प्रकाश, पृ. ७५-७६ से उद्धृत

३. चिद्विलास, अधिकार २१, पृ. १०३

वस्तुगत विशेष को विषय करता है, तब वह उसके भीतर वर्तमान सत्ता सामान्य का लोप नही करता, किन्तु गौण कर देता है[1]।

इस प्रकार सत्ता का आश्रय लेने पर पराधीनता की भावना नहीं रहती और स्वानुभव रूप पुरुषार्थ करने से पराधीनता भी समाप्त हो जाती है। अतएव सत्ता के स्वावलम्बन की बहुत बड़ी महिमा है। इसे आज तक नहीं जाना। अब तो पहचान! कब तक अज्ञान-दशा मे सुषुप्त हो पड़ा रहेगा? यही गुरुदेव हमें समझाते है; किन्तु इस ओर हमारी अब तक रुचि नहीं बन पाई है। रुचि बनाने के लिए ही यह अध्यात्म का सन्देश है।

वस्तु-तत्त्व को कैसे जानें ?

वस्तु-तत्त्व को जानने का यही उपाय है कि द्रव्य को द्रव्य रूप से, गुण को गुण रूप से पर्याय को पर्याय रूप से जाने। लक्षण, प्रमाण, नय, निक्षेप, सख्या, स्वामित्व, क्षेत्र, साधन, स्थिति एव प्रकार आदि उपायों से वस्तु का विशेष ज्ञान होता है। प्रत्येक वस्तु अपने-अपने मे स्थित है। किसी भी वस्तु में किसी अन्य वस्तु की सहायता नही है। सभी वस्तुएँ स्वतन्त्र है और स्वतन्त्र रूप से ही अपना-अपना परिणमन करती हैं।

यद्यपि द्रव्य एक अखण्ड पिण्ड, सत् स्वरूप है, शब्दों में उसका वर्णन नही किया जा सकता, तथापि जो कुछ कहा जाता है वह सब भेदरूप है। भेद से अभेद का परिज्ञान नही होता। अभेद के अनुभव से ही अभेद की प्रतीति होती है। सभी नय, प्रमाण, युक्तियों आदि से जान लेने पर भी यदि उस अखण्ड वस्तु-तत्त्व का अनुभव नही किया, तो सभी विद्याएँ, जप-तप व्यर्थ ही है[2]। वस्तु-तत्त्व को जानने का यही लक्ष्य है। जो अपने लक्षण को जान कर लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है, उसी का जानना सार्थक है।

व्यवहार नय से भेद रूप जो ध्रुव अश जानने में आता है, वह गुण है। द्रव्य में भेद करने वाले धर्म को गुण कहते हैं। गुण द्रव्य को द्रव्यान्तर से

---

१. पज्जवणयवोक्कंतं वत्थुं दव्वट्ठियस्स वयणिज्जं।
जाव दविओवओगो अपच्छिमवियप्पणिव्वयणो ॥ सन्मतिसूत्र, १,८

२. जगत की जेती विद्या भासी कर-रेखावत, कोटिक जुगान्तर जो महातप कीने हैं।
अनुभौ अखंड रस उर में न आयो जो तो, सिवपद पावै नाहिं पररस भीने हैं ॥
—ज्ञानदर्पण, १३०

पृथक् करता है। अनादि काल से द्रव्य और गुण में तादात्म्य सम्बन्ध है। अतः गुण गुणी से अभिन्न हैं। गुण द्रव्य के विस्तार विशेष कहे गए हैं। गुणों के समुदाय को ही द्रव्य कहते हैं। अनेक गुणों को या एक गुण को जब पृथक्-पृथक् कहा जाता है, तब वह गुण है। परन्तु जब दृष्टि गुणों के पिण्ड की ओर होती है, तब वह अखण्ड द्रव्य रूप में लक्षित होता है।

वस्तुतः गुण और द्रव्य भिन्न-भिन्न वस्तु नहीं हैं, किन्तु अपने लक्षण मात्र से भिन्न हैं। वस्तु के किसी भी असाधारण गुण का कथन करके अन्य वस्तु से उसका भेद बतलाकर वस्तु की पहचान कराई जाती है। इसलिये गुण को वस्तु से भिन्न बताया जाता है। वास्तव में जो वस्तु में शाश्वत तन्मय होते हैं, उनका ही नाम गुण है। गुणो के अविभाग प्रतिच्छेद होते है; जैसे कि—जीव के ज्ञान, दर्शन, सुख आदि । इस प्रकार गुण वस्तु के अंश हैं। गुण द्रव्य के प्रत्येक अवयव में मिलते है। द्रव्य की भांति गुण भी नित्यानित्यात्मक हैं। जैसे द्रव्य मे गुण पाए जाते हैं, वैसे गुण मे अन्य गुण प्राप्त नहीं होते। अतः जो द्रव्य के आश्रय से रहते हैं और स्वयं अन्य विशेषो में रहित विशेष हैं, उनको गुण कहते हैं[1]।

गुण को शक्ति भी कहा गया है। शक्ति को स्वभाव भी कहते है। इसलिये गुण का स्वभाव कह सकते है; किन्तु धर्म की अपेक्षा स्वभाव को गुण नही कहते[2]। वस्तु के एक अवयव मे जो शक्ति पाई जाती है, वही अन्य अवयवों में भी पाई जाती है। शक्ति स्वतः होती है। यदि शक्ति अपने आप न हो, तो कोई कर नही सकता। वस्तु की शक्ति पर की अपेक्षा नहीं रखती। इस शक्ति से ही वस्तु अपनी सहज योग्यता प्रकाशित करती है।

यद्यपि गुण नित्य हैं और अपने स्वरूप में स्थिर हे, किन्तु परिणमन-शील होने से नित्यानित्यात्मक कहे जाते हैं। इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि वस्तु में विद्यमान गुणों का सर्वथा नाश होकर अन्य गुणों की

---

१. द्रव्याश्रया गुणाः स्युर्विशेषमात्रास्तु निर्विशेषाश्च ।
करतलगतं यदेतैर्व्यक्तमिवालक्ष्यते वस्तु ।। पंचाध्यायी, १, १०४

२. "धर्मापेक्षया स्वभावा गुणा न भवन्ति । स्वद्रव्यचतुष्टयापेक्षया परस्परं गुणाः स्वभावा भवन्ति ।" —आप्तपरीक्षा, कारिका ६

उत्पत्ति हो जाती है। स्पष्ट रूप से गुणों में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ये तीनों होते हैं। अतः गुण स्वतः सिद्ध और परिणामी हैं।

जो गुण और पर्यायों को प्राप्त होता है, सामान्यतः उसे द्रव्य कहते हैं। कोई आचार्य गुणो के समुदाय को द्रव्य कहते हैं। द्रव्य गुणों से भिन्न नहीं है। यथार्थ म सत्ता ही द्रव्य कही जाती है। क्योंकि उन-उन सद्भाव पर्यायों को प्राप्त होने वाला द्रव्य सत्ता से अनन्यभूत है[1]। पं. दीपचंदजी शाह के शब्दों म—"द्रव्य के भाव को द्रव्यत्व कहिये। सो द्रवत्व गुण तैं द्रव्य द्रवै तब तौ गुण परजाय प्रगटै अरु गुण द्रवै तब गुण परणति कौं धरि परणति सौं एक होइ परणति द्रवै तब दोउ मिले परणति द्रवै तब गुण द्रव्य कौ वेदैं सरूप लाभ ले द्रव्य द्रवे परणाम प्रगटे। गुण द्रवे तब एक-एक गुण सब गुण मे व्याप्ति अनंत को आधार होय है। सब गुण अन्योन्य मिलि एक वस्तु होइ। ये सब द्रव्य गुण परजाय जु है सो द्रवतते है[2]।"

वस्तु म गुण सहभावी होते है और पर्याय क्रमवर्ती। द्रव्य त्रिकालवर्ती पर्यायो का पिण्ड कहा जाता है। जो क्रमवर्ती, अनित्य, व्यतिरेकी, उत्पाद-व्यय रूप और कथंचित् ध्रौव्यात्मक होती है, उसे पर्याय कहते है[3]। पर्याय क्रम-क्रम स उत्पन्न होती है। पर्यायजात प्रवाह का कारण क्रम कहा गया है। अतः एक समय म एक पर्याय उत्पन्न होती है। दूसरे समय म वह पर्याय बदल जाती है। इस प्रकार एक-एक समय में नई-नई पर्याय उत्पन्न होती रहता है। यद्यपि पर्यायो का यह क्रम सतत प्रवाह रूप होता है, तथापि वह अपन द्रव्य के अनुसार ही होता है[4]। कहने का साराश यह है कि वस्तु मे होने वाला परिणमन पूर्व-पूर्व पर्याय के नाश द्वारा नष्ट होने वाले अश का अथवा उत्तर-उत्तर पर्याय के उत्पाद द्वारा उत्पन्न होने वाले अंश का होता है[5]।

---

१. दवियदि गच्छदि ताइं ताइं सब्भावपज्जयाइं जं।
दवियं तं भण्णंते अणण्णभूदं तु सत्तादो।। पंचास्तिकाय, गा. ९

२. पं. दीपचन्द शाह कासलीवाल : परमात्मपुराण, पृ १८

३. क्रमवर्तिनो ह्यनित्या अथ च व्यतिरेकिणश्च पर्यायाः।
उत्पादव्ययरूपा अपि च ध्रौव्यात्मकाः कथंचिच्च।। पंचाध्यायी, १, १६५

४. वही, १, १६९

५. वही, १, १७९

शक्ति क्या है ?

स्व का होना यही स्वभाव है और यही शक्ति है। निश्चय से प्रत्येक वस्तु अपने में स्थित है। प्रत्येक वस्तु में एक शक्ति स्वतः सिद्ध प्राप्त होती है। छह द्रव्यों में से जीव को छोडकर पाँचों द्रव्य अजीव हैं। इन जीव और अजीवों में शाश्वत एक वैभाविक शक्ति पाई जाती है। इसे वैभाविक इसलिये कहते हैं कि यह विकाररूप परिणमनशील रहती है। अपरिणमन-शील कोई शक्ति नहीं होती। वास्तव में शक्ति योग्यता का ही दूसरा नाम है। प्रकृति, शक्ति, गुण, शील और योग्यता आदि एकार्थ वाचक शब्द हैं। वस्तु में यदि परिणति रूप कार्य होने की शक्ति न हो, तो वह परिणमन कैसे कर सकती है ? अतः सामान्य परिणमन शक्ति सामान्य योग्यता कही जाती है। वस्तु मे यह योग्यता शाश्वत तादात्म्य सम्बन्ध से रहती है। अतएव वस्तु के मौलिक कार्य से ही उसकी शक्ति का अनुमान कर लिया जाता है। यह शक्ति ही व्यक्ति का दर्शन कराने वाली कही गई है[1]; क्योंकि व्यक्ति शक्ति का ही प्रकाश है।

सामान्यतः गुण को शक्ति रूप कहा जाता है, किन्तु गुण और शक्ति में अन्तर है। शक्ति व्यापक है, गुण व्याप्य है। शक्ति व्यापक होने के कारण गुण मे रहती है और नही भी रहती है। शक्ति सामान्य-विशेषात्मक कही जाती है। सामान्य तथा विशेष स्वभावों में भेद पाया जाता है। वस्तु में रहने वाली स्वभाव रूप से शक्ति का व्यक्त होना आवश्यक नही है। अपनी स्वभाव-दशा में ही वह प्रकट होती है। अशुद्ध अवस्था में स्वभाव की शक्ति का अभाव रहता है अर्थात् प्रकट नही होती। वस्तु की शक्ति पर की अपेक्षा नही रखती। यदि कोई यह कहे कि जीव पुद्गल द्रव्य को धर्मभाव रूप परिणमाता है, तो यह सत्य नहीं है। क्योंकि जो स्वय पुद्गल परिणमन न करे, तो जीव उसे परिणमा नहीं सकता। इसमें युक्ति यह है कि वस्तु में यदि शक्ति स्वतः न हो, तो उसे अन्य कोई नहीं कर सकता। स्वयं परिण-मनशील को अन्य परिणमाने वाले की अपेक्षा नही रहती; क्योंकि वस्तु की

---

१. शक्ति : कार्यानुमेया हि व्यक्तिदर्शनहेतुका। न्यायविनिश्चयवृत्ति, २,१८

शक्ति पर की अपेक्षा नहीं रखती[1]। पर की अपेक्षा नहीं रखने के कारण ही शक्ति को सहज, स्वाभाविक कहा जाता है। अत: अपनी स्वाभाविकता से ही शक्ति विलसित होती है।

शक्ति या योग्यता के तीन प्रकार कहे गए हैं—सामान्य योग्यता, पर्याय योग्यता और विशेष योग्यता या पर्यायविशेष योग्यता। फिर, इन तीनों को सामान्य योग्यता और विशेष योग्यता इन दो भेदों में विभक्त किया जाता है। सामान्य योग्यता नित्य है, किन्तु विशेष योग्यता अनित्य है। वस्तु में अनादि अनन्त सामर्थ्य स्वरूप से रहने वाली सामान्य योग्यता शाश्वत है। पूर्व पर्याय में होने वाली योग्यता को विशेष योग्यता कहते हैं। विशेष योग्यता न तो भूतकाल में रहती है और न भविष्यत्काल में; केवल वर्तमान में ही रहती है। अतएव उसे अनित्य कहा जाता है। इस प्रकार की योग्यता क्षयोपशम से प्रकट हुई शक्ति कही जाती है। पर्यायों को प्राप्त होने वाली शक्ति के कारण ही वस्तु द्रव्य कही जाती है। कार्य-कारण भाव के प्रकरण में योग्यता का अर्थ कार्य को उत्पन्न करने वाली सहज शक्ति है तथा कार्य की कारण से जन्यत्व शक्ति है। उस योग्यता का प्रत्येक विवक्षित कार्य-कारण में नियम करना यही कहा जाता है कि धान के बीज तथा धान के अंकुरों में भिन्न-भिन्न समय वृत्तिपने की समानता के होने पर भी साठी चावल के बीज में ही धान के अंकुरों को पैदा करने की शक्ति है। किन्तु जौ के बीज में जौ पैदा करने की शक्ति तो है, पर धान के अंकुर पैदा करने की शक्ति नहीं है।[2] इस प्रकार सामान्य योग्यता वस्तु की स्वाभाविक शक्ति कही जाती है। क्योंकि द्रव्य के परिणमन में उसकी योग्यता ही कारण होती है। शक्ति का प्रतिनियम भी वस्तु के स्वभाव से

---

१. "किं स्वयमपरिणममानं परिणममानं वा जीव: पुद्गलद्रव्यं कर्मभावेन परिणामयेत्? न तावत्तत्स्वयमपरिणाममानं परेण परिणमयितुं पार्येत; न हि स्वतो सती शक्ति: कर्तुमन्येन पार्यते। स्वयं परिणममानं तु न परं परिणमयितारमपेक्षेत; न हि वस्तुशक्तय: परमपेक्षन्ते।" —समयसार, गा. ११९ की आत्मख्याति टीका।

२. "योग्यता हि कारणस्य कार्योत्पादनशक्ति:, कार्यस्य च कारणजन्यत्वशक्तिस्तस्या: प्रतिनियम:, शालिबीजांकुरयोश्च भिन्नकालत्वाविशेषेऽपि शालिबीजस्यैव शाल्यंकुरजनने शक्तिर्न यवबीजस्य, तस्य यवांकुरजनने न शालिबीजस्येति कथ्यते।" तत्र कुतस्तच्छक्तेस्तादृश: प्रतिनियम:। —श्लोकवार्तिक, १,१

ही होता है।[1] इन स्वाभाविक शक्तियों का साक्षात् दर्शन सर्वज्ञ को ही होता है। विशेष शक्ति पर्याय को प्राप्त कराती है। अतएव दोनों प्रकार की शक्ति व योग्यता का विवेचन किया जाता है।

यथार्थ में चेतन चित् मात्र शक्ति से निर्भर अखण्ड चैतन्यमय है। उसके नाम-रूप नहीं है। उसे चाहे ज्ञान कहो, दर्शन कहो, कुछ कहो, वह तो एक है। आत्म-तत्त्व निर्विकल्प है। किन्तु व्यवहार करने के लिए हम जब कल्पना करते हैं, तब वहीं शक्ति-भेद प्रकट हो जाता है। वस्तुत: उसमें जो शक्ति है सो है। उसे समझाने के लिए ही भेद कर वस्तु-स्वभाव में अनेक शक्तियों का प्रतिपादन किया जाता है। व्यवहार से वस्तु में दो प्रकार की योग्यता का विचार किया जाता है—क्रिया रूप और भाव रूप। प्रदेशों की चलनात्मक योग्यता का नाम क्रिया है और परिणामनशील योग्यता का नाम भाव है[2]। इस प्रकार जीव और पुद्गल, ये दोनों प्रकार की योग्यता वाले कहे जाते हैं।

वस्तुत: द्रव्य में शक्ति एक ही मानी गई है। जीव द्रव्य में भी एक ही शक्ति है जो नित्य है। उसे वैभाविक शक्ति कहा गया है। उस वैभाविक शक्ति के परिणमन दो प्रकार के होते हैं—एक स्वभाव परिणमन जो विशेष निमित्त निरपेक्ष होता है और दूसरा विभाव परिणमन जो कर्म के निमित्त से होता है। अत: वस्तु में जो दो शक्तियाँ कही जाती हैं, वे अवस्था--भेद से दो कही जाती है; यथार्थ में दो नहीं हे;[3] क्योंकि वस्तु मे स्वत: परिणमन होता है। जिनागम में विभाव पर्याय स्व-परसापेक्ष कही गई है और स्वभाव पर्याय परनिरपेक्ष। वस्तु का स्वाभाविक परिणमन ही स्वभाव पर्याय है।

---

१. विज्ञानैकरस. स एष भगवान् पुण्य: पुराण: पुमान्।
ज्ञानं दर्शनमप्यय किमथवा यत्किंचनैकोऽप्ययम्।। समयसारकलश, श्लो. ९३

२. भाववन्तौ क्रियावन्तौ द्वावेतौ जीवपुद्गलौ।
तौ च शेषचतुष्कं च षडेते भावसंस्कृता:।।
तत्र क्रिया प्रदेशानां परिस्पन्दश्चलात्मक:।
भावस्तत्परिणामोऽस्ति धारावाह्येकव स्तुनि।। पंचाध्यायी, २,२५-२६

३. तत: सिद्धं सतोऽवश्यं न्यायात् शक्तिद्वयं यत:।
सदवस्थाभेदतो द्वैतं न द्वैतं युगपत्तयो:।। पंचाध्यायी, २,९१

कहा भी है : अन्य की अपेक्षा से रहित जो परिणाम होता है वह स्वभाव पर्याय है और स्कन्ध रूप जो परिणमन होता है वह विभाव पर्याय है[1]।

परिणमन की भाँति द्रव्य में क्रियाएँ भी दो प्रकार की मानी गई हैं—स्वाभाविकी और वैभाविकी। इन दोनों प्रकार की क्रियाओं को पारिणामिकी कहा गया है। क्योंकि प्रत्येक द्रव्य में परिणमन अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार होता है। इसलिए वैभाविकी क्रिया की पराधीनता का निषेध कर उसे स्वतन्त्र बताया गया है। शक्ति तो नित्य है, पर स्वयं स्वभाव या विभाव रूप परिणत हो जाती है। वैभाविकी शक्ति के उपयोग रूप हो जाने पर जो परद्रव्य के निमित्त से जीव व पुद्गल में उपचार से तद्गुणाकार संक्रमण हो जाता है, वह बन्ध कहलाता है। जीव में स्वयं ऐसी योग्यता है कि विभाव परिणमन का निमित्त पाकर विभावरूप परिणति करता है। बन्ध में केवल वैभाविक शक्ति और उसका उपयोग कारण नहीं है, किन्तु तद्गुणाकार पराधीनता कारण है[2]। यदि वैभाविकी शक्ति को ही बन्ध का कारण माना जाए, तो जीव की मुक्ति ही असम्भव हो जाएगी, क्योंकि वह शक्ति द्रव्योपजीवी है। शक्तिकी ही अपने विषय की अधिकार रखने वाली व्यक्तता उपयोग कही जाती है। अकेला उपयोग भी बन्ध का कारण नहीं है। क्योंकि ऐसा मानने पर सभी प्रकार का बन्ध उसमें समाहित होजाएगा।[3] इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अन्य निमित्त की उपस्थिति के कारण ही शक्ति में वैभाविक

---

१. अण्णणिरावेक्खो जो परिणामो सो सहावपज्जावो।
खंधसरूवेण पुणो परिणामो सो विहावपज्जावो॥ नियमसार, गा. २८

२. अर्थाद्वैभाविकी शक्तिर्या सा चेदुपयोगिनी।
तद्गुणाकारसंक्रान्तिर्बन्धः स्यादन्यहेतुकः॥
तत्र बन्धे न हेतु. स्याच्छक्तिःवैभाविकी परम्।
नोपयोगोऽपि तत् किन्तु परायत्तं प्रयोजकम्॥ पंचाध्यायी, अ० २, श्लोक ७२-७३

३. अस्ति वैभाविकी शक्तिस्तत्तद्द्रव्योपजीविनी।
सा चेद्बन्धस्य हेतुः स्यादर्थान्मुक्तेरसम्भवः॥
उपयोगः स्यादभिव्यक्तिः शक्तेः स्वार्थाधिकारिणी।
सैव बन्धस्य हेतुश्चेत् सर्वो बन्धः समस्यताम्॥ पंचाध्यायी, अ० २, श्लोक, ७४-७५

रूप परिणमन होता है। कहा भी है—उस शक्ति का अशुद्ध परिणमन अवश्य पर-निमित्त से होता है। निमित्त के हट जाने पर स्वयं उसका केवल शुद्ध परिणमन ही होता है[1]।

इस प्रकार दो शक्तियों के मानने पर भी उनमें न तो सत् की अवस्था से कोई भेद है और न किसी प्रकार का द्वैत है। क्योंकि द्रव्य में एक साथ एक शक्ति दो रूपों में परिणमित नहीं होती। और इसी प्रकार एक ही शक्ति के दो प्रकार के परिणाम भी नहीं होते; क्योंकि ऐसा मानने पर स्वभाव और विभाव दोनों एक साथ मानने पड़ेंगे और विभाव परिणाम को भी नित्य मानना होगा; जबकि विभाव परिणाम नित्य नहीं है[2]। वास्तव में व्यवहार से दो प्रकार की शक्तियाँ मानी जाती हैं, पर शक्ति तो सचमुच एक ही है जिसे वैभाविक कहा गया है। इसलिए ऐसा ही मानना योग्य है कि वैभाविकी शक्ति सम्पूर्ण कर्मों का अभाव होने पर अपने भावों से ही स्वयं स्वाभाविक परिणमनशील हो जाती है[3]। इस प्रकार नाम-भेद है; शक्ति-भेद नहीं है।

सच्ची स्वतन्त्रता

जैनदर्शन व अध्यात्म का उद्देश्य है—सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र वास्तविक स्वाधीनता या स्वतन्त्रता की प्राप्ति। बाहर से मिलने वाली स्वाधीनता सच्ची नहीं कही जा सकती, क्योंकि उसका सम्बन्ध संयोग से है। वस्तु के वियुक्त होते ही हमें पराधीनता का कष्ट सहना पड़ता है। इसलिए यह निश्चय से कह सकते हैं कि स्वाधीनता का सम्बन्ध वस्तु, स्थान, काल, समाज या देश से न होकर अपनी उस सहज शक्ति से है, जिसे छोड़ कर अन्य किसी परद्रव्य का आलम्बन न लेना पड़े और हम अपने सहज स्वभाव में या स्वाभाविक स्थिति में प्रवर्तन करते रहें। इसी प्रकार हमारी जिस स्वतन्त्रता को खतरा हो, भय हो, पराधीन होने की सम्भावना बनी रहती हो, वास्तव में वह स्वाधीनता नहीं है। स्वाधीनता तो वही है जो सतत अपने अधीन हो,

---

१. किन्तु तस्यास्तथाभावः शुद्धादन्योन्यहेतुकः।
तन्निमित्ताद्विना शुद्धो भावः स्यात्केवलं स्वतः॥ पंचाध्यायी, अ० २, श्लोक ८१

२. वही, अ० २, श्लो. ९१-९३

३ तस्माद्वैभाविकी शक्तिः स्वयं स्वाभाविकी भवेत्।
परिणामात्मिका भावैरभावे कृत्स्नकर्मणाम्॥ वही, अ० २, श्लोक ९०

अपने आश्रित हो। जिसके लिए हमें दूसरों का मुंह ताकना पड़े, वह स्वतन्त्रता भला कैसे हो सकती है ?

'स्वाधीन' शब्द का अर्थ है—अपने अधीन होना। अपने किसके ? चैतन्य आत्मा के आश्रित होना। चैतन्य आत्मा का क्या स्वरूप है ? ज्ञानानन्द। इसलिए ज्ञानानन्द स्वभाव का आश्रय लेना ही स्वाधीनता है। अपने स्वभाव से हट कर पर की ओर उन्मुख होना ही पराधीनता है। लोक में और परमार्थ मे दोनो में ही स्वाधीनता का लक्षण आत्मनिर्भर बताया गया है। आत्म-निर्भर वही कहा जाता है जो परमुखापेक्षी न हो, जिसे बात-बात में दूसरे का सहारा लेना पड़ता हो, वह न तो आत्मनिर्भर है और न स्वाधीन। अपने पैरों पर यानी अपने सहारे खड़ा होने वाला व्यक्ति, समाज या राष्ट्र आत्म-निर्भर होता है। इसी प्रकार जो केवल आत्मा के आश्रित स्थित होता है, वह अध्यात्म मे आत्मनिर्भर या स्वाधीन कहा जाता है। उस स्थिति में पहुँच कर व्यक्ति के सब सहारे छूट जाते हैं। वहाँ न तो चित्त का आलम्बन रहता है; न बुद्धि का और न इन्द्रियों का एवं वचन आदिक का भी नही। सभी राग-रगो से रहित वह एक निर्विकल्प दशा होती है, जिस में संसार का कोई द्वन्द्व प्रतिबिम्बित नही होता; केवल स्वानुभवगम्य एक वीतराग दशा का ही निरन्तर अनुभव होता है। यही वास्तव में सुख की दशा है जो अतीन्द्रिय है; इन्द्रियजन्य नही। इस दशा में वस्तु की पराधीनता नहीं है कि वह मिलेगी या नहीं ? मिल जाएगी, तो उससे बराबर मन के अनुकूल सुख मिलेगा या नही ? तथा वह सुख बराबर बना रहेगा या नही ?—ये सभी विकल्प वहाँ नही है। क्योंकि सहज, स्वाभाविक, अक्षय, अखण्ड, निराबाध सुख की सतत अनुभूति वहाँ होती है और जिस को एक बार उपलब्ध हो जाने पर, फिर, उससे हटने का भय नहीं रहता। आचार्य गुणभद्र का कथन उचित ही है—"जो तपस्वी कायक्लेश आदि कष्ट को सहज ही स्वाधीनतापूर्वक सहन करते हुए सुख का अनुभव करते हैं, तो जो सिद्ध स्वाधीन सुख से सम्पन्न है, वे सुखी क्यों न होंगे[1] ?"

---

१. स्वाधीन्याद्दुःखमप्यासीत्सुखं यदि तपस्विनाम्।
स्वाधीनसुखसम्पन्ना न सिद्धाः सुखिनः कथम्॥ आत्मानुशासन, श्लो. २६७

जिस प्रकार वन-उपवन के उन्मुक्त स्वच्छन्द विहारी खग-विहंग सोने के पिंजरे में बन्द होकर पराधीन हो बसना नहीं चाहते, उसी प्रकार ज्ञानानन्द स्वभाव में किलोल करने वाले मुमुक्षु जन पुण्य के बन्दीखाने में रहना पसन्द नहीं करते। वे स्वयं अपनी योग्यता की शरण ग्रहण करते हैं। उन्हें किसी अन्य आलम्बन की चाह नहीं होती। क्योंकि सभी द्रव्यों में स्वभाव से परिणमन करने की शक्ति है। इसलिए यह कहना उचित नही है कि क्या करें, कर्मों ने शरीर रूपी जेलखाने में डाल दिया है, इन्द्रियरूपी कारागृह के प्रहरी भोग भुगता रहे है और विषय रूपी बटमार आत्मा रूपी चिन्तामणि रत्न लूट रहे हैं और मन रूपी चक्र राग-द्वेष रूपी संसार मे घुमा रहे हैं, इन सब से कैसे बच सकते है ? हाय ! कर्मों ने हमे गुलाम बना लिया, चारों तरफ से परेशान कर रहे हे। उनके सामने हमारी कुछ नही चलती। यह सच है कि कर्मों के तीव्र उदय के समय हमारी कुछ नहीं चलती है, क्योकि हमारे पुरुषार्थ मे कमी होती है; किन्तु दशा कोई भी हो, सदा एक-सी नही रहती। इसलिए हमे कर्मों की ओर न देख कर अपने पुरुषार्थ की कमी को समझकर ऐसा प्रयत्न करना चाहिए, जिससे हमे सफलता मिल। वास्तव मे तो उपादान ही कार्यकारी है। कहा भी है---अपने-अपने परिणामो का उपादान कारण अपना द्रव्य ही होता है। अन्य जो बाहरी द्रव्य देखे जाते हैं, वे तो निमित्त मात्र हैं[1]। निमित्त और निमित्त मात्र कहने में अन्तर है। उदाहरण के लिए, संसारी जीव स्वय राग-द्वेष, मोह, लोभ, माया आदि रूप परिणमन करता है, इसलिए वह उपादान कारण है। और जो उसमें सहायक होता है, वह निमित्त कारण है; किन्तु निमित्त मात्र का अर्थ उदासीन निमित्त है, प्रेरक तथा सहकारी नही है। जैसे कि काल द्रव्य स्वयं अन्य द्रव्य रूप परिणमन नही करता और न अन्य द्रव्यों को अपने रूप परिणमाता है; किन्तु जो द्रव्य स्वयं परिणमन करते है, उनके परिणमन में वह उदासीन निमित्त होता है[2]। अतएव द्रव्यों का परस्पर उपकार इसी प्रकार से समझना चाहिए।

---

१. णिय-णिय परिणामाणं णिय-णिय दव्वं पि कारणं होदि।
अण्णं बाहिर-दव्वं णिमित्त-मित्तं वियाणेह ॥ कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा २१७

२. ण य परिणमदि सयं सो ण य परिणामेइ अण्णमण्णेहिं।
विविहपरिणामियाणं हवदि हु कालो सयं हेदु ॥ गोम्मटसार जीवकाण्ड, गा. ५६९

यह कहावत सत्य ही है कि परवश होना ही दुःख है और स्ववश होना सुख है। स्वाधीन चेता को यही और अभी सुख का अनुभव हो सकता है, कहीं आने-जाने की उसे आवश्यकता नहीं है। जो आत्माश्रित है, आत्म-स्वभाव में स्थित है, वह तो ज्ञानानन्द का रस-पान करता है। ससार के सुख-दुःख उसे छू नही सकते। भौतिक आकर्षण पराधीन वृत्ति वालों के लिए है, आत्माधीन के लिए तो ये सब निःसार है; केवल स्वाधीनता ही सार है। जिसकी दृष्टि स्वतन्त्रता की ओर नहीं गई, जिसे स्वतन्त्रता रुचती नही, उसकी प्रवृत्ति स्वाधीन कैसे हो सकती है? पराधीनता तो सब से बड़ा बन्धन है, किन्तु यह जीव आज तक पराधीनता मे सुख मानता आया है। ऐसी मान्यता को छोड़े बिना स्वाधीनता का आनन्द कैसे आ सकता है? और वास्तव मे धर्म वही है जो हमे स्वतन्त्रता की आजादी की सच्ची राह दिखाता हो।

जैनधर्म की स्वतन्त्रता गजब की है। छोटे-से-छोटे पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े से लेकर बड़े-बड़े पेड़-पौधे, खानों और चट्टानों तक को जैनदर्शन स्वतन्त्र उद्घोषित करता है। दुनिया की प्रत्येक वस्तु स्वतन्त्र है, किसी के अधीन नही है। उनका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व व परिणमन है। आप उनके मालिक बन कर उनकी स्वतन्त्र सत्ता को मिटा नहीं सकते। सभी का अपना-अपना जीवन स्वाधिकार को लिए हुए है। स्वतन्त्र अस्तित्व का अधिकार किसी भी प्रकार स्थानान्तरित नही किया जा सकता; क्योंकि वस्तु का वस्तुत्व वस्तु से भिन्न नही है। जैसा आपका जीव और जीवन है, वैसा ही अनन्तानन्त प्राणियों का भी है। आप अपना ख्याल रखते है, तो उनका भी ख्याल रखिए कि आपके जरिए उन्हे कोई तकलीफ न पहुँचे। गाँधीजी कहा करते थे कि देश मे सच्ची आजादी अहिंसा और सत्य के बिना स्थापित नहीं हो सकती। केवल राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेने से कोई देश वास्तविक स्वतन्त्रता नही प्राप्त कर लेता। स्वतन्त्र होने के लिए आत्मानुशासन आवश्यक होता है। जब लोक-व्यवहार में हम आजादी के लिए सत्य और अहिंसा आवश्यक मानते है, तो परमार्थ में उनके बिना काम कैसे चल सकता है? लेकिन परमार्थ में अहिंसा का वास्तविक स्वरूप हमारे सामने होता है। जहाँ किसी भी प्रकार का राग है, द्वेष है, मोह है, आत्म-पीड़न व परपीड़न है, वहाँ अहिंसा कैसे हो सकती है? आचार्य अमृतचन्द्र

स्पष्ट रूप से कहते हैं : "आत्मा में राग-द्वेष, मोह आदि भावों का उत्पन्न होना ही हिंसा है और इन भावों का उत्पन्न ही न होना अहिंसा है जो जिनागम का सार है[1]।"

यदि जैनधर्म में से वीतरागता और स्वतन्त्रता निकाल दी जाए, तो कुछ बचता नहीं है। सच पूछा जाए, तो वीतरागता ही सहज, स्वाभाविक एवं स्वतन्त्र है। आत्मा और धर्म भी स्वतः सिद्ध, असहाय, स्वाभाविक तथा स्वतन्त्र हैं। केवलज्ञान स्वतन्त्र, निरपेक्ष, आत्माधीन, कर्मों की उपाधि से रहित, स्वभाव है। आत्मा सर्वज्ञ स्वयमेव होने से स्वयम्भू है। और तो और, कर्म-पुद्गल की भी स्वतन्त्रता बतलाई गई है। यहाँ प्रश्न किया जा सकता है कि इस समय जीव स्वतन्त्र कहाँ है? कर्मों के बन्धन में पड़ा हुआ संसार में चक्कर काट रहा है। किन्तु यह संसार क्या है? आचार्य पूज्यपाद कहते हैं—अपने-अपने उपार्जित कर्म के वश से यह जीव एक जन्म से दूसरे जन्म को प्राप्त करता है[2]। जैसे मकड़ी अपना जाला स्वयं बुनकर, उसमें उलझ जाती है, वैसे ही यह संसारी जीव राग-द्वेष भावो से संसार बना कर स्वयं उसमें उलझा हुआ है। अतएव संसार का कारण कर्म न होकर इस जीव के राग-द्वेष भाव हैं। इन भावो से ही योग-उपयोग का निमित्त पाकर द्रव्य कर्मों का आकर्षण तथा एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध होता है। कर्मबन्ध के जो कारण कहे गए हैं, उनमे भी सर्वप्रथम मिथ्यादर्शन है। हमने अपनी बुद्धि से ही मिथ्यात्व (विपरीत श्रद्धान) को ग्रहण कर रक्खा है। इसलिए कर्मो को दोष देना, उन्हें बुरा बताना जैनधर्म का सिद्धान्त नही है। अपराध अपना है। अपने अपराध को स्वीकार किए बिना हम अपना सुधार नहीं कर सकते।

जो लोग यह कहते हैं कि कर्मों की गति टाले नहीं टल सकती है, इस एकान्त को जैनधर्म नहीं मानता। क्योंकि करोड़ों वर्षों तक भोगे बिना कर्म क्षय को प्राप्त नहीं होते[3]—यह मत जैनधर्म का नही है। आचार्य तो यह कहते हैं कि ध्यान रूपी अग्नि से क्षण भर में सभी कर्म (घातिया कर्म)

---

१. अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥ पुरुषार्थ सिद्धि-उपाय, श्लो. ४४

२. "स्वोपात्तकर्मवशादात्मनो भवान्तरावाप्तिः संसारः।" —सर्वार्थसिद्धि, १,१

३. "नाभुक्तं क्षीयते कर्मः कल्पकोटिशतैरपि।"

भस्म हो जाते हैं। अत्यन्त निर्मल एकत्ववितर्क शुक्लध्यान रूपी अग्नि के प्रकट होने पर योगी के घातिया कर्म क्षण भर में विलीन हो जाते हैं[1]। जिनागम में ध्यान का काल ही अन्तर्मुहूर्त बताया गया है। एक वस्तु में अन्तर्मुहूर्त समय तक चिन्ता का रुके रहना छद्मस्थों का ध्यान है और योग (मन, वचन, काय) का निरोध हो जाना जिन भगवान का ध्यान है[2]।

पुरुषार्थ क्या है ?

इसके पहले कि यह विचार करें कि पुरुषार्थ क्या है—यह समझ लेना आवश्यक है कि पुरुषार्थ किस लिए, किस प्रकार का हो ? क्योंकि दुनिया में ऐसा कोई प्राणी नहीं है जो बिना काम किए हुए रहता हो। यहाँ तक हवा, पानी आदि भी अपना-अपना कार्य निरन्तर करते रहते हैं। इसी प्रकार पेड़-पौधे, पशु-पक्षी, मनुष्यादि अपनी आजीविका चलाने के लिए, आहार ग्रहण करने के लिए भी कोई न कोई उपाय किया करते हैं; किन्तु इन्हें पुरुषार्थ नही कहते। आहार, भय, निद्रा और मैथुन ये चार संज्ञाएँ हैं जो सभी प्राणियों में पाई जाती है। यद्यपि लौकिक व्यवहार में चार प्रकार के पुरुषार्थ बताए जाते है। आचार्य शुभचन्द्र ने भी चारों प्रकार (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) के पुरुषार्थ का उल्लेख करते हुए कहा है कि इन में से तीन (धर्म, अर्थ, काम) रोगसहित नाशवान है, जन्मजात रोगों से दूषित है, किन्तु अन्त का पुरुषार्थ मोक्ष नाशरहित, अविनाशी है, इसलिए तत्त्वज्ञों को मोक्ष-प्राप्ति

---

१. अस्मिस्तु निश्चलध्यानहुताशे प्रविजृम्भिते ।
विलीयन्ते क्षणादेव घातिकर्माणि योगिनः ।। ज्ञानार्णव, ४२, २८

तथा–

एक चिन्तानिरोधात्पुनरिदमुभयं ध्यानमान्तर्मुहूर्तं ।
मद्भूयो दश्चतुर्धा पुनरिदमपरे षोडशांशं ध्वनन्ति ।।
तिर्यक्श्वभ्रशुमोक्षप्रदमवहिततोद्योग साम्येऽपि धर्म्यं ।
धूमध्वान्तरस्वभावात्तदपि दशविधं वन्हिभानुक्रमेण ।। आचार्य सोमदेवः
अध्यात्मतरंगिणी, श्लो. १५

५. अंतोमुहुत्तमेत्तं चित्तावत्थाणमेगवत्थुम्हि ।
छदुमत्थाणं ज्झाणं जोगणिरोहो जिणाणं तु ।। धवला, १३,५,५१

का साधन करना चाहिए[1]। इस प्रकार मोक्ष पुरुषार्थ को ही पुरुषार्थ माना गया है। धर्म भी पुरुषार्थ है, किन्तु यदि वह मोक्ष का साधक है तो पुरुषार्थ है; अन्यथा नहीं। इससे यह बात स्पष्ट रूप से समझ में आ जाती है कि जो मोक्ष का साधक हो, ऐसा उपाय पुरुषार्थ कहा जाता है। इस तरह पुरुषार्थ के ये चारों भेद उपचार से कहे गए हैं। ये वास्तविक नहीं हैं; क्योंकि अध्यात्म में पुरुषार्थ वह है जो आत्म-दर्शन कराता है[2]। अध्यात्म-मार्ग में पुरुषार्थ करने का एक ही प्रयोजन, एक ही लक्ष्य है—परमतत्त्व या शुद्धतत्त्व की उपलब्धि। आत्मोपलब्धि या चैतन्य पुरुष के शुद्धचेतना प्रकाश की व्यक्ति के लिए जो सहज साधन किया जाता है, उसे ही पुरुषार्थ कहते हैं। पं० टोडरमलजी के शब्दो में पुरुषार्थ से उद्यम करते हैं सो यह आत्मा का कार्य है[3]। निश्चय ही पुरुषार्थ से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। मोक्ष अवस्था में सच्चा सुख मिलता है। इसलिए सच्चा सुख पाने के लिए आत्मा का हित करना श्रेयस्कर है। आत्मा का हित सच्चे पुरुषार्थ से होता है। यहाँ कोई प्रश्न करता है कि मोक्ष का उपाय काल-लब्धि आने पर भवितव्य के अनुसार बनता है या मोहादि के उपशम आदि होने पर बनता है या अपने पुरुषार्थ से उद्यम करने पर बनता है, सचाई क्या है? यदि प्रथम दोनों कारणों के मिलने पर मोक्ष का उपाय बनता हो, तो फिर उपदेश किसलिए दिया जाता है? इसी प्रकार यदि पुरुषार्थ से मोक्ष का उपाय बनता है, तो उपदेश किसलिए दिया जाता है? क्योंकि उपदेश तो सभी सुन लेते हैं, किन्तु मोक्ष का उपाय सब नहीं करते हैं; कोई विरला व्यक्ति ही करता है। आचार्यकल्प पं० टोडरमलजी इसका उत्तर देते हुए कहते हैं : "कोई मोक्ष का उपाय कर सकता है, कोई नहीं कर सकता —इसका कारण यही है कि जो उपदेश सुनकर पुरुषार्थ करते हैं, वे मोक्ष का

---

१. धर्मश्चार्थश्च कामश्च मोक्षश्चेति महर्षिभि ।
पुरुषार्थोऽयमुद्दिष्टश्चतुर्भेद: पुरातनै: ॥
त्रिवर्गं तत्र सापायं जन्मजातंकदूषितम् ।
ज्ञात्वा तत्त्वविद: साक्षाद्यतन्ते मोक्षसाधने ॥ ज्ञानार्णव, ३,४,-५

२. पुरुषारथ की सिद्धि को जा में परम उपाय ।
जाहि सुनत भव-भ्रम मिटे आतम तत्त्व लखाय ॥ पं. टोडरमल

३. पण्डितप्रवर टोडरमल: मोक्षमार्गप्रकाशक, नवा अधिकार, पृ ३११

उपाय कर सकते हैं, और जो पुरुषार्थ नहीं करते, वे मोक्ष का उपाय नहीं कर सकते। उपदेश तो शिक्षा मात्र है, फल जैसा पुरुषार्थ करे वैसा लगता है[1]।"

यह सच है कि बिना पुरुषार्थ के आत्मानन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती; पुरुषार्थ बिना संसार का भ्रमण नहीं मिट सकता और मुक्ति भी नहीं हो सकती। कोई कहता है कि व्रत, तप, संयम आदि पुरुषार्थ है, उसे करने पर मोक्ष मिलता है। दूसरा कहता है कि संसार का कारण आस्रव है, इसलिए आस्रव-निरोध का नाम पुरुषार्थ है। तीसरा कहता है कि संवर के बिना निर्जरा-मुक्ति नहीं होती, इसलिए वही पुरुषार्थ है। चौथा कहता है कि ध्यान तथा आत्मानुभूति ही पुरुषार्थ है। इस प्रकार अपनी-अपनी समझ के अनुसार लोग जैन-धर्म को मानते हैं। वास्तविकता क्या है? यही समझने की बात है। धर्म का सीधा सम्बन्ध सत्य श्रद्धान से है। सत्य या परमतत्त्व केवल शुद्ध आत्मा है। उसका सम्यक् श्रद्धान आत्मावलोकन के बिना नहीं हो सकता। व्यवहार में जिन सात तत्त्वों के श्रद्धान का नाम सम्यग्दर्शन कहा जाता है, उस में मुख्य आत्मतत्त्व है। आत्मतत्त्व को समझने के लिए पर-तत्त्व को भी समझना पड़ता है; अपना घर अच्छी तरह से समझने के लिए पराये घर को भी समझना पड़ता है; ताकि उससे भिन्नता कर सकें। आचार्य कुन्दकुन्द स्पष्ट स्वरों में कहते हैं: जो व्रत तथा नियमों को धारण करते हैं, शील और तप का आचरण भी करते हैं, किन्तु परमार्थ से ज्ञानस्वरूपआत्मा को नहीं जानते हैं, शुद्ध आत्मा का जिन को ज्ञान, श्रद्धान नहीं है, वे निर्वाण का अनुभव नहीं करते हैं, मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकते[2]। आध्यात्मिक सन्त योगीन्द्रदेव तो यहाँ तक कहते हैं कि कायक्लेशपूर्वक उग्र तपों को तपने से भी मोक्ष नहीं मिल सकता। क्योंकि कषाय तो क्षीण होती नहीं है—काय-क्लेश से शरीर ही क्षीण होता है[3]। चाहे व्यवहार धर्म हो और चाहे निश्चय धर्म; वस्तुओं ने

---

१. मोक्षमार्ग प्रकाशक, नवा अधिकार, पृ. ३११ से उद्धृत

२. वदणियमाणि धरंता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता।
परमट्ठबाहिरा जे णिव्वाण ते ण विंदंति ।। समयसार, गा. १५३

३. कायकिलेसें पर तणु झिज्जइ,
विणु उवसमेण कसाउ ण खिज्जइ।
ण करहिं इंदिय मणह णिवारणु,
उग्गतवो वि ण मोक्खह कारणु ।। परमात्मप्रकाश, दोहा १६४

पर-पदार्थों ने तथा शरीर ने हमारा कुछ नहीं बिगाड़ा है, जिससे हम भोजन का त्याग कर उपवास करें, वस्त्रों का त्याग कर निर्ग्रन्थ बनें और सब कुछ छोड़ कर त्यागी-व्रती बनें। वास्तव में जैनधर्म में वस्तु-त्याग की महिमा न हो कर राग-त्याग व आसक्ति हटाने की दृष्टि मुख्य है। क्योंकि तत्त्व-दृष्टि से देखने पर राग-द्वेष को उत्पन्न करने वाला कोई अन्य द्रव्य नहीं दिखलाई पड़ता है। अशुद्ध निश्चयनय से राग-द्वेष चेतना के ही परिणाम हैं। सिद्धान्त भी यही है कि सभी द्रव्यों की उत्पत्ति अपने निज स्वभाव में, अन्तरंग में प्रकट शोभायमान होती है। अन्य किसी द्रव्य में अन्य द्रव्य के गुण-पर्यायों की उत्पत्ति नहीं होती है[1]। इसलिए व्यवहार नय से आचार्य वस्तुओं के त्याग का इसलिए उपदेश देते है कि उनमें संसक्त रुचि छुड़ाना चाहते हैं, पर-पदार्थों की रुचि, आसक्ति वस्तुओं को छोड़े बिना हट नहीं सकती है, इसलिए उपदेश देते हे; किन्तु यह निश्चय नहीं है कि किसी वस्तु को छोड़ देने पर उसकी चाह छूट ही जाएगी। अतएव निश्चय नय से राग के त्याग का उपदेश देते है और समभाव को उपलब्ध होने की प्रेरणा करते हैं[2]।

वास्तव में बात यह है कि जो कर्मों को बाँधने और छोड़ने तथा नाश करने के चक्कर में पड़ता है, वह विभिन्न क्रियाओं को करता हुआ उनका कुछ बिगाड़ नही पाता है, उनका नाश करने में समर्थ नही होता। जो यह कहा जाता है कि चार प्रकार के घातिया कर्मो का नाश कर अर्हन्त बने और आठों कर्मों का नाश कर सिद्ध बने, यह सब उपचार का कथन है। चाहे द्रव्यकर्म हो और चाहे पुद्गल-वर्गणा—जब संसार की प्रत्येक वस्तु नित्य परिणामी है, तो फिर किसी वस्तु का नाश कैसे हो सकता है? वस्तु की पर्याय में ही परिवर्तन हो सकता है; द्रव्य और गुणों में कभी भी कोई अणु मात्र भी अन्तर नहीं पड़ता। इसलिए हम कर्मों से युद्ध की बात सोचकर केवल द्वेष करते हैं, कर्तृत्व भावना को जन्म दे कर मिथ्यादृष्टि बनते हैं—यह पुरुषार्थ कहाँ हुआ? चले

१. रागद्वेषोत्पादकं तत्त्वदृष्टया नान्यद्द्रव्यं वीक्ष्यते किंचनापि।
सर्वद्रव्योत्पत्तिरन्तश्चकास्ति व्यक्तात्यन्तं स्वस्वभावेन यस्मात्॥

—समयसारकलश, श्लोक २१९

२. रागादिक तैं कर्म को बन्ध जानि मुनिराय।
तजै तिनहि समभाव करि नमूं सदा तिनि पाय॥ —पं. जयचन्द्र

थे संसार को मिटाने के लिए, पर संसार और बढ़ा लिया। इसका कारण यही है कि हम अज्ञान में हैं। न तो लोक (द्रव्य जहाँ पाए जाते हैं) कभी मिटेगा और न कर्म का कभी नाश होगा। भाव हमारे हैं नहीं; तो किसके हैं ? आचार्य से शिष्य यही पूछता है कि राग-द्वेष आदि भाव कर्मों से उत्पन्न हुए हैं या जीव से ? उत्तर में कहते हैं : जिस प्रकार स्त्री-पुरुष के संयोग से पुत्र उत्पन्न होता है, चूना और हल्दी के मिश्रण से लाल रंग पैदा होता है, वैसे ही राग-द्वेष आदि भाव जीव और कर्म इन दोनों के संयोग से उत्पन्न होते हैं। फिर, शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा राग-द्वेष कर्मजनित तथा अशुद्ध निश्चय-नय से जीवजनित कहलाते हैं। शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से अशुद्ध निश्चय-नय व्यवहार है[1]। वास्तव में शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि में तो जीव और पुद्गल दोनों शुद्ध हैं। इसलिये इन दोनों के संयोग का अभाव है और संयोग न होने से आत्मा के राग-द्वेषादि की उत्पत्ति नही होती। फिर, जो यह कहा जाता है कि जीव के रागादि भावों से युक्त होने पर कर्म का बन्ध होता है और रागादि भावों से रहित होने पर बन्ध नहीं होता, ज्ञायक मात्र होता है[2]—यह भी व्यवहार का कथन है; क्योंकि यह आस्रव की दृष्टि से बताया गया है। राग-द्वेष, मोह को ही जिनागम में आस्रव कहा गया है।

पुरुषार्थ किसे कहें ?

वस्तुतः स्वभाव में स्थिर होने का नाम पुरुषार्थ है। हम अपने स्वभाव से च्युत होने के कारण ही सुख-दुःख का वेदन करते हैं। किन्तु मोक्ष-मार्ग में व्रत, नियम, संयम, तप आदि का जो उपदेश दिया जाता है, वह सब केवल एक तत्त्व की उपलब्धि के अर्थ ही है, जिसे हम पुरुषार्थ भी कह सकते हैं[3]।

---

१. "अत्राह शिष्य:—रागद्वेषादय: किं कर्मजनिता, किं जीवजनिता इति ? तत्रोत्तरम्-स्त्री-पुरुषसंयोगोत्पन्नपुत्र इव सुधाहरिद्रासंयोगोत्पन्नवर्णविशेष इवोभयसंयोग-जनिता इति। पश्चान्नयविवक्षावशेन विवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चयेन कर्मजनिता भण्यन्ते। तथैवाशुद्धनिश्चयेन जीवजनिता इति। सा चाशुद्धनिश्चय: शुद्ध-निश्चयापेक्षया व्यवहार एव।" —बृहद्द्रव्यसंग्रह, गा. ४८ की टीका

२. भावो रागादिजुदो जीवेण कदो दु बंधगो होदि।
रागादिविप्पमुक्को अबंधगो जाणगो णवरि ।।समयसार, गा. १६७

३. सर्वेन्द्रियाणि संयम्यस्तिमितेनान्तरात्मना।
यत्क्षणं पश्यतो भाति तत्तत्त्वं परमात्मन: ।। समाधितन्त्र, श्लो. ३०

किन्तु वह उसी स्थिति में पुरुषार्थ कहा जा सकता है; जबकि मन रूपी समुद्र राग-द्वेष आदि की तरंगों से विक्षुब्ध न होकर स्थिर हो अपने आत्म-तत्त्व का दर्शन करता है[1]। शुद्ध आत्मतत्त्व के सन्मुख होना व्यवहार में पुरुषार्थ है। इसलिये तत्त्वों का निर्णय करना, परमतत्त्व या आत्मतत्त्व में रुचि करना, सतत स्वाध्याय की प्रवृत्ति बनाना, तत्त्वों का चिन्तन करना आदि पुरुषार्थ के बाहरी लक्षण हैं। यथायोग्य भूमिका के अनुसार अलग-अलग प्रकार का पुरुषार्थ कहा गया है।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि संसार के सब प्राणी अपनी-अपनी समझ के अनुसार कोई-न-कोई पुरुषार्थ अवश्य करते हैं। कुछ लोग ऐसा भी मानते हैं कि पुरुषार्थ से ही सब अर्थों की सिद्धि होती है। किन्तु आचार्य समन्तभद्र कहते हैं : "यदि सब पदार्थों की सिद्धि पुरुषार्थ से होती है, तो दैव से पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं मान सकते हैं। यदि पुरुषार्थ से ही पुरुषार्थ की सिद्धि मानी जाए, तो सब प्राणियों के पुरुषार्थ को सफल होना चाहिए[2]।" परन्तु सभी प्राणियों के सब पुरुषार्थ सफल नहीं होते। इसलिए यह मानना पड़ता है कि दैव के बिना पुरुषार्थ नहीं होता। कहा भी है : भाग्य के अनुसार बुद्धि होती है और प्रयत्न भी वैसा ही होता है। उस कर्मोदय या भाग्य के अनुसार सहायक कारण भी मिल जाते है। सभी योग एक-से एकत्र हो जाते हैं[3]। वास्तव में एकान्त मान्यता से बचने के लिए ऐसा कहा जाता है। क्योंकि जिस प्रकार एकान्त से दैव से ही पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं होती, उसी प्रकार से बाहरी क्रियाओं को भी एकान्त से पुरुषार्थ नहीं कहा जा सकता। आचार्य समन्तभद्र ने 'आप्तमीमांसा' के आठवें परिच्छेद में यही बताया है कि पुरुषार्थ की सिद्धि कैसे होती है? उनके कथन का सार यही है कि ज्ञापक उपाय तत्त्व ज्ञान है और कारक उपाय तत्त्व पुरुषार्थ आदि है। परस्पर सापेक्ष रूप से दैव और पुरुषार्थ से सभी अर्थों की सिद्धि होती है। ये दैव और पुरुषार्थ क्या हैं?

---

१. रागद्वेषादिकल्लोलैरलोलं यन्मनोजलम्।
स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं तत्तत्त्वं नेतरो जनः॥ समाधितन्त्र, श्लो. ३५

२. पौरुषादेवसिद्धिश्चेत् पौरुषं दैवतः कथम्।
पौरुषाच्चेदमोघं स्यात् सर्वप्राणिषु पौरुषम्॥ आप्तमीमांसा, ८,८९

३. तादृशी जायते बुद्धिर्व्यवसायश्च तादृशः।
सहायास्तादृशाः सन्ति यादृशी भवितव्यता॥ अष्टशती में उद्धृत

योग्यता अथवा पूर्व कर्म का नाम दैव है और इस लोक में की गयी चेष्टा का नाम पुरुषार्थ है। पूर्व में क्या हो चुका है और योग्यता क्या है, यह सब अब देखने में नहीं आता, इसलिए दैव को अदृष्ट कहा जाता है। किन्तु जो उपाय आज हम कर रहे हैं, वह देख सकते हैं, इसलिये पुरुषार्थ को दृष्ट कहते हैं। वास्तव में ये सभी व्याख्याएं व्यवहार नय की दृष्टि से हैं। मूल में तो यही बात ध्यान में लेना है कि यह जीव परतन्त्र तथा दुखी क्यों है और किस प्रकार स्व-पुरुषार्थ से अपने उपादान का आलम्बन लेकर स्वतन्त्र होगा? आचार्य कुन्दकुन्द ने इसका बहुत सुन्दर उपाय बताया है—भेदविज्ञान का आलम्बन लेकर आत्मा को पुण्य-पाप रूपी शुभ, अशुभ उपयोगों से रोक कर पर-द्रव्यों की इच्छा से रहित होकर दर्शन-ज्ञानमयी आत्मा का ध्यान करता हुआ तन्मय हो अल्प काल में ही कर्मों से रहित शुद्ध आत्मा को उपलब्ध करना चाहिए[1]। यही संवर होने का उपाय बताया गया है। आचार्य अमृतचन्द्र समझाते हुए कहते है: भेद-विज्ञान की कला के प्रकट हो जाने पर अपने शुद्ध स्वभाव की उपलब्धि होती है। शुद्ध तत्त्व के उपलब्ध हो जाने पर राग का समूह विलीन हो जाता है। राग समूह के विलय होने पर कर्मों का आना रुक जाता है और कर्मों का संवर होने पर ज्ञान मे ही स्थिर हो शुद्ध ज्ञान उदित हो जाता है[2]। अध्यात्म में स्वानुभव पुरुषार्थ है। भेद-विज्ञान की कला के बिना स्वानुभव नही होता। शुद्ध दृष्टि से शुद्ध आत्म-तत्त्व की पहचान कर स्वानुभव की ओर उन्मुख हो सकता है। अत. यह निश्चित है कि स्वानुभूति के द्वारा ही यह जीव अपने पुरुषार्थ की महिमा प्रकट कर सकता है। यह उद्योग तथा पुरुषार्थ शाश्वत है। इसे किसी अन्य की सहायता से नही करना पड़ता है। यह स्फूर्ति रूप है। अतएव यही आत्मा का सच्चा पुरुषार्थ है।

---

१. अप्पाणमप्पणा रुंधिऊण दोपुण्णपावजोएसु।
दंसणणाणम्हि ठिदो इच्छाविरदो य अण्णम्हि ।। समयसार, गा. १८७
अप्पाणं झायंतो दंसणणाणमओ अणण्णमओ।
लहइ अचिरेण अप्पाणमेव सो कम्मपविमुक्कं ।। वही, गा. १८९

२. भेदज्ञानोच्छलनकलनाच्छुद्धतत्त्वोपलम्भाद्रागग्रामप्रलयकरणात्कर्मणां संवरेण।
बिभ्रत्तोषं परमममलालोकमम्लानमेकं ज्ञानं ज्ञाने नियतमुदितं शाश्वतोद्योतमेतत् ।।
समयसारकलश, श्लोक १३२

यहाँ कोई प्रश्न कर सकता है कि गृहस्थ श्रावकों के लिए भगवान जिनेन्द्रदेव की पूजा, निर्ग्रन्थ गुरुओं की उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान रूप जिन छह आवश्यक कार्यों का शास्त्रों में उल्लेख किया गया है और कहा गया है कि गृहस्थों को प्रति दिन इनका पालन करना चाहिए, सो किस-लिए है ? इसका उत्तर यही है कि सामान्य गृहस्थों की भूमिका कर्तव्यरत बुद्धि की होती है। इसलिये वे धार्मिक क्रियाओं को करते हुए सुख का अनुभव करते हैं। जिनको तत्त्व की पहचान हो जाती है, वे भी अपने स्वरूप को सर्वज्ञ की भांति समझ कर तन्मय अनुभूति के निमित्त ऐसे कार्यों को उल्लास के साथ करते हैं; किन्तु आकुलता-व्याकुलता नहीं करते। इस प्रकार गृहस्थों की भी अलग-अलग भूमिकाएँ हैं। इन भूमिकाओं का संक्षेप में उल्लेख इस प्रकार किया जा सकता है:-

(१) प्रथम वह है जो सद्गृहस्थ नहीं है, जिसे हिताहित, भक्ष्याभक्ष्य तथा सेव्य-अनुपसेव्य एवं हेय-उपादेय का कोई ज्ञान नहीं है; खाना-पीना, मौज करना और किसी प्रकार पेट भरना ही जिसके जीवन का लक्ष्य है। ऐसा मनुष्य नामधारी प्राणी भी किसी शुभ अवसर को पा कर धार्मिक क्रिया का आलम्बन लेता है। यह उसकी कर्तव्य मार्ग में आने की भूमिका है। सबसे पहले उसे कर्तव्य को सोचने-समझने का मौका मिलता है। वह कर्तव्य को ही धर्म समझकर आदर के साथ उसे ग्रहण करता है। दुनिया के अधिकतर लोग इसी श्रेणी में आते हैं। सब ने अपने-अपने ईश्वर मान रक्खे हैं। उनका भजन करना, उनके नाम की माला फेरना और अधिक हुआ तो पूजा कर लेना ही वे सबसे बडा धर्म मानते हैं। ईश्वर कैसा है, कौन है ? उसका वास्तविक स्वरूप क्या है ? इन सब बातों के बारे में उनकी कोई जानकारी नहीं होती।

(२) दूसरी भूमिका उन सद्गृहस्थों की है जो जिन-मन्दिर बनवाते हैं, पाठशालाएँ खुलवाते हैं, जिन-बिम्ब की स्थापना कराते हैं, शास्त्र लिखवाते हैं, प्रकाशित कराते हैं, धर्म की प्रभावना, दान-दयादि सत्कार्यों को करते हैं—यह सब उनकी कर्तव्यरत बुद्धि का परिणाम है। यही वह भूमिका है, जिसमें बैठकर सद्गृहस्थ शास्त्र को सुनता है, पढ़ता है और समझता है। जैन पुराण यही बताते हैं कि जो जिन-मन्दिर नहीं आता, उसे पहले यह उपदेश देते हैं कि प्रति दिन मन्दिर आकर देव-दर्शन-पूजादि करना चाहिए।

जो यह सब करता है, उससे कहते हैं—थोड़ी देर बैठकर सुनो जिनवाणी क्या कहती है ? यही कि दुनिया को बहुत समझा और समझते-समझते तुम्हारी इस पर्याय का अन्त हो जाएगा, यह जीवन चुक जाएगा, पर अपने आप को समझे बिना व्यर्थ ही अमूल्य मनुष्य-जीवन बीत जाएगा। इसलिये यह समझ कि तू क्या है ? एक आत्मा को समझाने के लिए ही सात तत्त्व, नौ पदार्थ, छह द्रव्य और भाव-विभाव आदि अनेक मौलिक मान्यताओं को लेकर जैन दर्शन का उद्‌भव हुआ। अपने धर्म और दर्शन को समझ तो सही। आचार्य तुझे क्या समझाना चाहते है ? जितने भी तीर्थंकर हो चुके है, सब ने प्रथम मुनिधर्म का उपदेश दिया और बताया कि यही अंगीकार करने योग्य है। जो उनकी बातों को भलीभाँति समझने और पालने योग्य थे, वे तुरन्त ही मुनि बन गये और उन्होंने आत्म-कल्याण कर लिया; परन्तु जिनमें पुरुषार्थ की कमी थी, वे श्रावक धर्म की ओर झुक गए। आचार्य बराबर यही कहते है कि हे भव्य जीव ! मुनिपना अंगीकार करने योग्य है। जो उसे अंगीकार न कर सकें, तो उसकी श्रद्धा कर श्रावक धर्म का पालन करे। इस भूमिका मे गृहस्थो के छह आवश्यक कार्य बताये गए है[1]। यह समझना ठीक नही है कि अध्यात्म इस व्यवहार धर्म का निषेध करता है। कहा भी है : "श्रावक क्या करे ? श्रावक प्रथम तो हमेशा देवपूजा करें। देव अर्थात् सर्वज्ञदेव उनका स्वरूप पहचान कर उनके प्रति बहुमान पूर्वक रोज-रोज दर्शन-पूजन करे। स्वयं ने सर्वज्ञ पहचान लिया है और स्वयं सर्वज्ञ होना चाहता है। वहाँ निमित्त रूप मे सर्वज्ञता को प्राप्त अरहंत भगवान के पूजन, बहुमान का उत्साह धर्मी को आता है। जिन मन्दिर बनवाना, उसमे जिन-प्रतिमा स्थापन करवाना, उनकी पंचकल्याणक पूजा-अभिषेक आदि उत्सव करना, ऐसे कार्यो का उल्लास श्रावक को आता है—ऐसी इसकी भूमिका है, इसलिये उसे श्रावक का कर्तव्य कहा है। जो उसका निषेध करे, तो मिथ्यात्व है। और मात्र इतने शुभ राग को ही धर्म समझ, तो उसको भी सच्चा श्रावकपना होता नही—ऐसा जानो। सच्चे श्रावक को तो प्रत्येक क्षण-पूर्ण शुद्धात्मा का श्रद्धान रूप सम्यक्त्व वर्तता है

---

१. देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने ।। पद्मनन्दि पंचविंशतिका, ६, ७

और उसके आधार से जितनी शुद्धता प्रकट हुई है, उस ही धर्म जानता है। ऐसी दृष्टिपूर्वक वह देवपूजा आदि कार्यों में प्रवर्तता है[1]।"

(३) तीसरी भूमिका सच्चे श्रावक की है। श्रावक मिथ्यात्व, अन्याय और अभक्ष्य का त्यागी होता है। आचार्य कहते हैं कि इन्द्रियों के सुख के निमित्त जो धर्म में, देव, शास्त्र, गुरु में श्रद्धान करता है, वह मिथ्यादृष्टि है[2]। इसी प्रकार देव, गुरु किसी का भला कर देंगे, मनोरथ पूर्ण हो जायेंगे– इस भावना से दर्शन-पूजन करना मिथ्यात्व है। वीतराग देव, गुरु किसी को न कुछ देते हैं, न किसी का कुछ लेते हैं; क्योंकि ये बातें वीतरागता की विरोधी हैं। फिर, हम दर्शन-पूजन क्यो करें? इस प्रश्न का बहुत सुन्दर उत्तर देते हुए आचार्य समन्तभद्र कहते हैं: हे भगवन्! आप वीतराग हैं, इसलिये आपकी पूजा नही करनी चाहिए और आप वीतद्वेष हैं, इसलिये निन्दा नहीं करनी चाहिए। फिर भी, आपकी पूजा इसलिये करते हैं कि आपके पुण्य गुणों का स्मरण करने से हमारा चित्त पवित्र हो जाता है; जिस प्रकार अंजन लगाने पर नेत्र स्वच्छ हो जाते हैं[3]। इस प्रकार सही दृष्टि पूर्वक धार्मिक क्रिया करने से लाभ होता है; अन्यथा नहीं–यही इस भूमिका का श्रावक समझता है। उदाहरण के लिए, कषायों से हटने के लिए और आत्मानुभूति में प्रवृत्त होने के लिए उपवास करने का उपदेश दिया गया है। किन्तु यह केवल चार प्रकार के आहार का त्याग कर देता है और रोज की तरह सरम्भ, समारम्भ, आरम्भ, कषाय, विषयादि में प्रवर्तन करता रहता है, तो उपवास कैसे हुआ[4]? व्यवहार में भी इसे उपवास नहीं कहा जा सकता; तप कहना तो दूर की बात है। भला, भोजन ने हमारा क्या बिगाड़ा था? भोजन तो रोगी और भिखारी भो छोड़ देता है; किन्तु स्वेच्छा से धर्म की प्रवृत्ति के लिए त्यागने का संकल्प था, सो उस ओर लक्ष्य ही नहीं दिया। ऐसे उपवास करने से क्या लाभ? शरीर का लाभ कदाचित् हो सकता है; किन्तु आत्मा का तो नहीं होगा। स्वास्थ्य के लिए उपवास करना हो,

---

१. आत्मधर्म, वर्ष ३२, अंक ८, पृ. १२ से उद्धृत

२. इंदियसोक्खणिमित्तं सद्धाणादीणि कुणइ सो मिच्छो।– नयचक्र, गा. ३३३

३. न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ! विवान्तवैरे।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनातु चित्तं दुरितांजनेभ्यः॥ बृहत्स्वयंभू०, श्लो. ५७

४. कषायविषयाहारो त्यागो यत्र विधीयते।
उपवासः स विज्ञेयः शेषं लंघनकं विदुः॥ –कार्तिकेयानुप्रेक्षा में उद्धृत

तो कीजिए; अच्छा ही है, किन्तु धर्मबुद्धि से करने पर मिथ्यात्व कैसे होता है ? यह आचार्यकल्प पं. टोडरमलजी के शब्दों में समझने योग्य है। वे कहते हैं–"धर्मबुद्धि से बाह्य उपवासादि तो किये, और वहाँ उपयोग अशुभ, शुभ, शुद्धरूप जैसा परिणमित हो, वैसा परिणमो। यदि बहुत उपवासादि करने से बहुत निर्जरा हो, थोड़ा करने से थोड़ी निर्जरा हो–ऐसा नियम ठहरे, तब तो उपवासादिक ही मुख्य निर्जरा का कारण ठहरेगा, सो तो बनता नहीं। परिणाम दुष्ट होने पर उपवासादिक से निर्जरा होना कैसे सम्भव है ? यदि ऐसा कहें कि जैसा अशुभ, शुभ, शुद्ध रूप उपयोग परिणमित हो, उसके अनुसार बन्ध-निर्जरा हो, तो उपवासादि तप मुख्य निर्जरा का कारण कैसे रहा ? अशुभ-शुभ परिणाम बन्ध के कारण ठहरे, शुद्ध परिणाम निर्जरा के कारण ठहरे[1]।" वास्तव में सभी बाहरी तप उपयोग की शुद्धता को वृद्धिगत करने के लिए किए जाते है। यदि शुद्धोपयोग बढता है, तो उनकी सार्थकता है; अन्यथा निष्फल है। स्वामी कार्तिकेय का यह कथन है–"साधुओं के जैसे-जैसे उपशम भाव और तप की वृद्धि होती है, वैसे-वैसे निर्जरा की भी वृद्धि होती है। विशेष रूप से धर्मध्यान और शुक्लध्यान से निर्जरा की वृद्धि होती है[2]।" आगम में सभी प्रकार के कथन सापेक्ष रूप से वर्णित है। इसलिये सातिशय मिथ्यादृष्टि से सम्यग्दृष्टि के असख्यात गुणी कर्मनिर्जरा कही गयी है और सम्यग्दृष्टि से अणुव्रती के असंख्यात गुणी कर्मनिर्जरा होती है और उससे भी असंख्यात गुणी कर्मनिर्जरा महाव्रती के होती है[3]। पण्डित जयचन्द्रजी छावडा के शब्दा में–"सम्यग्दृष्टि जोव है सो आप स्वयमेव अपने निज रस मे मस्त भया संता आदि, मध्य, अन्त करि रहित सर्वव्यापक, एक-प्रवाह धारावाही ज्ञान रूप होय करि आकाश का मध्य रूप जो रंगभूमि अति निर्मल ता विषै अवगाहन नृत्य करे है। कैसा है सम्यग्दृष्टि ? नवीन बन्धकूं तो पूर्वोक्त प्रकार रोकता संता है, बहुरि पहिली बाँध्या था, ताकूं

---

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवा अधिकार, पृ. २३०

२. उवसम-भाव-तवाणं जह जह वड्ढी हवेइ साहूणं।
तह तह णिज्जर-वड्ढइ विसेसदो धम्म-सुक्कादो ।। कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गा. १०५

३. मिच्छादो सद्दिट्ठी असंख-गुण-कम्म-णिज्जरा होदि।
तत्तो अणुवय-धारी तत्तो य महव्वई णाणी ।। कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गा. १०६

अपनें अष्ट अंगनि करि सहित भया संता निर्जरा के प्रकट होने करि नाशकूं प्राप्त करता संता है[1] ।"

(४) चौथी भूमिका अविरत सम्यग्दृष्टि की है । सम्यग्दर्शन के पूर्व जिसने जिन-आज्ञा को सम्यक्त्व समझकर श्रद्धान में लिया था, उसकी प्रामाणिकता इस भूमिका में दृढ व स्थिर हो जाती है । प्रथम तत्त्व का निर्णय कर वह जिनागम पर भलीभाँति श्रद्धान करता है । दूसरे, बताये हुए उपाय को अनुभव में लेकर उसे सत्य प्रमाणित समझता है । यह स्वाभाविक भी है कि स्वानुभव के बिना अन्तिम रूप से किसी वस्तु का निर्णय नहीं किया जा सकता । अभी तक तो वह श्रुत के वचनों के अनुसार समझता था कि आत्मा ज्ञानानन्द स्वभावी है, किन्तु इस भूमिका में वह स्वानुभव प्रमाण के आधार पर उसे सत्य मानता है, जिससे उसका श्रद्धान स्थिर व दृढ हो जाता है । यही वह भूमिका है, जिसमें मिथ्यात्व (गृहीत बुद्धि) दृष्टि की मुक्ति हो जाती है और यथार्थ व शुद्ध दृष्टि की प्राप्ति हो जाती है । इसलिये इसे निश्चय सम्यक्त्व कहते हैं । यह स्वानुभूति से उपलब्ध होता है । कहा भी है कि जो वस्तु-स्वभाव की दृष्टि से रहित होते हैं, उन्हें वस्तु-स्वभाव की प्राप्ति नहीं होती और उसके बिना सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकते हैं[2] ? इसलिये निश्चयसम्यक्त्व को ही वास्तविक सम्यग्दर्शन कहा गया है । क्योंकि शुद्ध आत्माश्रित सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप शुद्ध भाव संवर है । इसलिये सम्यग्दृष्टि के व्रतों का अभाव होने पर भी मिथ्या-दृष्टि की अपेक्षा असंख्यात गुणी निर्जरा कही गई है । वास्तव में सम्यक्त्व वीतराग ही होता है । फिर, यह जो कहा जाता है कि सम्यग्दर्शन दो प्रकार का है--सराग सम्यग्दर्शन और वीतराग सम्यग्दर्शन । जिसमें प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य आदि लक्षण प्रकट होते हैं, वह सराग सम्यग्दर्शन है और जिसमें आत्मानुभूति रूप आत्म-विशुद्धि होती है, वह वीतराग

---

१. रुन्धन् बन्धं नवमिति निजैः संगतोऽष्टाभिरंगैः
प्राग्बद्धं तु क्षयमुपनयन्निर्जरोज्जृम्भणेन ।
सम्यग्दृष्टिः स्वयमतिरसादादिमध्यान्तमुक्तं
ज्ञानं भूत्वा नटति गगनाभोगरंगं विगाह्य ।। समयसारकलश, श्लो. १६२ की टीका ।

२. जे णयदिट्ठिविहीणा ताण ण वत्थुसहाव उवलद्धि ।
वत्थुसहावविहीणा सम्मादिट्ठी कहं होंति ।। नयचक्र, गा. १८१

सम्यग्दर्शन है[1]–इसमें निश्चय सम्यक्त्व के साथ वर्तमान राग को सूचित करने के लिए यह व्यवहार किया जाता है। यदि व्यवहार से ऐसा न बताया जाए तो कितने अंश में वीतरागता और कितने अंश में राग विद्यमान है, यह सामान्य रूप से भी समझ में नहीं आ सकेगा। फिर, मुक्ति का मार्ग वीतरागता से बनता है; राग से नहीं–ऐसा जिनदेव का सिद्धान्त है। सराग सम्यक्त्व भी वहीं बनता है, जहाँ वीतरागता का कोई अंश है। यदि अंश मात्र भी वीतरागता न हो, तो सराग सम्यक्त्व भी कहने में नहीं आता। यहाँ यह बात अच्छी तरह से समझने योग्य है कि जिस सम्यग्दर्शन को मोक्ष-महल की पहली सीढ़ी कहा जाता है, वह निश्चय सम्यक्त्व है। क्योंकि सम्यग्दर्शन पूर्वक ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र होते हैं। व्यवहार में सम्यग्दर्शन का सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र के साथ अविनाभावी सम्बन्ध है। इसी प्रकार निश्चय सम्यक्त्व का वीतराग चारित्र के साथ अविनाभावी सम्बन्ध है। अध्यात्ममर्मज्ञ श्री ब्रह्मदेवसूरि कहते हैं: सभी विकल्प-जालों से रहित स्वानुभव से उत्पन्न स्वाभाविक आनन्द लक्षण वाले सुख के रसस्वाद से युक्त वीतराग चारित्र होता है। उस वीतराग चारित्र का अविनाभावी निश्चय सम्यक्त्व या वीतराग सम्यक्त्व कहा जाता है। वह निश्चय सम्यक्त्व ही तीनों कालों में मुक्ति का कारण है[2]। इसलिये जैनधर्म का उपदेश इस सम्यग्दर्शन से ही आरम्भ होता है। सभी शास्त्रों में सम्यक्त्व की महिमा भरी पड़ी है। कहा भी है–बहुत कहने से क्या लाभ? जो श्रेष्ठ पुरुष सिद्ध हुए हैं, हो रहे हैं और आगे होंगे, उन सबके सम्यक्त्व का माहात्म्य है[3]। अतः मुक्ति हेतु सम्यक्त्व श्रेयस्कर है।

---

१ "तद् द्विविधं सरागवीतरागविषयभेदात्। प्रशमसंवेगानुकम्पास्तिक्याद्यभिव्यक्तलक्षणं प्रथमम्। आत्मविशुद्धिमात्रमितरत्।"—सर्वार्थसिद्धि, १, २, १०

२. "तत्प्रभृतिसमस्तजालरहितं स्वसंवित्तिसमुत्पन्नसहजानन्दैकलक्षणसुखरसास्वादसहितं यत्तद्वीतरागचारित्रं भवति। यत्पुनस्तदविनाभूतं तन्निश्चयसम्यक्त्वं वीतरागसम्यक्त्वं चेति भण्यते। तदेव कालत्रयेऽपि मुक्तिकारणम्।।"

—बृहद्द्रव्यसंग्रह, गा. २२ की टीका।

३. किं पलविएण बहुणा जे सिद्धा णरवरा गए काले।
सिज्झिहहि जे वि भविया तं जाणह सम्ममाहप्पं।। द्वादशानुप्रेक्षा, गा. ९०

जो आत्म-दर्शन करना चाहता है, उसे भेद-विज्ञान करना ही पड़ता है। यह मोक्षमार्ग की आवश्यक भूमिका है। क्योंकि सत्-असत् की पहचान के बिना वस्तु-स्वरूप का निर्णय नहीं हो सकता। वास्तव में एक वस्तु का दूसरी वस्तु के साथ कोई सम्बन्ध नहो है। सभी वस्तुएँ स्वतन्त्र व स्वाधीन हैं। वस्तु की असलियत का ख्याल आते ही आनन्द की धारा उमड़ पड़ती है; क्योंकि परमार्थ में प्रत्येक वस्तु अपने में प्रतिष्ठित है। ज्ञान, ज्ञान में है और क्रोधादिक क्रोधादिक में ही है। दोनों का स्वभाव भिन्न होने से दोनों ही भिन्न हैं। इन दोनों में आधार-आधेयत्व भी अपने-अपने में ही है[1]। किन्तु दर्शनमोह के वश में होकर हम अनादि काल से यह मानते चले आ रहे हैं कि रागादिक भाव चैतन्य करता है। उपयोग तो चैतन्य का परिणमन होने से ज्ञान स्वरूप है और क्रोधादि भावकर्म, द्रव्य-कर्म एवं नोकर्म सभी पुद्गल द्रव्य के परिणाम होने से जड़ हैं। इनकी आज तक वास्तविक पहचान नहीं हुई। इसीलिए संसार में भटक रहे हैं। काल-लब्धि के वश से, गुरू के सम्यक् उपदेश के निमित्त से मिथ्यात्वादि प्रकृतियों के उपशम, क्षय या क्षयोपशम से सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होते ही स्व-पर भेद-विज्ञान प्रकट हो जाता है और तभी आत्मा अपने स्वरूप को पहचान लेता है। स्वात्मतत्त्व की रुचि को प्राप्त हुआ जीव ही संयोगी दशा में भी पर-द्रव्य से भिन्न निज तत्त्व की प्रतीति कर सकता है।

जैसे दो जुड़ी हुई वस्तु को अलग-अलग करने के लिए मिस्त्री सन्धि के स्थान पर छैनी मार कर या करोंत चलाकर कुशलता के साथ उन दोनों को पृथक्-पृथक् कर देता है, वैसे ही सम्यक्त्व के सन्मुख संसारी जीव ज्ञान रूपी करोंत के अभ्यास से कुशलता के साथ लक्षण भेद का ज्ञान होने से जीव और अजीव को भिन्न-भिन्न कर जानता है। रागादिक भावों की भिन्नता के साथ ही चैतन्य रस से निर्भर ज्ञायक आत्मा तत्काल ऐसा प्रकाशित हो जाता है, जैसे कि खान में से निकला हुआ सोना सोलह वानी ताव पर चढ़कर अपने उज्ज्वल स्वरूप में चमचमाने लगता है।

---

१. "तदप्रभवे चैकं ज्ञानमेवैकस्मिन् ज्ञान एव प्रतिष्ठितं विभावयतो न पराधारा-धेयत्वं प्रतिभाति। ततो ज्ञानमेव ज्ञाने एव क्रोधादय एव क्रोधादिष्वेति साधु सिद्धं भेदविज्ञानम्।"—समयसार, गा. १८१ की आत्मख्याति टीका।

भेद-विज्ञान करोंत की तीक्ष्ण धारा के समान कहा गया है। जैसे करोंत लकड़ी के टुकड़े-टुकड़े कर डालती है, उसी प्रकार भेद-विज्ञान भी ज्ञान और रागादि विकार इन दोनों को अपनी अन्तर्दृष्टि रूपी तीक्ष्ण आरे के द्वारा परस्पर में या पूर्व रूप से पृथक्-पृथक् करके—यह निर्मल भेद-विज्ञान जो स्वयं शुद्ध चैतन्य का ठोस पिण्ड है—पर के संयोग से रहित निज स्वरूप में लीन हो जाता है। अतः स्वरूपलीनता के अनुपम सुख को प्राप्त करो[1]। इस भेद-विज्ञान से ज्ञानभाव और राग की सूक्ष्म अन्तः सन्धि स्पष्ट रूप से प्रतिभासित हो जाती है और निजात्मा में प्रतीत होने वाली ज्ञान और रागादि भावों की एकता दूर हो जाती है। भेद-विज्ञान का माहात्म्य यह है कि यदि जीव निरन्तर उसका अभ्यास करता रहे, कभी भेद-विज्ञान की धारा न टूटे तो भेद-विज्ञान के बल से ध्रुव, शुद्ध आत्मा का अनुभव करता हुआ प्रवृत्त होता है। इतना ही नहीं, प्रकाशमान अपनी आत्मा को, पर द्रव्य से उत्पन्न विकारी परिणति को भी दूर कर शुद्ध रूप में स्वयं को प्राप्त कर लेता है[2]। यह सुनिश्चित है कि भेद-विज्ञान से ही निज शुद्धात्मा की उपलब्धि होती है।

वास्तव में भेद-विज्ञान में निमित्त निमित्त रूप में, उपादान उपादान रूप में, साधन साधन रूप में और साध्य साध्य रूप में, जो जैसा है वैसा ही उद्भासित होने लगता है। जब तक जीव को हेय-उपादेय का बोध नहीं होता है, तब तक वह हेय को त्यागकर उपादेय को ग्रहण नहीं करता। भेद-विज्ञान होने पर सभी राग-रंगों की हेयता का बोध हो जाता है, इसलिये जीव उन सबको छोड़कर निज शुद्धात्म स्वभाव का आलम्बन लेता है। यही भेद-विज्ञान की उपयोगिता है।

---

१. चैद्रूप्य जडरूपता च दधतोः कृत्वा विभागं द्वयो-
रन्तर्दारुणदारणेन परितो ज्ञानस्य रागस्य च।
भेदज्ञानमुदेति निर्मलमिदं मोदध्वमध्यासिता.
शुद्धज्ञानघनौघमेकमधुना सन्तो द्वितीयच्युताः ॥ समयसारकलश, श्लो. १२६

२. यदि कथमपिधारावाहिना बोधनेन
ध्रुवमुपलभमानः शुद्धमात्मानमास्ते।
तदयमुदयदात्मारामात्मानमात्मा
परपरणतिरोधाच्छुद्धमेवाभ्युपैति ॥ वही, १२७

श्री ब्रह्मदेवसूरि दृष्टान्तों के द्वारा आत्मा की शुद्धता का निश्चय कराते हुए कहते हैं कि आत्मा रत्नत्रयमय होने से रत्न के समान है। यह स्वपर प्रकाशक होने से दीपक के समान है। केवलज्ञानमयी तेज से प्रकाशमान होने से यह सूर्य के समान है। सारवान पदार्थ की भाँति यह परमात्मा रूपी आत्मा घी के समान है। जैसे दूध व दही में घी रहता है, शक्ति रूप से भी विद्यमान है, पर पर्याय रूप से अभी प्रकट नहीं हुआ है; वैसे ही संसारी आत्मा शक्ति रूप से शुद्ध परमात्मा है, पाषाण टंकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभाव होने से आत्मा पाषाण के समान है, कर्म रूपी कालिमा से रहित होने से यह स्वर्ण के समान है, स्वच्छ होने से आत्मा चाँदी के समान है। स्फटिक मणि स्वभाव से निर्मल होने पर भी दाग के निमित्त से जैसे विभिन्न रंगों मे परिणम जाती है, वैसे ही आत्मा स्वभाव से निर्मल होने पर भी कर्मोदय के निमित्त मे राग-द्वेष, मोहरूप परिणमती है और कर्म के अभाव में पर्याय भी शुद्ध निर्मल हो जाती है। अतः यह स्फटिक के समान है। जैसे अग्नि इंधन को जलाती है, वैसे ही आत्मा कर्म रूपी इंधन को जलाती है, इसलिये आत्मा अग्नि के समान है। वास्तव मे ज्ञान-स्वभाव के निश्चय से आत्मा का निश्चय होता है। शुद्ध ज्ञान-स्वभाव का भान तब होता है, जब पर-पदार्थों से बुद्धि हट कर स्व से एकत्व स्थापित करती है। आत्मा पर से भिन्न और पर्याय के विकार से भी भिन्न है; केवल अपने ज्ञान से अभिन्न है। भेदविज्ञान से उसकी भिन्नता का निश्चय किया जाता है।

पं. जयचन्द्रजी के शब्दो म : यह निर्मल भेदज्ञान है सो उदयकूं प्राप्त होय है। सो याका निश्चय करने वाले सत्पुरुषनिकूं संबोधिन करि कहे हैं। जो सत्पुरुष हो। तुम याकूं पाय करि, अर अवर द्वितीय जो रागादिक भाव, तिनि ते रहित भये संते, एक शुद्ध ज्ञानघन का समूह कूं आश्रय करि तिस में लीन भये संते बडा आनन्द मानूं। जातें कहा करि उदय होय है? चैतन्य रूप ताकूं धारता संता तो ज्ञान अर जड़ रूपता कूं धरता राग, तिनि दोऊनि के अज्ञान दशा में एकपणा सा दीखे है। तिनि का अंतरंग विषै अनुभव के अभ्यास रूप बल करि उत्कृष्ट विदारण करि सर्व प्रकार विभाग करि उदय होय है[1]।" यह भेदज्ञान सभी प्रकार के विभाव भावों

---

१. समयसार कलश, श्लो. १२६ की भाषा-वचनिका

को मिटाने का कारण है। इस भेद-विज्ञान की निरन्तर धाराबाही भावना भानी चाहिए। यह भावना तब तक अखण्ड रूप से भानी चाहिए, जब तक ज्ञान परभावों से छूट कर अपने स्वरूप ज्ञान में प्रतिष्ठित न हो जाए[1]। भेद-विज्ञान की अपार महिमा है; क्योंकि आज तक जो सिद्ध हुए हैं, वे भेद-विज्ञान से सिद्ध हुए हैं और जो कोई बंधे हैं, वे सब भेद-विज्ञान के न होने से बन्ध को प्राप्त हुए हैं[2]। संसार के लोग अपनी आत्मा में और क्रिया-कर्म में कोई अन्तर नहीं मानते हैं। शरीर और मन से होने वाली जितनी भी क्रियाएँ हैं, उन सब को अज्ञानी जीव आत्मा की मानता है। उसकी दृष्टि में रागादिक में तथा निज में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है। शरीर एक यन्त्र के समान है जो आत्मा से भिन्न नहीं है– यही जन सामान्य की धारणा है। उनको समझाते हुए गुरुदेव कहते है कि यदि अपनी आत्मा का हित चाहते हो, तो द्रव्यश्रुत और ज्ञान में, शब्द और ज्ञान में, रूप और ज्ञान में, रग और ज्ञान में, गन्ध और ज्ञान में, रस और ज्ञान में, स्पर्श और ज्ञान में, कर्म और ज्ञान में, धर्मद्रव्य और ज्ञान में, अधर्मद्रव्य और ज्ञान में, कालद्रव्य और ज्ञान मे, आकाश और ज्ञान में, राग-द्वेषादि और ज्ञान में भेद है। ऐसा भेद-विज्ञान करने के लिए प्रेरित करते हैं। क्योंकि इनमें भेद न करने के कारण अनादि से हम एकत्व स्थापित किए हुए हैं जो बन्ध का कारण है। अतएव आत्मा के ज्ञानस्वभाव को शुद्ध ज्ञान के सिवाय अन्य सब से भिन्न देखना चाहिए। यहाँ विकल्प की बात नहीं है। विकल्प राग है; वीतरागता की दृष्टि में राग अपेक्षित नही है। इसलिये देखने से अभि-प्राय अनुभव करने से है। वीतराग भावना के भावों से शुद्ध उपयोग को धारण कर स्वरूप समाधि में लीन होने से स्वसंवेदन ज्ञान परिणति द्वारा परमात्मा प्रकट होता है। यदि कोई यह कहे कि निज स्वरूप को लक्ष्य में लेना कठिन है, तो वह सन्देह मात्र है। ऐसे लोगों को बहिरात्मा परिग्रही

---

१. भावयेद्भेदविज्ञानमिदमच्छिन्नधारया।
तावद्यावत्पराच्च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठिते ।। समयसारकलश, १३०

२. भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ।। वही, श्लोक १३१

कहा गया है[1]। क्योंकि संसार की वस्तुओं में उनकी आसक्ति है, विशेष ममत्व है, इसलिये उनकी ओर से दृष्टि हटाना नहीं चाहते। जब तक स्वर्ण में मिले हुए ताँबा या चाँदी से भिन्न शुद्ध स्वर्ण की परख नहीं आती है, तब तक कोई सर्राफ नहीं हो सकता। इसी प्रकार जब तक भेद-विज्ञान की कला से स्व-पर का भेद करना नहीं जानता, तब तक वह जीव सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता। आचार्य देवसेन कहते है: जैसे कोई तर्क-बुद्धि से पानी और दूध के भिन्न-भिन्न स्वभाव को जान लेता है, वैसे ही ज्ञानी उत्तम ज्ञान के भेद द्वारा जीव और पुद्गल का भिन्न-भिन्न स्वभाव जान लेता है[2]। जब यह जीव अपने अन्तर में ढल जाता है, आत्म-स्वभाव में एकाग्र, होने लगता है, तब भेद का विकल्प नही रह जाता।

मैं ज्ञाता-द्रष्टा हूँ, राग की क्रिया मै नहीं हूँ—इस प्रकार पहले द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप निश्चित करने का राग था, किन्तु द्रव्य -गुण-पर्याय का स्वरूप जानकर अभेद स्वभाव में ढलने का ही पहले लक्ष्य बनाया। फिर, द्रव्य-गुण-पर्याय को जान लेने के पश्चात् भी जहाँ तक भेद रूप अनु-भव रहे, वहाँ तक अभेद रत्नत्रय स्वरूप निश्चय सम्यग्दर्शन नही होता। अभेद स्वभाव में ढलने से भेद का अनुभव छूट जाता है और सम्यग्दर्शन होता है। पहले द्रव्य-गुण-पर्याय को जाना, उसकी अपेक्षा इसमें अनन्त गुना पुरुषार्थ है। यह अन्तर्स्वभाव की क्रिया है। इसमें स्वभाव का अपूर्व पुरुषार्थ है। वास्तव म अभेदता को प्राप्त किए बिना निर्मल सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं हो सकती। क्योंकि चैतन्य का तो एक चिन्मय भाव ही है। आचार्य कुन्दकुन्द देव का कथन है: जो ज्ञानी प्रज्ञा रूपी छैनी के द्वारा सब प्रकार के भावो को अपने से अलग करता हुआ यह जानता है कि सभी भाव पर हैं, केवल चिन्मात्र आत्मा शुद्ध है—वह 'यह मेरा है'—ऐसा क्यों कहेगा[3]? ज्ञानी यह भलीभाँति जानता है कि ज्ञान से कर्म उत्पन्न नहीं

---

१. द्रष्टव्य है: अनुभव-प्रकाश, पृ ५५

२. जह कुणइ कोवि भेयं पाणियदुद्धाण तक्कजोएण।
णाणी व तहा भेयं करेइ वरझाणजोएण। तत्त्वसार, गा. २४

३. को णाम भणिज्ज बुहो णाउं सव्वे पराइए भावे।
मज्झमिणं ति य वयणं जाणंतो अप्पयं सुद्धं॥ समयसार, गा. ३००

होता। जो स्व-पर के भेद को जानता है, वह ज्ञाता मात्र है। अग्नि की उष्णता और पानी की शीतलता का भेद ज्ञान से प्रकट होता है। व्यंजन के स्वाद मे नमक के स्वाद की सर्वथा भिन्नता ज्ञान से ही प्रकट होती है। निज रस मे विकसित होती हुई नित्य चैतन्य धातु का और क्रोधादि भाव का भेद तथा कर्तृत्व को भेदता हुआ ज्ञान से ही प्रकट होता है[1]। अतएव पर मे एकत्व हटाकर चिन्मात्र से एकत्व करने पर परमानन्द दशा की प्राप्ति होती है। किन्तु एकत्व करने की भावना भी राग है, द्वैत को मिटाने का विकल्प भी राग है—यह सम्यक्त्व नही है। अतएव आचार्य अमृतचन्द्र कहते है कि "मैं अशुद्ध हूँ, शुद्ध हूँ" इन दोनों प्रकार के पक्षों को छोडकर जो अपने ही स्वरूप में गुप्त होकर निवास करते है, जिनका चित्त विकल्प-जाल से रहित शान्त हो गया है, वे ही साक्षात् अमृत-पान करते है[2]।

इस प्रकार भेद-विज्ञान के द्वारा यह जीव सम्यदर्शन की सच्ची भूमिका म प्रवेश करता है, किन्तु स्व-पर विवेक मात्र ही सम्यग्दर्शन नही है। सम्यग्दर्शन अन्तरग की परिणति है, जहाँ स्वभाव के अतिरिक्त किसी प्रकार का भाव प्रतीति में नही रहता है। जो चिन्मात्र के प्रतिभासन की स्थिरता है, वही सम्यग्दर्शन का स्वरूप है। उसे ही जब यह जीव उपलब्ध होता है, तब उसे सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। इसे ही विशुद्ध सम्यक्त्व कहा जाता है।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि श्रद्धान संसार के सब प्राणियों को हो सकता है; किन्तु सम्यग्दर्शन भव्य जीव को होता है। अभव्य जीव संसार के भोगों के निमित्त धर्म की श्रद्धा करता है। चोर, बेईमान भी भगवान

---

१ ज्ञानादेव ज्वलनपयसोरौष्ण्यशैत्यव्यवस्था
ज्ञानादेवोल्लसति लवणस्वादभेदव्युदासः।
ज्ञानादेव स्वरसविकसन्नित्यचैतन्यधातो
क्रोधादेश्च प्रभवति भिदा भिंदति कर्तृभावम् ॥ समयसारकलश, श्लो. ६०

२. य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं
स्वरूपगुप्ता निवसन्ति नित्यम्।
विकल्पजालच्युतशान्तचित्ता-
स्त एव साक्षादमृतं पिबन्ति ॥ वही, श्लो. ६९

की पूजा कर सकते हैं, करते हैं। किन्तु उनका प्रयोजन दूसरे के माल पर हाथ साफ करना होता है। इसी प्रकार अभव्य जीव धर्म की, भगवान की इसलिये श्रद्धा करता है कि उसकी मान्यता के अनुसार उनके प्रसाद से उसे विषय-सुख मिल जाते हे। परन्तु लौकिक सुखों के निमित्त जो तत्त्वों का, देव, शास्त्र, गुरु का और आत्मा का श्रद्धान करता है, रुचि करता है, उसका अहसास करता है, वास्तव में उसके न तो श्रद्धान है और न वह सम्यग्दृष्टि हो सकता है[1]। क्योंकि उसका ऐसा श्रद्धान कर्म के क्षय का कारण न होकर बन्ध करने वाला है और वह तीव्र मिथ्यादृष्टि है। ऐसी मान्यता रखने वाला अपनी आत्मा का हित कैसे कर सकता है? कोई यह कहे कि आजकल के समय में निर्विकल्पता नही बन सकती है, फिर निर्मल सम्यक्त्व कैसे हो सकता है? आचार्यकल्प पं. टोडरमलजी सविकल्प से निर्विकल्प परिणाम होने का विधान करते हुए कहते हैं" : वही सम्यक्तवी कदाचित् स्वरूप-ध्यान करने को उद्यमी होता है, वहाँ प्रथम भेद-विज्ञान स्व-पर का करे, नोकर्म, द्रव्यकर्म, भावकर्म रहित केवल चैतन्य-चमत्कार मात्र अपना स्वरूप जाने, पश्चात् पर का भी विचार छूट जाए; केवल स्वात्म-विचार हो रहता है, वहाँ अनेक प्रकार निज स्वरूप में अहं बुद्धि धरता है। चिदानन्द हूँ, शुद्ध हूँ, सिद्ध हूँ, इत्यादिक विचार होने पर सहज ही आनन्द-तरग उठती है, रोमांच हो जाता है। तत्पश्चात् ऐसा विचार तो छूट जाए, केवल चिन्मात्र स्वरूप भासने लगे, वहां सर्व परिणाम उस रूप में एकाग्र होकर प्रवर्तते हैं; दर्शन-ज्ञानादिक का व नय-प्रमाणादिक का भी विचार विलय हो जाता है[2]।"

वास्तव में ध्रुव द्रव्य स्वभाव की ओर ही जब जीवकी श्रद्धा झुकती है, तभी सम्यग्दर्शन एवं निर्विकल्प स्वानुभव होता है। उस समय सभी परिणाम स्वभाव की ओर झुकते हैं और उसमें एकाग्र होकर प्रवर्तते हैं। क्योंकि निर्मलता द्रव्य में है, इसलिये द्रव्य दृष्टि बनाने से पर्याय में निर्मलता प्रकट हो सकती है।

---

१. सद्दहदि य पत्तेदि य रोचेदि य तह पुणो य फासेदि।
धम्मं भोगणिमित्तं ण दु सो कम्मक्खयणिमित्तं॥ समयसार, गा. २७५

२. पण्डितप्रवर टोडरमलजी की रहस्यपूर्ण चिट्ठी, पृ. ३ से उद्धृत

"णादाणुभूइ सम्मं" (नयचक्र) अर्थात् ज्ञानानुभूति का नाम सम्यक्त्व या सम्यग्दर्शन है। आत्मानुभूति, ज्ञानानुभूति, आत्मावलोकन या शुद्ध आत्मा का अनुभव सभी प्रकारान्तर से सम्यग्दर्शन के स्वरूप कहे जाते हैं। अशुद्ध आत्मा की संयोगी दशा को बताने के लिए कर्म-प्रकृति स्वरूप है, किन्तु शुद्ध आत्मा की प्रकृति बताने के लिए ज्ञान-चेतना ही उसका स्वरूप है। शुद्ध स्वभाव की ओर दृष्टि होना ही उसका लक्षण है और आत्मोन्मुखी प्रवृत्ति होना उसका व्यवहार है। वस्तुतः आत्म द्रव्य के सम्यक् स्वभाव का अनुभवन करना ही सम्यग्दर्शन का स्वरूप है। आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं: जगज्जन उस सम्यक् स्वभाव का अनुभव करें, जो द्रव्य का शुद्ध स्वभाव है, जिसमें बद्ध-स्पृष्ट आदि भाव नहीं हैं, स्पष्ट रूप से ये ऊपर ही तैरते हैं। इसलिये इनकी प्रतिष्ठा नहीं है। द्रव्य-स्वभाव तो नित्य प्रकाशमान है, वह सदा एक रूप रहता है; किन्तु भाव अनित्य तथा अनेक हैं। मोह से रहित होकर सभी अवस्थाओं में प्रकाशमान ऐसे शुद्ध स्वभाव का अनुभव करें[1]। यह शुद्धनय का विषय है। अज्ञानता के दूर होने पर यह स्थिति प्रकट होती है। क्योंकि जब तक मिथ्याभाव बना हुआ है, तब तक स्वभाव प्रकट नहीं हो सकता[2]।

यह निश्चित है कि न आत्मा दो प्रकार की है, न धर्म, न सम्यग्दर्शन और न मोक्षमार्ग। वास्तविक रूप में ये सब एक ही प्रकार के हैं। किन्तु जिस प्रकार मुक्त जीव से संसारी जीव को भिन्न बताने के लिए शुद्ध जीव तथा अशुद्ध जीव का उल्लेख किया जाता है, जो संयोगी दशा की अपेक्षा कथन होता है, वैसे ही सम्यग्दर्शन में कोई भेद नहीं होता; किन्तु जीवों के परिणाम की भिन्नता के कारण विभिन्नता का वर्णन किया जाता है। यह कोई नियम नहीं है कि सम्यग्दृष्टि को ही तत्त्वों का श्रद्धान होता है, मिथ्यादृष्टि को भी तत्त्व-श्रद्धान हो सकता है; किन्तु दो भिन्न-भिन्न

---

१. न हि विदधति बद्धस्पृष्टभावादयोऽमी स्फुटमुपरितरन्तोऽप्येत्य यत्र प्रतिष्ठां। अनुभवतु तमेव द्योतमानं समन्ताज्जगदपगतमोहीभूय सम्यक्स्वभावम् ।। समयसार-कलश, श्लोक ११

२. मिथ्याभाव अभाव तैं, जो प्रगटै निज भाव।
सो जयवंत रहौ सदा, यह ही मोक्ष उपाव ।। पं. टोडरमलजी

अपेक्षाओं से वर्णन किया जाता है । कोई तत्त्वों के नाम रटकर ही अपने को तत्त्वश्रद्धानी मानता है, ज्ञानी और पण्डित कहता है, तो यह नाम-निक्षेप की अपेक्षा से है । वास्तव में तो तत्त्व-श्रद्धान का उसमें गुण नहीं है । इसलिये आगम में भाव-निक्षेप से वास्तविक तत्त्वश्रद्धानीकहा गया है[1] । इसी प्रकार सम्यग्दर्शन के विभिन्न लक्षणों, अगों, तत्त्वों तथा परिभाषाओं को समझ लेने मात्र से यह नहीं कहा जा सकता है कि सम्यग्दर्शन प्रकट हो गया । जब तक भाव-भासन नही होता, आत्म-तत्त्व का अनुभव नहीं होता, तब तक तत्त्वार्थश्रद्धान हो गया, यह कैसे कहा जा सकता है ? तत्त्वार्थ के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा गया है; न कि तत्त्व के श्रद्धान को । "तत्त्वार्थ" में जो 'अर्थ' शब्द जुड़ा हुआ है, उसका अर्थ है—भाव अर्थात् तत्त्व का भाव । 'आत्मद्रव्य हूँ' यह भाव अनुभव बिना हो नही सकता । आत्मानुभव होने पर ही उसका निश्चय होता है । आचार्य अमृतचन्द्र ने आत्मा के निश्चय को ही सम्यग्दर्शन कहा है । आत्म-दर्शन सम्यग्दर्शन है, आत्मज्ञान सम्यग्ज्ञान है और आत्म-स्थिरता सम्यक्चारित्र है[2] ।

सात तत्त्वों में से एक आत्मतत्त्व ही मुख्य है । आत्मतत्त्व की पहचान कराने के लिए अजीव तत्त्व का वर्णन किया गया । जैसे कि 'धर्म की पुस्तक' समझाने के लिए पहले बालकों को पुस्तक के लेखक, आदि के विषय में समझाया जाता है, आत्मा का हित बताने के साथ ही यह बताना पड़ता है है कि अहित किस में है, वैसे ही जीव को समझाने के लिए आचार्यों ने अजीव तत्त्व को समझाया है । तत्त्व दो ही हैं—जीव और अजीव । शेष पाँचों तत्त्व संयोग-वियोग दशाओं के सूचक है । अतएव वस्तु-स्वभाव की पहचान करना ही तत्त्व -निर्णय करने का प्रयोजन है । आगमों के मर्मज्ञ आचार्य जिनसेन तथा जयसेनाचार्य का भी यही भाव है कि निज शुद्धात्मा का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है । जब तक शुद्धात्मा का ज्ञान नही होता, तब तक व्रत, तप आदि क्लेश के एव भावी दुःख के कारण होते है ।[3] आचार्य जयसेन

---

१. द्रष्टव्य है · मोक्षमार्गप्रकाशक, नवां अधिकार, पृ. ३२४-३२५

२. दर्शनमात्मविनिश्चितिरात्मपरिज्ञानमिष्यते बोधः ।
स्थितिरात्मनि चारित्रं कुत एतेभ्यो भवति बन्धः ।। पुरुषार्थसिद्धयुपाय, श्लो. २१६

३. ज्ञानहीनपरिक्लेशो भाविदुःखस्य कारणम् । महापुराण, ७३, ११४

स्पष्ट रूप से कहते हैं कि यहाँ 'दर्शन' शब्द का अर्थ निजशुद्धात्मा का श्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन ग्रहण करना चाहिए[1]। आचार्य पूज्यपाद भी यही कहते हैं कि अपनी आत्मा में ही जिसकी आत्मबुद्धि है, वह अन्तरात्मा है और वही भेद-विज्ञान द्वारा शुद्धात्मा बनता है[2]। पं. राजमल्ल सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का भेद बताते हुए कहते हैं कि ज्ञान और दर्शन ये दोनों भिन्न-भिन्न शक्तियाँ हैं। स्व-संवेदन होने पर तत्त्व-बोध होता है और तत्त्व-बोध होने पर अत्यन्त निर्मल रुचि रूप श्रद्धा व्यक्त होती है, जिसे सम्यग्दर्शन कहा जाता है। अतएव स्वानुभूति का नाम ही सम्यग्दर्शन है।

आत्मा के सन्मुख हुए बिना न अपनी सच्ची पहचान हो सकती है और न देव, शास्त्र, गुरु की; क्योंकि धर्मी धर्मवान होता है। उसके अन्तरंग में सर्वज्ञ, वीतरागदेव का स्वरूप भासित हो जाता है। उनके सदृश सिद्ध, अर्हन्तों के जिनबिम्ब, जिन-प्रतिमाओं का अवलोकन कर अपनी निर्मल चेतना का स्मरण करता है। उसे तत्क्षण स्मरण हो आता है। कैसे हैं सिद्ध भगवान? निराकुल, अनुपम, बाधा रहित, स्वरस से भरपूर ज्ञानानन्द के आह्लाद व सुख स्वभाव में मग्न हैं। सहजानन्दी, शुद्ध ज्ञानमूर्तिक हैं, ज्ञायक हैं, वीतराग हैं, सर्वज्ञ हैं, अपने सिद्ध स्वभाव में स्थित हैं। पर-परिणति से भिन्न अपने ज्ञान स्वभाव में प्रविष्ट हैं। उनके ज्ञान में और परिणति में कोई भिन्नता नहीं है। दोनों एक हो अभिन्नता से परिणमन करते हैं। ज्ञान ही परिणति में प्रविष्ट हो गया है। पं० रायमल्लजी के शब्दों में : बहुरि कैसे हैं सिद्ध भगवान? देवाधिदेव हैं। सो देव संज्ञा सिद्ध भगवान विषै ही शोभै है। अरु चार परमेष्ठिन की गुरु संज्ञा है। बहुरि कैसे हैं सिद्ध

---

१. "अत्र दर्शनशब्देन निजशुद्धात्मश्रद्धानरूपं सम्यग्दर्शनं ग्राह्यम्। ज्ञानशब्देन तु स्वसंवेदनज्ञानमिति ताभ्यां समग्रो दर्शनज्ञानसमग्रः स एवं गुणविशिष्टः श्रमण संयत इति भणितः"—प्रवचनसार की गा. २४० की जयसेनाचार्य कृत टीका

२. देहे स्वबुद्धिरात्मानं युनक्त्येतेन निश्चयात्।
स्वात्मन्येवात्मधीस्तस्माद्वियोजयति देहिनम्॥ समाधितन्त्र, श्लो. १३

३. को भिन्नंविद्दृशोर्वे ननु समसमये संभवत्सत्त्वतः स्या—
देकं लक्ष्मद्वयोर्वा तदखिलसमयानां च निर्णीतिरेव।
द्वाभ्यामेवाविशेषादिति मतिरिह चेन्नैव शक्तिद्वयात्स्या—
त्संविन्मात्रे हि बोधो रुचिरतिविमला तत्र सा सद्दृगेव॥ —अध्यात्म-कमल-मार्तण्ड, श्लो. १२

परमेष्ठी ? सर्व तत्त्व को प्रकाश ज्ञेय रूप नाहीं परणमैं हैं, अपना स्वभाव रूप ही रहै हैं। अरु ज्ञेय को जानैं ही हैं। सो कैसे जानै हैं ? जो ए समस्त ज्ञेय पदार्थ मानूं शुद्ध ज्ञान में डूब गया है[1]।' इसी प्रकार परमदेव से निर्गत होने वाली जिनवाणी भी ज्ञानामृत की धारा को प्रवाहित करने वाली मेघ-माला के समान है। आनन्दानुभव से परिपूरित जिनवाणी गंगा नदी के समान पवित्र है जो स्वानुभूति रूप है और उससे विकसित होकर सुरति-सिन्धु में विलीन हो जाती है। ऐसी जिनवाणी स्वयं ज्ञानानन्द रूप है और संसार के सब जीवों को आनन्द प्रदान करती है। स्याद्वाद लक्षण से अंकित यह जिनवाणी सभी नयों, कुमतों तथा कुवादियों का खण्डन करने वाले साधु-सन्तों की माता के समान है। निर्विकार, वीतरागस्वभावी, परम दिगम्बर, निर्ग्रन्थ गुरु ही सच्चे गुरु है। जो क्षण मात्र भी बिना ध्यान के गवाते नही है; आत्मा के स्वभाव में स्थित रहने का पुरुषार्थ करते रहते है। ध्यान और अध्ययन ही जिनकी चर्या है। जो ज्ञान-सरोवर में प्रविष्ट होकर अमृत-पान करते रहते हैं; संसार का, कर्मों का या अन्य किसी प्रकार का जिन को भय नही है; ऐसे निर्भय आत्मज्ञानी, परम सन्त, वीतरागी साधु ही सच्चे गुरु होते हैं। उन शुद्धोपयोगी महामुनियों की महिमा अन्तरंग मे प्रकट हुए बिना नही रहती। ऐसी स्थिति होने पर ही समझना चाहिए कि सच्चे देव, शास्त्र, गुरु की पहचान हुई। केवल शब्दों से नाम भर जान लेने मात्र से किसी का परिचय नहीं हो जाता। जिनागम को समझने के लिए हमें पाँच प्रकार के अर्थों को सदैव ध्यान मे रखना चाहिए। इन को ध्यान मे रखे बिना हम सही अर्थ नहीं समझ सकते। ये हैं : शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ और भावार्थ। एक शब्द के लिए दूसरा शब्द या पर्यायवाची समझ लेना शब्दार्थ कहा जाता है। अध्यात्म को समझने की जो दो दृष्टियाँ बतलाई गई है, उनके भेदोपभेदों के साथ अर्थ घटा कर समझना नयार्थ कहलाता है। शब्दों का अर्थ कर नय-दृष्टि से समझ लेने पर भी यदि अन्य मत से भेद कर समझना नही हुआ, तो जिनमत में और अन्य मत में कोई अन्तर नही रह जाएगा। इसलिए यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि शुद्धनय का कथन सांख्य तथा वेदान्त को तो ज्यों का त्यो नही कह रहा है। इससे सत्य का निर्णय हो जाता है और तत्त्व-निर्णय

---

१. ज्ञानानन्द श्रावकाचार, पृ. ६ से उद्धृत

में आस्था-बुद्धि उत्पन्न होती है। अपने मत को ठीक समझ लेने पर फिर यह अनुसन्धान कर लेना आवश्यक हो जाता है कि यह बात आगम में कहाँ-कहाँ कही गई है। इस तुलनात्मक अध्ययन से आगम का अर्थ भलीभाँति समझ में आ जाता है। इन सब को समझ लेने पर अन्त में भावार्थ है। भावार्थ को ही तत्त्वार्थ कहते हैं—कि आखिर में तत्त्व क्या निकला? यही न, कि शुद्ध चैतन्य ज्ञायक भाव उपादेय है, अन्य सब भाव हेय हैं। इस विषय में उद्धृत विचार अवश्य पठनीय हैं : "शास्त्र में कहीं-कहीं ऐसा कहते हैं कि शरीर की नग्न दिगम्बर दशा वह मुनिपना है। इस प्रकार से द्रव्यलिंग को ही मुनिपना कह दिया है। वहाँ निमित्त कैसा हो, वह बताने के लिए व्यवहार नय का कथन है, ऐसा समझना चाहिए। उसके बदले दूसरे प्रकार से निमित्त माने, वस्त्रसहित मुनिदशा माने, वह तो अन्य मत है—ऐसा मतार्थ है। और व्यवहारनय से द्रव्यलिंग को मुनिपना कहा, वहाँ वह शरीर की दशा को ही निश्चय से मुनिदशा मान ले और अन्दर की सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र दशा को नहीं समझे, तो यह जीव नयार्थ को नहीं समझा। शास्त्र में इस प्रकार कहते हैं कि निमित्त कुछ नही करता, सम्यग्दर्शन स्वयं से ही होता है, वहाँ वह निश्चयनय का कथन है। वहाँ कोई ऐसा समझ ले कि चाहे जैसे कुगुरु के निमित्त से भी सम्यग्दर्शन हो जाये, तो वह जीव शास्त्र के अर्थ को नही समझा। अरे भाई! सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान वह स्वय से ही होता है, लेकिन उस समय सम्यग्ज्ञानी ही निमित्त होता है। उस निमित्त को नही माने, तो वह अज्ञानी है। स्वयं के ज्ञान में जो उसके उपकार को भूल जाये या गुरु का नाम छिपाये, तो वह जीव ज्ञानावरणीय कर्म बाँधता है। जीव व्यवहार में भी ज्ञान का चोर है, निश्चय से तो वह चोर है ही। सच्चे ज्ञान मे ज्ञानी का ही निमित्त होता है[1]।"

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि यदि सम्यग्दर्शन को केवल कषायों की मन्दता या अपनी मान्यता के अनुसार देव-गुरु का श्रद्धान माना जाए, तो मिथ्यादृष्टि में भी प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य लक्षण पाए जाते हैं। अतः इस सराग सम्यक्त्व के आधार पर ही सम्यग्दर्शन का स्वरूप नहीं माना जा सकता है। यथार्थ में आत्मा की अनुभूति हुए बिना सम्यक्त्व

---

१. आत्मधर्म, वर्ष ३२, अंक ८, पृ. २५ से उद्धृत

नहीं सकता। स्वरूप के सन्मुख होने पर ही उसकी अनुभूति होती है। कविवर बुधजन कहते हैं : स्वसंवेदन रूप आत्मानुभूति का नाम ही सम्यग्दर्शन है[1]। यहाँ कोई प्रश्न कर सकता है कि यदि चैतन्य मात्र का अनुभव सम्यग्दर्शन है, तो अन्य मत वालों में भी हठयोगी आदि सम्यग्दृष्टि हो जायेंगे ? वास्तव में शुद्धनय की दृष्टि उन्हें उपलब्ध नहीं है। अतएव आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं : शुद्धनय से ज्ञात जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष–इन नव तत्त्वों का श्रद्धान सम्यक्त्व है[2]। वास्तव में चैतन्य चमत्कार मात्र एक जीव तत्त्व के प्रकाश के बिना नव तत्त्व कुछ भी नहीं हैं। यह जीव तत्त्व शुद्धनय से अनुभव में आता है। आत्मा के अनुभवन को ही आत्म-ख्याति कहते हैं, जो आत्मा का ही प्रकाश है—और आत्मख्याति को ही सम्यग्दर्शन कहते हैं। पं० जयचन्द्र जी के शब्दों में : "जो इस आत्मा का अन्य द्रव्यनितैं न्यारा देखना, श्रद्धान करना सो ही यह नियमतैं सम्यग्दर्शन है। कैसा है आत्मा ? अपने गुण-पर्यायनि विषै व्यापने वाला है। बहुरि कैसा है ? शुद्धनयतैं एकपणा विषैं निश्चित किया है। बहुरि कैसा है ? पूर्ण ज्ञानघन है। बहुरि जेता यह सम्यग्दर्शन है, तेता ही आत्मा है। तातैं आचार्य प्रार्थना करे हैं–जो इस नवतत्त्व की परिपाटी कूँ छोड़ि, यह आत्मा ही हमारे प्राप्त होहु[3]।" अतः यही निश्चित होता है कि सम्यक् प्रकार से शुद्धनय से तत्त्वार्थ का श्रद्धान करना या चैतन्य की निर्विकल्प अनुभूति करना सम्य-ग्दर्शन है। इन दोनों का एक ही भावार्थ है। इसलिए तत्त्वार्थ श्रद्धान भी परमार्थ से सम्यग्दर्शन कहा गया है। वास्तव में तत्त्व-ज्ञान से ही सम्यग्दर्शन की भूमिका प्रारम्भ होती है। इसलिए यही लक्षण किया गया है कि तत्त्वार्थ-

---

१. वर तत्त्वार्थ का श्रद्धान, आपा पर का भेद पिछान।
स्वसंवेदन करि सुख लहै, सो सम्यक्दर्शन जिन कहै ।। तत्त्वार्थबोध, ३९

२. भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च।
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं ।। समयसार, गा. १३

३. एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्तुर्यदस्यात्मनः
पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह द्रव्यान्तरेभ्यः पृथक्।
सम्यग्दर्शनमेतदेव नियमादात्मा च तावानयं
तन्मुक्त्वा नवतत्त्वसन्ततिमिमामात्मायमेकोऽस्तु नः।।समयसारकलश, श्लोक ६ की वचनिका।

श्रद्धान का नाम सम्यग्दर्शन है। जिस प्रकार से श्रद्धान कहिए, रुचि कहिए, प्रतीति कहिए, परिचिति कहिए सभी का अर्थ एक है, उसी प्रकार से दर्शन, अवलोकन, अनुभवन, ख्याति, प्रकाश आदि का अर्थ आत्मानुभव ही है, ।

सम्यक्त्व का अधिकारी कौन ?

तत्त्व का विचार करने वाला जीव ही सम्यक्त्व का अधिकारी हो सकता है। जो तत्त्व का विचार करता है, उसे ही हेय-उपादेय का ज्ञान होता है। जैसे शरीर को नीरोग रखने के लिए हमें खान-पान आदि सभी बातों का ध्यान रखना पड़ता है, वैसे ही हमें आत्मा के स्वस्थ रहने के लिए आत्मा के हित-अहित का विचार करना पडता है। जिसने यह ध्यान में नहीं लिया कि आत्मा का भला सुख में है[1], और वह सच्चा सुख मोक्ष में प्राप्त होता है, तो वह मुक्ति पाने का उपाय क्यों करेगा ? जिसने यह विचार कर लिया कि वास्तव में शरीर का भला हम अनादि काल से करते आ रहे है। इसे खूब खिलाते-पिलाते, नहलाते-धुलाते, तेल-इत्र लगा कर चिकना-सुगन्धित करते रहे है, पर इन ऊपरी क्रियाओं का कोई स्थायी परिणाम आज तक प्राप्त नही हुआ। कुछ समय के लिए शरीर अच्छा दिखने लगता है, फिर, मुरझा कर दुबला-पतला हो जाता है और उम्र के अनुसार ढलता ही जाता है। तो इन विषय-भोगों मे सब कुछ खोने के सिवाय हमने क्या पाया ? हम अपने आप को इतना भूल गए कि हम 'है' इसका भी अहसास हमें नहीं होता। भले ही, ये विषय-भोग हम से छूटें या न छूटे, पर हम इन्हे अच्छा तो नही समझें। जब तक हमारा इन पर विश्वास बना रहेगा, तब तक हम अपनी आत्मा की रुचि नही बना सकते। हमारी मान्यता में जो यह विपरीत श्रद्धान बैठ गया है, उसकी खबर हमें होनी चाहिए। जो यह पता ले लेता है, वह सम्यक्त्व से मिलने का अधिकारी बन जाता है। किन्तु जो आचार्यो के बार-बार समझाने पर भी चेतता नही है और अपनी उल्टी मान्यता की गलती को स्वीकार नही करता है, वह सम्यक्त्व का अधिकारी कैसे बन सकता है ? केवल शास्त्रो को पढ लेने से, व्रत-तप आदि कर लेने से कोई सम्यक्त्व के योग्य नही बन जाता है। बाहर में कोई भले ही सम्यक्त्व का लेबल लगा ले, मुनिव्रत भी

---

१. आतम को हित है सुख, सो सुख आकुलता बिन कहिये;
आकुलता शिव मांहि न तातैं, शिवमग लाग्यो चहिये। छहढाला, ३, १

धारण कर लें; किन्तु अन्तरंग में आत्म-तत्त्व की रुचि हुए बिना सम्यक्त्व नहीं होता। मिथ्या-दृष्टि की श्रद्धा को इसलिए यथार्थ नहीं माना जाता है कि एक बार ग्रहण किए हुए पक्ष को सम्यक् उपदेश मिलने पर भी वह उसे नहीं छोड़ता। उसके अन्तरंग में पक्ष का इतना अधिक व्यामोह तथा खोटा आग्रह होता है कि कितनी ही मिठास से भरी ज्ञान की बात क्यों न हो, वह अपने अभिप्राय में पहले से रखे हुए खारेपन के कारण मिठास को चख (समझ) ही नहीं पाता है[1]। इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि ऐसे जीव सम्यक्त्व के योग्य नहीं होते। जिन को पूर्व काल में ज्ञानी जनों के पास से देशना प्राप्त हुई हो, वे वर्तमान में देशनालब्धि के उदय से पूर्व संस्कारवश सम्यक्त्व को उपलब्ध होते हैं। यही कारण है कि नरक, तिर्यन्च गति में नारकियों और पशु-पक्षियों आदि को सात तत्त्वों के नाम भी मालूम नहीं होते, फिर भी पूर्व संस्कार के कारण उनके सम्यक्त्व प्रकट हो जाता है। इस प्रकार तत्त्व-विचार करने से सम्यक्त्व की योग्यता आती है।

सम्यग्दर्शन विवेक की जागृति पूर्वक होता है। पक्ष—मोह, अन्धविश्वासादि से रहित अनुभव करने के प्रयत्न का नाम विवेक-जागरण है। इसलिए उसे प्राप्त करने के लिए उसे ही योग्य माना जाना चाहिए, जो हेय-उपादेय का विवेक करने वाला हो। यद्यपि जिनागम में हमारे व्यावहारिक जीवन से सम्बन्धित अनेक बातों का विशद वर्णन किया गया है, फिर भी युग के अनुसार हमारी वृत्तियों में, आचार-व्यवहार में कुछ-न-कुछ परिवर्तन होते ही रहते हैं, उनको अपने जाग्रत विवेक की तुला पर तौलने वाला सच्चा श्रावक ही सम्यक्त्व के योग्य माना जा सकता है। ऐसे जीव के तत्त्व-निर्णय कर लेने पर परिणामों में विशुद्धता अवश्य आती है। पण्डितप्रवर टोडर-मलजी का कथन उचित ही है कि सम्यक्त्व के उत्पन्न न होने का मूल कारण मिथ्यात्व कर्म है। इसका उदय मिटे, तो प्रतीति हो जाती है और न मिटे, तो नहीं होती है। अतः सम्यक्त्व के निमित्त यही एकमात्र पुरुषार्थ है—तत्त्व-विचार करना। करणलब्धि होने पर सम्यक्त्व होता ही है—ऐसा नियम है। करणलब्धि वाले के बुद्धिपूर्वक इतना ही उद्यम होता है कि तत्त्वविचार में

---

१. पर द्रव्यनतें भिन्न आप में रुचि सम्यक्त्व भला है;
आप रूप को जानपनों सो, सम्यग्ज्ञान कला है। छहढाला, ३, २

उपयोग की तद्रूपता होकर समय-समय में परिणाम निर्मल होते जाते हैं[1]। करणलब्धि के उत्पन्न होते ही अन्तर्मुहूर्त पश्चात् सम्यक्त्व की उपलब्धि हो जाती है। 'करण' का अर्थ है–'परिणाम।' 'लब्धि' का अर्थ है–प्राप्ति। यह वास्तव में सम्यक्त्व की तैयारी है। सम्यक्त्व ग्रहण करने के योग्य सामग्री के प्राप्त होने को लब्धि कहते हैं। लब्धियाँ पाँच बताई गई हैं। ये हैं–क्षायोपशमिक, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करणलब्धि। इन में से चार तो सामान्य हे, पर करणलब्धि विशेष है। करणलब्धि के होने पर सम्यक्त्व नियम से होता है[2]। यहाँ यह ध्यान में रखने योग्य बात है कि जिनागम में विभिन्न अनुयोगों के रूप में जो कथन किया जाता है, उसमें परस्पर कोई विरोध नही है। वे सभी एक ही तथ्य को विभिन्न अपेक्षाओं से अलग-अलग शब्दों में निरूपित करते हैं। उदाहरण के लिए, करणानुयोग की भाषा में जिसे हम करणलब्धि कहते है, उसे ही प्रकारान्तर से चरणानुयोग में परिणामों की विशुद्धता तथा द्रव्यानुयोग में आत्मस्फूर्ति या अन्तरंग का पुरुषार्थ कहा जाता है। यह सब सम्यक्त्व के उदय होने की भूमिका है।

वस्तुत: वीतरागता की दृष्टि की समझ आते ही सम्यक्त्व की योग्यता आ जाती है। जिसकी दृष्टि में विषय-भोगों की रुचि है और जो उन में ही सुख समझता है, वह सम्यक्त्व को कभी अंगीकार नहीं कर सकता। क्योंकि जिन साधनों से वह सुख की प्राप्ति मानता है, उनको जुटाने में लगा हुआ है। उनके मिल जाने पर अन्य किसी सुख की उसे क्या चाह हो सकती है? वास्तव में उसने आज तक सच्चे सुख का स्वरूप समझा ही नही है। ऐसा व्यक्ति सम्यक्त्व के लायक कैसे हो सकता है? जो इन्द्रियों के द्वारा सुख की चाह करता है, वह मिथ्यात्व से ग्रस्त है। वास्तविक सुख इन्द्रियों से नहीं मिल सकता है। फिर, किससे मिलता है? यह जानकारी इस प्राणी को आज तक नही मिली है। सच्चा सुख तो वस्तु के स्वभाव में है। अपने स्वभाव में रहने पर क्या भय हो सकता है? किन्तु अपने स्वभाव से हटे नहीं कि पर के ग्रहण का अपराध हुआ और दण्ड के भागी बने। इतनी सरल बात भी आज

---

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवां अधिकार, पृ. २६२

२. खयउवसमियविसोही देसणपाउग्गकरणलद्धी य।
चत्तारि वि सामण्णा करणं पुण होदि सम्मत्ते॥ गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गा. ६५०

तक किसी प्रकार हम समझ नहीं पाए। यही कारण है कि सम्यग्दर्शन की योग्यता हमारी प्रकट नहीं हो पाई। जब योग्यता ही प्रकट नहीं हुई, तो सम्यग्दर्शन प्रकट होने की बात तो दूर की कौड़ी लाने के समान है।

सम्यग्दर्शन किसके होता है ?

सामान्यतः सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने वाले जीव चारों गतियों के संज्ञी, पंचेन्द्रिय व पर्याप्तक होते हैं[1]। पं० सदासुखदासजी कासलीवाल के शब्दों में "सम्यग्दर्शन उपजै है सो चारों ही गति में अनादि मिथ्यादृष्टि वा सादि मिथ्यादृष्टि के उपजै है; परन्तु संज्ञी के ही उपजै है, असंज्ञी के नाहीं उपजै। पर्याप्त के ही उपजै, अपर्याप्त के नाही उपजै। मन्दकषायी के ही उपजै, तीव्र कषायी के नाही उपजै। भव्य के ही उपजै, अभव्य के नाहीं उपजै। गुण-दोषनि का विचार सहित साकारोपयोग जो ज्ञानोपयोग युक्त के ही उपजै, दर्शनोपयोगी के नाही उपजै। जागृत अवस्था में ही उपजै, निद्रा करि अचेत के नाहीं उपजै। सम्मूर्च्छन के नाहीं उपजै। अर पाँचवी करणलब्धि में उत्कृष्ट जो अनिवृत्तिकरण तिसका अन्त समय में प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्रगट होय है[2]।" सामान्य रूप से सभी लेश्याओ वाले जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकते हैं, किन्तु विशेष रूप से तेजो लेश्या के जघन्य अंश में विद्यमान जीव प्रथम उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करता है[3]। प्रथम समयवर्ती प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टि जीव को मिथ्यात्व को तीन भागों में विभाजित करने वाला कहा गया है[4]। इस प्रकार यह धर्म की भूमिका सभी गतियों के विवेकवान जीवों को प्राप्त हो सकती है। कभी-कभी इस जन्म में तत्त्व-

---

१. दंसणमोहस्सुवसामओ दु चदुसु वि गदीसु बोद्धव्वो।
पंचेदिओ य सण्णी णियमा सो होदि पज्जत्तो।। पंचसंग्रह, १,२०४

२. रत्नकरण्डश्रावकाचार की वचनिका, पृ ५२ से उद्धृत

३. सायारे पट्ठवओ णिट्ठवओ मज्झिमो य भयणिज्जो।
जोगे अण्णदरम्मि दु जहण्णए तेउलेस्साए।। षट्खण्डागम, जीवस्थान, १, ९-८, ९, धवला पुस्तक, ६, पृ. २३९ तथा—जयधवला, अ. प. ९५८

४. "चरिमसमयमिच्छाइट्ठी से काले उवसमसम्मत्तमोहणीओ। ताधे चव तिण्णि कम्मंसा उप्पादिदा। पढमसमय उवसंतदंसणमोहणीओ मिच्छत्तादो सम्मामिच्छत्ते बहुगं पदेसग्गं देदि।"—कषायप्राभृत चूर्णिका, पृ. ६२८

विचार करने वाले को यहाँ सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती, तो संस्कारवश अगले जन्म में तिर्यंच या अन्य गति में भी सम्यक्त्व की उत्पत्ति हो जाती है। किन्तु सम्यक्त्व के उत्पन्न होने में निमित्त है—तत्त्वविचार। तत्त्वविचार की महिमा सच में विलक्षण है। आचार्यकल्प पं० टोडरमलजी के शब्दों में: "देखो, तत्त्वविचार की महिमा। तत्त्वविचार रहित देवादिक की प्रतीति करे, बहुत शास्त्रों का अभ्यास करे, व्रतादिक पाले, तपश्चरणादि करे, उसको तो सम्यक्त्व होने का अधिकार नहीं, और तत्त्वविचार वाला इनके बिना भी सम्यक्त्व का अधिकारी होता है। तथा किसी जीव को तत्त्वविचार होने के पहले कोई कारण पाकर देवादिक की प्रतीति हो व व्रत, तप का अंगीकार हो, पश्चात् तत्त्वविचार करे; परन्तु सम्यक्त्व का अधिकारी तत्त्वविचार होने पर ही होता है। तथा किसी को तत्त्वविचार होने के पश्चात् तत्त्व-प्रतीति न होने से सम्यक्त्व तो नहीं हुआ और व्यवहारधर्म की प्रतीति-रुचि हो गई, इसलिये देवादिक की प्रतीति करता है व व्रत-तप को अंगीकार करता है। किसी को देवादिक की प्रतीति और सम्यक्त्व युगपत् होते हैं तथा व्रत, तप सम्यक्त्व के साथ भी होते हैं और पहले-पीछे भी होते हैं। देवादिक की प्रतीति का तो नियम है, उसके बिना सम्यक्त्व नहीं होता; व्रतादिक का नियम है नाही। बहुत जीव तो पहले सम्यक्त्व हो पश्चात् ही व्रतादिक को धारण करते हैं, किन्हीं को युगपत् भी हो जाते हैं। इस प्रकार यह तत्त्वविचार वाला जीव सम्यक्त्व का अधिकारी है; परन्तु उसके सम्यक्त्व हो ही ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि शास्त्र में सम्यक्त्व होने से पूर्व पंच लब्धियों का होना कहा है[1]।" वास्तव में सम्यक्त्व होने के लिए व्रत, नियमों की आवश्यकता नहीं है। किन्तु कोई चाहे, तो व्रत, तप, नियमों का पालन करता हुआ भी तत्त्वविचार में प्रवृत्त होकर सम्यक्त्व का अधिकारी बन सकता है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन उसके ही प्रकट हो सकता है, जो धर्म की भूमिका के योग्य हो। जिसमें सम्यक्त्व का अधिकार नहीं, वह सम्यग्दृष्टि नहीं बन सकता है।

सम्यग्दर्शन की महिमा

प्रश्न यह है कि सम्यग्दर्शन तो चारों गतियों में हो सकता है, किन्तु संयम और तप का पालन केवल मनुष्य जन्म में ही हो सकता है, इसलिए इसे ही

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवां, अधिकार, पृ. २६०-२६१ से उद्धृत

क्यों न सब से अधिक महत्त्व दिया जाए ? यह सत्य है कि संयम और तप मनुष्य जीवन में ही होते हैं। देवों को भी संयम और तप करने का सौभाग्य प्राप्त नहीं होता। परन्तु जिस प्रकार तत्त्वविचार करने पर नियम से सम्यग्दर्शन नहीं होता, उसी प्रकार संयम और तप करने पर भी नियम से मुक्ति की उपलब्धि नहीं होती। क्योंकि तत्त्वविचार का शुभ भाव तो अभव्य को भी होता है। चार लब्धियाँ अभव्य और भव्य को अनन्त बार हो जाती हैं; किन्तु यह जीव मिथ्यात्व में ही बना रहता है। इसी प्रकार व्रत, तप, नियम आदि यह जीव अनन्त बार पाल चुका है, पर यह मिथ्यात्व के रोग से बार-बार प्रति समय ग्रस्त होता रहता है। जैसे तत्त्व का विचार करना शुभ भाव है, वैसे ही व्रत, तप आदि का पालन करना शुभ भाव है। शुभ भाव से शुद्ध भाव की उत्पत्ति हो नहीं सकती, इसलिये वह मुक्ति का कारण नही है। किन्तु शुद्धभाव वीतरागता का कारण है और वीतरागता ही मुक्ति है। अतएव अध्यात्म में वीतरागता की दृष्टि होने के कारण सम्यग्दर्शन को महत्त्व दिया जाता है। व्रत, तप आदि तो सम्यग्दर्शन के भी कारण नही है। कहा भी है–यह जीव मुनियों के महाव्रतो को धारण कर अनन्त बार ग्रैवेयक स्वर्ग पर्यन्त गया, किन्तु आत्म-ज्ञान न होने के कारण इसे सच्चा सुख किंवा मुक्ति की प्राप्ति नहीं हुई। इससे यह नही समझना चाहिए कि जैनधर्म में व्रत, संयम और तप का कोई स्थान नही है[1]। वास्तव मे संयम और तप आदि का बहुत ही महत्त्व है, किन्तु उनकी सार्थकता तब है; जबकि उनके पहले सम्यक्त्व रूपी अंक हो। क्योंकि अंक के बिना बिन्दी का कोई महत्त्व नहीं होता। अंक के साथ बिन्दी दस गुना, सौ गुना, हजार गुना इत्यादि फल देने वाली होती है। आचार्य गुणभद्र कहते है : सम्यग्दर्शन से रहित पुरुष के शान्ति, ज्ञान, चारित्र और तप पत्थर के बोझ के समान व्यर्थ है। किन्तु सम्यक्त्व से सहित होने पर ही सब महान् मणि के समान पूज्य हो जाते हैं[2]। वस्तुतः सम्यक्त्व की महिमा ही सर्वोपरि है। आचार्यो ने यहां तक कहा है कि सम्यक्त्व

---

१. मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो ;
पै निज आतमज्ञान बिना सुखलेश न पायो। छहढाला ४, ५

२. शमबोधवृत्ततपसां पाषाणस्येव गौरवं पुंसः।
पूज्यं महामणेरिव तदेव सम्यक्त्वसंयुक्तम् ।। आत्मानुशासन, श्लो. १५

सहित नरक में रहना अच्छा है, पर सम्यक्त्व रहित स्वर्ग का निवास व्यर्थ है[1]।

आचार्य कुन्दकुन्द सम्यग्दर्शन की महिमा बताते हुए कहते हैं कि चारित्र से भ्रष्ट मनुष्य का सुधार हो सकता है, वह सत्पथ पर लग सकता है; किन्तु सच्चे श्रद्धान से हटा हुआ व्यक्ति मिथ्यात्व के कारण सिद्ध नहीं हो सकता[2]। इसलिए वास्तव में दर्शन (श्रद्धान) से भ्रष्ट ही भ्रष्ट हैं। आचार्य समन्तभद्र तो यहां तक कहते है कि तीनों लोकों में, तीनों कालों में सम्यक्त्व के समान कोई कल्याण करने वाला अन्य नहीं है और मिथ्यात्व के समान अन्य अकल्याण करने वाला नहीं है[3]। इतना ही नहीं, करोड़ों वर्षों तक बिना सम्यग्दर्शन के अत्यन्त उग्र तप करने पर भी आत्मज्ञान नहीं होता[4]। सम्यग्दर्शन में ऐसी क्या विशेषता है, जिसे साक्षात् मोक्ष का कारण माना गया है और व्रत, तप आदि को दूसरे नम्बर पर स्थान दिया गया है? इसका उत्तर यही है कि ऊपर से दिखने वाला मनुष्य वास्तव में मनुष्य नहीं है। मनुष्य तो इस काया में बैठा हुआ वह जीव है जो ज्ञानमय है। ज्ञान है सो आत्मा है और आत्मा है सो ज्ञान है। इसलिये आचार्य कुन्दकुन्द का कथन है कि मनुष्य का सार ज्ञान है और ज्ञान का भी सार सम्यक्त्व है। क्योंकि सम्यक्त्व से ही सम्यक्त्वाचरण होता है और उससे निर्वाण की प्राप्ति होती है[5]। पं० दौलतरामजी तो यहां तक कहते हैं कि जो निर्मल सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर लेता है, उसके अप्रत्याख्यानावरणीय चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से यद्यपि लेश मात्र भी संयम नही होता है, तथापि इन्द्र उसकी पूजा करते हैं। वे घर में रहते हुए

---

१. वरं नरकवासोऽपि सम्यक्त्वेन हि संयुतः।
न तु सम्यक्त्वहीनस्य निवासो दिवि राजते ।। परमात्मप्रकाश की टीका में उद्धृत।

२. दंसणभट्टा भट्टा दंसणभट्टस्स णत्थि णिव्वाणं।
सिज्झंति चरियभट्टा दंसणभट्टा ण सिज्झंति ।। दर्शनपाहुड, गा. ३

३. न सम्यक्त्वसमं किंचित्त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम् ।। रत्नकरण्डश्रावकाचार, श्लो. ३४

४. सम्मत्तविरहियाण सुट्ठु वि उग्गं तवं चरंताणं।
ण लहंति बोहिलाहं अवि वाससहस्सकोडीहिं ।। दर्शनपाहुड, गा. ५

५. णाणं णरस्स सारो सारो वि णरस्स होइ सम्मत्तं।
सम्मत्ताओ चरणं चरणाओ होइ णिव्वाणं ।। दर्शनपाहुड, गा. ३१

भी उसी प्रकार संसार से अलिप्त रहते हैं, जैसे पानी में कीचड़ से सराबोर कमल जल से भिन्न रहता है; स्वर्ण कीचड़ से तथा वेश्या नागरिकों से प्रेम करती हुई भी उनसे निरासक्त रहती है[1]। वास्तव में सम्यग्दर्शन के बिना धर्म का प्रारम्भ नहीं होता है। हम जिन रूढ़ क्रियाओं को धर्म समझते हैं, वे धर्म नहीं हैं। धर्म तो स्वभाव है, वीतरागता है। वीतरागता की उपलब्धि आत्मानुभूति के द्वारा होती हैं। स्वात्मानुभूति मोह आदिक भावों से भिन्न निश्चय रत्नत्रय की साधना से उपलब्ध होती है। इसी ओर संकेत करते हुए पं० दौलतराम जी कहते हैं :

सो धर्म मुनिन करि धरिये, तिनकी करतूत उचरिये;

ताको सुनिये भवि प्रानी, अपनी अनुभूति पिछानी।। (छहढाला, ५, १५)

इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि स्वात्मानुभूति मुनियों के करने के लिए है। स्वात्मानुभव मात्र से उत्पन्न व रागादि विकल्पों से रहित सुख अनुभवन रूप निश्चय मोक्षमार्ग है। इसका आरम्भ चौथे गुणस्थान से हो जाता है। अव्रती गृहस्थ भी अपनी आत्मा की अनुभूति कर सकता है, इसलिए यह कहना उचित नहीं है कि केवल मुनियों के लिए है। आचार्य समन्तभद्र तो यहाँ तक कहते हैं कि मोक्षमार्ग में स्थित गृहस्थ यदि निर्मोही है, तो मोही मुनि की अपेक्षा श्रेयस्कर है[2]। यदि यह गृहस्थों के लिए मार्ग नहीं होता, तो आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव यह क्यों कहते कि सम्यक्त्व आत्मा का स्वरूप है[3]। आत्मा का स्वरूप अनुभूति के द्वारा ही व्यक्त होता है। अतः यह नहीं समझना चाहिए कि यह मुनियों के लिए उपादेय है; गृहस्थों के लिए नहीं। इसी प्रकार से कुछ यह भी समझते हैं कि समयसार मुनियों के लिए है, गृहस्थों के पठन के लिए नहीं है; किन्तु वीतरागता का मार्ग ऐसा नहीं है।

---

१. दोषरहित गुणसहित सुधी जे, सम्यग्दरश सजै है;
चारितमोहवश लेश न संजम, पै सुरनाथ जजै हैं।
गेही पै गृह मे न रचै, ज्यों जलतै भिन्न कमल है;
नगरनारि को प्यार यथा, कादे मे हेम अमल है।। छहढाला, ३, १५

२. गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान्।
अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः।। रत्नकरण्डश्रावकाचार, ३३

३. जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं रूवमप्पणो तं तु।
दुरभिणिवेसविमुक्कं णाणं सम्मं खु होदि सदि जम्हि।। द्रव्यसंग्रह, गा. ४१

जो भी वीतराग बनना चाहता है, चाहे वह गृहस्थ हो या मुनि; अध्यात्म-शास्त्रों का अभ्यास किए बिना सत्यता की यथार्थता को समझ नहीं सकता। यथार्थता जाने बिना सम्यक्त्व की किरण का उन्मेष नहीं होता। अतएव आत्मज्ञान को समझने के लिए इन शास्त्रों का अभ्यास आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है। पं० जयचन्द्रजी समयसार का महत्त्व बताते हुए कहते हैं : "बहुरि इस ग्रंथ में शुद्धनय का विषय जो शुद्ध आत्मा ताही का श्रद्धानकूँ सम्यग्दर्शन एक ही प्रकार नियम करि कह्या है। सो लोक में यह कथनी प्रसिद्ध बाहुल्यता करि नाही है। ताते व्यवहार ही कूँ लोक जाने हैं। जैसे पहले अशुभ का व्यवहार लोक के है, ताकूँ निषेध करि व्यवहारनय शुभ में प्रवर्तावै है, सो लोक अशुभ की पक्ष छोड़ि शुभ मे प्रवर्ते। अर कदाचित् शुभ ही का पक्ष पकड़ि याही का एकांत करे, तो पहले अशुभ की पक्ष का एकांत था तथा अब शुभ का एकांत भया, या ही कूँ मोक्षमार्ग मान्या तब मिथ्यात्व ही दृढ भया। तातैं शुभ की पक्ष छुड़ावने कूँ शुद्धनय का आलम्बन का उपदेश है, याही कूँ निश्चयनय कहि सत्यार्थ कह्या है। अशुद्धनय कूँ व्यवहार कहि असत्यार्थ कह्या है, जातै व्यवहार शुभाशुभ रूप है, बंध का कारण है। सो यामें तो प्राणी अनादि मूँ ही प्रवर्ते है। अर शुद्धनय रूप कदे भया नाही, ताते याका उपदेश सुणि यामे लीन होय, व्यवहार का आलम्बन छोड़, तब बंध का अभाव करै[1]।" श्रीमद् योगीन्द्रदेव कहते हैं कि अपनी निर्मल आत्मा का ध्यान करो, अन्य बहुतो मे क्या? स्वात्मानुभूति के द्वारा क्षण भर म परमपद की प्राप्ति हो जाती है[2]।

सम्यग्दर्शन की यही सबसे बडी महिमा है कि क्षायिक सम्यग्दृष्टि उसी जन्म मे या अगले तीसरे-चौथे भव में सिद्ध पद को प्राप्त कर लेता है। उसका अनन्तानन्त ससार नष्ट हो जाता है। चौथे भव मे तो वह नियम से निर्वाण को प्राप्त होता है। इस नियम का उल्लघन नही होता। इसी प्रकार अन्य सम्यक्त्व की भाति यह सम्यक्त्व नष्ट नही होता[3]। क्षायिक सम्यग्दर्शन होने

---

१ समयप्राभृत की प्रस्तावना, पाना ५ से उद्धृत

२ अप्पा झायहि णिम्मलउ किं बहुएं अण्णेण।
जो झायंतह परमपउ लब्भइ एक्क-खणेण ।। परमात्मप्रकाश, १, ९७

३. दसणमोहे खविदे सिज्झदि एक्केव तदियतुरियभवे।
णादिक्कदि तुरियभवं ण विणस्सदि सेससम्मं व ।। गोम्मटसार, जीवकाण्ड गा. ६४५ (१)

पर जीव को यदि देवायु का बंध हो गया हो, तो तीसरे भव में सिद्ध होता है। यदि सम्यग्दर्शन के पहले मिथ्यात्व अवस्था में मनुष्य या तिर्यंच आयु का बन्ध हो गया हो, तो चौथे भव में सिद्धपद को प्राप्त करता है। यह सम्यक्त्व सादि-अनन्त है। दर्शनमोहनीय कर्म के क्षय से जो सम्यग्दर्शन होता है, उसे क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है। इस निर्मल श्रद्धान का प्रारम्भ केवली भगवान के या श्रुतकेवली के पादमूल (निकट) में ही होता है तथा कर्मभूमि के मनुष्य को होता है। यदि कदाचित् पूर्ण क्षय होने के पहले ही मरण हो जाए, तो उसकी समाप्ति चारों गतियों में से किसी भी गति में हो सकती है[1]। उपशम सम्यक्त्व और क्षायिक सम्यक्त्व निर्मलता की अपेक्षा समान है। प्रतिपक्षी कर्मों का उदय दोनों में ही नही है। किन्तु विशेषता इतनी है कि क्षायिक सम्यक्त्व के प्रतिपक्षी कर्म का सर्वथा अभाव हो गया है और उपशम सम्यक्त्व के प्रतिपक्षी कर्म की सत्ता है; जैसे पानी में निर्मली या फिटकरी डाल देने से ऊपर से पानी निर्मल हो जाता है, कीचड़ नीचे जम जाती है। यही दोनों में अन्तर है[2]।

सम्यक्त्व और स्वरूपाचरण चारित्र

यह पहले कहा जा चुका है कि सम्यक्त्व का अधिकारी भव्य जीव होता है। भव्य किसे कहते हैं[3] ? आगमनिष्ट श्री ब्रह्मदेवसूरि के शब्दों में जो निज शुद्धात्मा के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और आचरणरूप से होगा, उसे भव्य कहते हैं। यह भव्य जीव दर्शनमोहनीय के अभाव से सत्यार्थ-श्रद्धान, सत्यार्थ-ज्ञान प्रकट कर लेता है, साथ ही अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ का भी अभाव कर देता है। इस स्थिति में उसकी अवस्था कैसी होती है ? पं० सदासुखदासजी के शब्दों में: "अर अनन्तानुबन्धी के अभाव तै स्वरूपाचरण चारित्र सम्यग्दृष्टि के प्रगट होय है। यद्यपि अप्रत्याख्यानावरण के उदयतै

---

१. दंसणमोहक्खवणापट्ठवगो कम्मभूमिजादो दु।
मणुसो केवलिमूले णिट्ठवगो होदि सव्वत्थ ।। गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गा. ६४७

२. दंसणमोहुवसमदो उप्पज्जइ जं पयत्थसद्दहणं।
उवसमसम्मत्तमिणं पसण्णमलपंकतोयसमं ।। वही, गा. ६४९

३. "स च पूर्वोक्त विवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चय आगमभाषया किं भण्यते—स्वशुद्धात्म-सम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपेण भविष्यतीति भव्यः, एवंभूतस्य भव्यत्वसंज्ञस्य पारिणामिक भावस्य सम्बन्धिनी व्यक्तिर्भण्यते।"—बृहद्द्रव्यसंग्रह, गा. २७ की टीका।

देशचारित्र नाही भया है अर प्रत्याख्यानावरण का उदयतै सकल चारित्र नाहीं प्रगट भया है, तो हू सम्यग्दृष्टि के देहादिक पर-द्रव्य तथा राग-द्वेषादिक कर्मजनित पर-भाव इनमें दृढ भेद-विज्ञान भया है[1] ।"

सम्यक्त्व का उदय होते ही दृष्टि-परिवर्तन लक्षित होने लगता है । जो दृष्टि पहले क्षणिक की ओर थी, तात्कालिक इन्द्रिय-सुखों की ओर थी और नश्वर विषयों की ओर प्रधावमान थी, वही अब नित्य, शाश्वत एवं स्थायी सुख स्वरूप आत्मा के सन्मुख हो जाती है । गृहीतमिथ्यात्व छूटते ही सच्चे देव, शास्त्र, गुरु की श्रद्धा प्रकट हो जाती है, दृष्टि आत्मा के सन्मुख हो जाती है । चूँकि बुद्धि पूर्वक उसने विपरीत श्रद्धान को ग्रहण कर रक्खा था, इसलिये बुद्धि पूर्वक शुद्ध आत्म-तत्त्व का निर्णय कर उस ओर झुक जाता है । क्षणिकता की ओर से उसकी रुचि हट कर आत्मा के ध्रुव गुणों में रुचि बढ़ जाती है । वास्तव में शुद्धात्मा की ओर झुकने, बढ़ने रूप जो उपयोग होता है, उसे चाहे सम्यक्त्वाचरण कहो या स्वरूपाचरण एक ही बात है । असंयतादि गुणस्थानों में सम्यक्त्व के कारण परिणामों में जो निर्मलता एव आंशिक स्थिरता होती है, उसको आगम में सम्यक्त्वाचरण रूप चारित्र कहते हैं । मोक्षमार्ग में इसका प्रधान स्थान है । इसकी पूर्णता बारहवें गुणस्थान में होती है । व्रतादि रूप चारित्र इसके साथ ही वर्तता हुआ सार्थक है, अन्यथा नही । संयत दशा की भूमिका में स्वरूपाचरण से अभिप्राय उस निश्चय सम्यग्दर्शन पूर्वक ज्ञान और चरित्र से निष्ठ शुद्धात्मानुभूति मय उपयोग से है जो वीतराग चारित्र है । वस्तुतः वीत-रागता की दृष्टि का होना ही सम्यग्दर्शन है । आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि भेद-विज्ञान के द्वारा परमार्थ से आत्मा को जानता हुआ यह जीव मोह से दूर हो जाता है । मोह के छूट जाने पर आत्मा के सम्यक् तत्त्व को प्राप्त हुआ जीव राग-द्वेष के छूटते ही शुद्ध आत्मा को प्राप्त कर लेता है[2] । इसकी व्याख्या करते हुए आचार्य जयसेन कथन करते हैं[3] . अपनी ही शुद्ध आत्मा के परमानन्द

---

१ रत्नकरण्डश्रावकाचार की वचनिका, पृ ६८

२. जीवो ववगदमोहो उवलद्धो तच्चमप्पणो सम्मं ।
जहदि जदि रागदोसे सो अप्पाण लहदि सुद्ध ।। प्रवचनसार, गा ८१

३. "शुद्धात्मानुभूतिलक्षणवीतरागचारित्रप्रतिबन्धकौ चारित्रमोहसंज्ञौ रागद्वेषौ यदि त्यजति स एव अभेदरत्नत्रयपरिणतो जीव. शुद्धबुद्धैकस्वभावमात्मानं लभते, मुक्तो भवति" —वही, जयसेनाचार्य कृत टीका ।

स्वभाव को जानता हुआ—संशयादि से रहित भली प्रकार अनुभवन करता हुआ — यदि शुद्धात्मा के अनुभव रूपी लक्षण को धारण करने वाले वीतराग चारित्र के बाधक चारित्रमोह रूपी राग-द्वेषको छोड़ देता है, तो निश्चय से अभेद रत्नत्रय में परिणमन करने वाले शुद्ध-बुद्ध स्वभाव रूप आत्मा को प्राप्त कर लेता है अर्थात् मुक्त हो जाता है। इस प्रकार के कथन से स्पष्ट है कि शुद्धात्मानुभूति के साथ वीतराग चारित्र होता ही है। यही कारण है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने जिस चारित्र को धर्म का स्वरूप बताया है, वह निश्चय-चारित्र या स्वरूपाचरण चारित्र ही है[1]।

स्वरूपाचरण (यथाख्यात) चारित्र क्या है ?

स्वरूपाचरण इतना व्यापक है कि चतुर्थ गुणस्थान में द्वितीया के चन्द्र की भांति प्रारंभ होकर बारहवें गुणस्थान में पूर्णरूप से अभिव्यक्त होता है। वस्तुत: स्वरूप में रमण करना स्वरूपाचरण चारित्र है। इसे ही आचार्य अमृतचन्द्र ने स्वसमय मे प्रवृत्ति करना कहा है। जो पर से भिन्न अपना ही स्वभाव है, उसमे स्थित होने का नाम स्वसमय है। वही वस्तु का स्वभाव होने से धर्म है। उसी को दूसरे शब्दो मे शुद्ध चैतन्य का प्रकाश करना कहा गया है। और वही यथावस्थित आत्मगुण होने से साम्य है। उस साम्य को ही, दर्शन मोहनीय तथा चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न होने वाले समस्त मोह और रागद्वेष के अभाव के कारण अत्यन्त निर्विकार जीव का परिणाम कहा गया है[2]। उसे ही निश्चयचारित्र कहा गया है। आचार्य जयसेन ने स्वरूपाचरण चारित्र का पर्यायवाची निश्चयचारित्र बताया है। वस्तुत: वह शुद्ध आत्मरूप परिणाम है। उसके प्रकट होने पर ही सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान में विशुद्धता आती है। सम्यग्दृष्टि जीवों के ऐसे परिणाम होते हैं, जिनसे स्वरूपाचरण चारित्र हुआ कहा जाता है। जिस प्रकार सूर्योदय होने पर अन्धकार नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार सम्यक्चारित्र से विशुद्ध दर्शन,

---

१. चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ।। प्रवचनसार, गा. ७

२. "स्वरूपे चरणं चारित्रम्, स्वसमयप्रवृत्तिरित्यर्थ:। तदेव वस्तुस्वभावत्वाद्धर्म:। शुद्धचैतन्यप्रकाशनमित्यर्थ:। तदेव च यथावस्थितात्मगुणत्वात्साम्यम्। साम्यं तु दर्शनचारित्र-मोहनीयोदयापादितसमस्तमोहक्षोभाभावादत्यन्तनिर्विकारो जीवस्य परिणाम:।" —प्रवचनसार गा. ७ की टीका, तत्त्वप्रदीपिका वृत्ति।

ज्ञान के होने पर फिर ससार में जन्म नही होता[1]। व्यवहार चारित्र में पाप-क्रिया से निवृत्ति होती है, किन्तु निश्चय चारित्र में शुद्धात्मा में अविचल स्थिति होती है। व्यवहारनय के चारित्र में व्यवहारनय का तपश्चरण होता है और निश्चयनय के चारित्र में निश्चय से तपश्चरण होता है[2]। उसे ही पदमप्रभमलधारिदेव सहजचारित्र कहते हैं। उनके अनुसार निश्चय रत्नत्रय रूप परिणति वाले जीव को टकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभावी परमतत्त्व की श्रद्धा द्वारा आत्मज्ञान स्वरूप अन्तर्मुख परमबोध द्वारा परमतत्त्व मे अविचल रूप से स्थित होने रूप सहजचारित्र द्वारा अभूतपूर्व सिद्धपर्याय होती है[3]। वास्तव में यही शुद्ध चारित्र है।

सम्यक्त्व और स्वरूपाचरण चारित्र

आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि सब तत्त्वों में एक ही सारवान है—समयसार। जो समस्त नष्ट होने योग्य भावों से दूर है, जिसने दुर्वार काम को नष्ट कर दिया, जो पाप रूप वृक्ष को छेदने वाले कुठार के समान है, जो शुद्ध ज्ञान का अवतार है, जो सुख-सागर की बाढ है और जो क्लेश रूपी समुद्र का किनारा है, वह समयसार (शुद्ध आत्मा) जयवन्त वर्तता है[4]। समयसार, वीतराग चारित्र तथा स्वरूपाचरण चारित्र मे सामान्यत: कोई अन्तर नहीं है; क्योंकि निश्चय से मोक्ष का हेतु स्वभाव है[5]। पं० बनारसीदासजी

---

१. स्वानुष्ठान विशुद्धे दृग्बोधे जायते कुतो जन्म।
उदिते गभस्तिमालिनि किं न विनश्यति तमो नैश्यम्॥ पदमनन्दिपंचविंशतिका, निश्चयपचाशत्, १९

२ ववहारणयचरित्ते ववहारणयस्स होदि तवचरण।
णिच्छयणयचारित्ते तवचरण होदि णिच्छयदो॥नियमसार, गा. ५५

३ "अभेदानुपचाररत्नत्रयपरिणतेर्जीवस्य टकोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावनिजपरमतत्त्वश्रद्धानेन, तत् परिच्छित्तिमात्रान्तर्मुखपरमबोधेन, तद्रूपाविचलस्थितिरूपसहजचारित्रेण अभूतपूर्व सिद्धपर्यायो भवति।" –नियमसार, गा ५५ की टीका।

४. जयति समयसार सर्वतत्त्वैकसार.।
सकलविलयदूर प्रास्तदुर्वारमार.।
दुरिततरुकुठार: शुद्धबोधावतार.
सुखजलनिधिपूर क्लेशवाराशिपार॥ नियमसारकलश, श्लो. ५४

५. णिच्छयदो खलु मोक्खो तस्स य हेऊ हवेइ सब्भावो। नयचक्र, गा. ३७९

अध्यात्म-निधि स्वरूप परमार्थ वाचनिका में लिखते हुए कहते हैं: सम्यग्दृष्टि को स्व-पर स्वरूप में न संशय, न विमोह, न विभ्रम; यथार्थ दृष्टि है, इसलिए सम्यग्दृष्टि जीव अन्तर्दृष्टि से मोक्षपद्धति को साधना जानता है। बाह्यभाव बाह्य निमित्त रूप मानता है; वह निमित्त नाना रूप है, एकरूप नही है। अन्तर्दृष्टि के प्रमाण में मोक्षमार्ग साधे और सम्यग्ज्ञान स्वरूपाचरण की कणिका जागने पर मोक्षमार्ग सच्चा। मोक्षमार्ग को साधना यह व्यवहार, शुद्ध द्रव्य अक्रियारूप सो निश्चय। इस प्रकार निश्चय-व्यवहार का स्वरूप सम्यग्दृष्टि जानता है, मूढ जीव न जानता है, न मानता है।" वस्तुतः इस अवस्था में शुद्ध निमित्त और शुद्ध उपादान की स्थिति कही गई है। इस वीतरागचारित्र का वर्णन करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र कहते है : शुद्धोपयोग को प्राप्त कर आत्मा स्वयं धर्मरूप परिणत होता हुआ नित्य आनन्द के प्रसार से सरस ज्ञान-तत्त्व मे लीन होकर अत्यन्त अविचलता के कारण दैदीप्यमान ज्योतिर्मय एव सहज ही विलसित दीपक की निष्कम्प प्रकाशमय कान्ति को प्राप्त करता है[1]।

मोक्षमार्ग मे वीतरागता की ही प्रधानता है। राग की रुचि वाला जीव सम्यग्दृष्टि नही हो सकता। उसकी दृष्टि राग के राग से दूषित नही होनी चाहिए; क्योकि राग की रुचि के सद्भाव म मिथ्यादृष्टि अपनी आत्मा को अनेक अवस्था रूप करता है। विभिन्न क्रियाओं के साथ वह आत्मा की तन्मयता का योग करता है। आचार्य कुन्दकुन्द का कथन स्पष्ट है कि भले ही वह सभी आगमों का पाठी हो, किन्तु परमाणु मात्र भी राग (राग की रुचि) उसमे विद्यमान है, तो वह आत्मा को नही जानता है[2]। जो परमार्थ मे आत्मा को नही जानता, वह सम्यग्दृष्टि नही हो सकता और सम्यग्दर्शन के विना कोई भी जीव समयसारी नही हो सकता। इसका कारण यह है कि सम्यग्दर्शन आत्मा की श्रद्धा गुण की पर्याय है। इसकी उत्पत्ति निज शुद्धात्मा के आलम्बन मे होती है। यह सम्यक् श्रद्धा आत्मानुभव की

---

१. आत्मा धर्मः स्वयमिति भवन् प्राप्य शुद्धोपयोगं
नित्यानन्दप्रसरसरसे ज्ञानतत्त्वे निलीय।
प्राप्स्यत्युच्चैरविचलतया निःप्रकम्पप्रकाशां
स्फूर्जज्ज्योतिः सहजविलसद्रत्नदीपस्य लक्ष्मीम् ॥ प्रवचनसारकलश, ५

२. परमाणुमित्तयं पि हु रायादीणं तु विज्जदे जस्स।
ण वि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरो वि ॥ समयसार, गा. २०१

अविनाभावी है । इसलिये शुद्धात्मानुभूति पूर्वक जो चारित्र होता है, वहवीत-रागचारित्र है और वीतरागतापूर्वक सभी प्रकार के विकल्पों से रहित समय-सार है । वीतरागचारित्र में रत्नत्रय गर्भित है; क्योंकि चारित्र का लक्षण ही यह किया गया है, जिसमें वाह्य और अन्तरग क्रियाओं का निरोध हो[1] । वास्तव में समस्त नय-पक्षो से जो रहित है, वही समयसार है । किसी भी नय से अखण्ड वस्तु के स्वरूप का वेदन नही किया जा सकता । समस्त विकल्पों से रहित यह समयसार ही शुद्ध स्वरूप है । अत: इसे ही केवल सम्यग्ज्ञान कहा जाता है । सम्यग्ज्ञान कहो या समयसार दोनों एक है । इन दोनों को किसी अपेक्षा से एक कहने का कारण यही है कि सम्यग्ज्ञान में सत् श्रद्धा की अनिवार्यता तथा वैराग्य का बल अवश्यम्भावी है । आचार्य अमृतचन्द्र तो समयसार को परमात्मा कहते है । परमात्मा कहने से उनका अभिप्राय कारण परमात्मा प्रतीत होता है । क्योंकि जो नाना प्रकार के नयपक्षों के आलम्बन से होने वाले अनेक विकल्पों के द्वारा आकुलता उत्पन्न करने वाली श्रुतज्ञान की बुद्धि का अवधारण कर आगम से समझे हुए तत्त्व को सन्मुख करता हुआ अत्यन्त विकल्प रहित होकर तुरन्त ही निजरस मे प्रकट होता हुआ आदि, मध्य और अन्त से रहित , अनाकुल, केवल एक, अखिल विश्व पर मानो तैरता हुआ अखण्ड प्रतिभासमय, अनन्त विज्ञानघन परमात्मा समयसार का जब आत्मा अनुभव करता है, तभी सम्यक् लक्षित होता है, प्रतीत होता है, इसलिये समयसार ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है[2] ।

कारण रूप परमात्मा के आश्रय से कार्य रूप परमात्मा की प्राप्ति होती है । क्योंकि अशुद्ध नय से अशुद्ध आत्मा की प्राप्ति होती है और शुद्धनय से

---

१. बहिरब्भंतरकिरियारोहो भवकारणप्पणासट्ठं ।
णाणिस्स ज जिणुत्तं तं परमं सम्मचारित्तं ।। द्रव्यसंग्रह, गा. ४६
तथा–"संसारकारणनिवृत्तिं प्रत्यागूर्णस्य ज्ञानवत. कर्मादाननिमित्तक्रियोपरम: सम्यक्चारित्रम् ।"–सर्वार्थसिद्धि, १, १ की टीका ।

२. "तथा नानाविधनयपक्षालम्बनेनानेकविकल्पैराकुलयन्ती श्रुतज्ञानबुद्धीरप्यवधार्य श्रुतज्ञानतत्त्वमप्यात्माभिमुखीकुर्वन्नत्यन्तमविकल्पो भूत्वा झगित्येव स्वरसत एव व्यक्तीभवन्तमादिमध्यान्तविमुक्तमनाकुलमेकं केवलमखिलस्यापि विश्वस्योपरि तरंतमिवाखण्डप्रतिभासमयमनन्तं विज्ञानघनं परमात्मानं समयसारं विन्दन्नेवात्मा सम्यग्दृश्यते ज्ञायते च तत: सम्यग्दर्शनं ज्ञानं च समयसार एव ।"–समयसार गा १४४ की आत्मख्याति टीका ।

शुद्ध आत्मा की प्राप्ति होती है[1]। किन्तु प्रश्न यह है कि जब जीव की वर्तमान में अशुद्ध अवस्था है, तो अशुद्ध अवस्था का आलम्बन लेकर यह शुद्ध अवस्था को कैसे प्राप्त कर सकता है ? जो वर्तमान में विद्यमान हो और शुद्ध हो, उसका आलम्बन ही सिद्धि के लिए आवश्यक माना गया है। ऐसा तत्त्व एक कारण परमात्मा ही है। त्रिकाली ध्रुव तत्त्व होने से वह वर्तमान में विद्यमान है और शुद्ध नय दृष्टि से सर्वथा शुद्ध है। जैसा कारण परमात्मा सिद्ध अवस्था में है, वैसा ही द्रव्यदृष्टि से संसारावस्था में है[2]। कारण परमात्मा ही पर्याय रूप से शुद्ध होकर कार्य परमात्मा रूप में परिणत हो जाता है। वस्तुतः भेद-विज्ञान के बिना कारण परमात्मा की उपलब्धि नहीं हो सकती। वास्तव में कपड़ा कभी गन्दा नही होता, केवल मैल के सयोग के कारण मैला कहा जाता है। साबुन से मैल के हटते ही कपड़ा ज्यो का त्यों हो जाता है। कपड़ा मैला हो जाने पर भी अपने गुणों को जैसे नही छोड़ता, वैसे ही अशुद्ध अवस्था मे भी जीव अपने शुद्ध ज्ञानादि गुणों से रहित नही हो जाता। केवल सम्यग्दृष्टि जीव उस धोबी के समान होता है जो पर्याय की अशुद्धता को समझकर भेद-विज्ञान के साबुन से समरसता रूपी जल डालकर अपनी आत्मा को शुद्ध करता है[3]। वस्तु स्वानुभवगम्य सम्यग्ज्ञानमयी स्वभाव-सूर्य है। उसमें किसी भी नय-दृष्टि का पक्षपात नही है। इसलिये उसे चिन्मात्र कहा गया है। कारण परमात्मा स्वसम्यग्ज्ञानमयी है। स्वसम्यग्ज्ञान की रीति यह है—"जैसे कोई दर्पण को सदाकाल अपने हाथ में लेकर दर्पण के पिछले भाग को बार-बार देखता है, इसलिये अपना मुख दिखाई नही देता, परन्तु उस दर्पण के पृष्ठ भाग को पलटकर स्वच्छ दर्पण में अपना मुख देखे, तो अपना मुख दिखाई दे; वैसे मिथ्यादृष्टि इस संसार-तन-मन-धन-वचन की तरफ और तन-मन-धन-वचनादिक का जितना शुभाशुभ व्यवहार-क्रियाकर्म तथा उसका शुभाशुभ फल है उनकी तरफ देखता है, इसलिये सम्यग्ज्ञान नहीं

---

१. सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धं चेवप्पयं लहइ जीवो।
जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहइ ।। समयसार, गा. १८६

२. द्रष्टव्य है : सन्मति सन्देश, वर्ष १५, अंक ५, पृ. ३०-३१

३. भेदज्ञान साबुन भयो, समरस निर्मल नीर।
धोबी अन्तर आत्मा, धोवै निज गुण-चीर ।। समयसार नाटक, संवर द्वार, ९

दिखाई देता, स्वानुभव में नहीं आता। परन्तु इस संसार-तन-मन-धन-वचनादिक की तरफ देखना छोड़कर स्वसम्यग्ज्ञान की तरफ निश्चय से देखे; तो स्वसम्यग्ज्ञान ही दिखाई दे और स्वसम्यग्ज्ञानानुभव की अचलता-परमावगाढ़ता हो जाय[1]।" कारण परमात्मा किसी राग-द्वेष के द्वन्द में स्थित नहीं होता। अतएव आचार्य सम्बोधित करते हुए जगाते हैं : हे अन्ध प्राणियों! अनादि काल से लेकर आज तक जिस पर्याय रूपी पद में सोते रहे हो, वह तुम्हारा पद नहीं है। तुम्हारा पद तो चैतन्यमय है। शुद्ध चैतन्य धातु निज रस की अतिशयता के कारण स्थिर है, नित्य है; बाहर भीतर सभी ओर वह शुद्ध है। ऐसे शुद्ध पद को प्राप्त करो[2]।"

सम्यग्दर्शन से क्या होता है?

व्यवहार से देव, गुरु, धर्म का श्रद्धान और परमार्थ से निज आत्मा के अनुभव का नाम सम्यग्दर्शन है। प्रश्न यह है कि देव, गुरु, धर्म के श्रद्धान से क्या हो जाता है? कोई ब्रह्मा, विष्णु, महेश पर श्रद्धा रखता है, तो कोई बुद्ध पर और अन्य कोई सत् ईश्वर पर। इन सब पर श्रद्धा रखने से क्या सचमुच हमारा भला हो जाता है? हमारा भला तो तभी होगा, जब हम अच्छे भाव करेंगे। इसी तरह हम बुरे भाव करेंगे, तो बुरा होगा। अतएव यह श्रद्धान मिथ्या है कि कोई हमारा अच्छा या बुरा कर देगा। फिर, देव, गुरु, धर्म के श्रद्धान का क्या मतलब है? यही कि हम समझें, निश्चित करें कि वास्तव में हमारा आदर्श क्या है? हम क्या होना चाहते हैं? जो होना चाहते हैं, उसके गुण क्या हैं? वस्तुतः हम जो भीतर से हैं, उसके सिवाय अन्य कुछ नहीं बन सकते; हो नहीं सकते। भीतर में विद्यमान शक्ति को ही हम व्यक्ति रूप में प्रकाशित कर सकते हैं। इसलिये ज्ञायक शुद्ध तत्त्व को पहचानने के लिए परमात्मा का स्वरूप समझकर उसका ध्यान किया जाता है। श्री पात्रकेशरी मुनि पात्रकेशरी स्तोत्र में अर्हन्तों की स्तुति

---

१. सम्यग्ज्ञानदीपिका, पृ ११४-११५ से उद्धृत

२. आसंसारात्प्रतिपदममी रागिणो नित्यमत्ताः
सुप्ता यस्मिन्नपदमपदं तद्विबुध्यध्वमन्धाः।
एतैतेतः पदमिदमिदं यत्र चैतन्यधातुः
शुद्धः शुद्धः स्वरसभरतः स्थायिभावत्वमेति ॥ समयसारकलश, १३८

करते हुए कहते हैं : अन्य जो यथार्थ देव नहीं हैं, जिनको सच्चा सुख प्राप्त नहीं है, वे पर-पदार्थों के संयोग से उत्पन्न स्त्री-सेवनादि सुख की अकांक्षा रखते हैं, किन्तु आप तो परमात्मा है। आपका सुख पर-पदार्थ में नहीं है। सच्चा सुख सहज, परिवर्तित न होने वाला, स्वाधीन, अविनाशी तथा निरुपम है। यह सुख कहीं बाहर से प्राप्त नहीं होता है। यह हमारे भीतर ही विद्यमान है[1]। किन्तु कुछ रुकावटों के कारण यह प्रकाशित नहीं हो रहा है। पहली रुकावट यही है कि हमारा श्रद्धान मिथ्या है। विपरीत श्रद्धान के कारण यह बात आज तक अच्छी तरह से समझ नहीं पाए कि धर्म वीतरागता के सिवाय अन्य कुछ है नहीं। वीतरागता कहें, वस्तु का स्वभाव कहें, समता मयी कहें, समता मयी शुद्ध परिणति कहें, सब का अर्थ एक है। इस वीतरागता की प्राप्ति तब हो सकती है, जब मोह का नाश हो। मोह अचानक नष्ट नहीं हो सकता। इसके नाश का यही उपाय है कि ज्ञान और वैराग्य की शक्ति से इसे बलहीन कर शनैः शनैः विनष्ट किया जाए। मोह की सेना को जीतने का उपाय बतलाते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हं : जो द्रव्य, गुण और पर्यायपने में अर्हन्त को जानता है, वह अपनी आत्मा को जानता है और उसका मोह अवश्य नाश को प्राप्त होता है[2]। वस्तुतः अर्हन्तों को जानने में और अपने आप को जानने में कोई अन्तर नही है। क्योंकि जिस प्रकार त्रिकाली ध्रुव, शुद्ध चैतन्यस्वरूप सिद्ध परमात्मा का है, वैसा ही संसारी जीव का है। द्रव्य-दृष्टि से दोनों में कोई भेद नही है। इसलिये व्यवहार से देव, गुरु और जिनवाणी के श्रद्धान से अपनी आत्मा का ही निश्चय होता है और उनके दर्शन, पूजन, स्तवन आदि से आत्मानुभूति की ही प्रेरणा मिलती है[3]। परमार्थ में यह आत्मा ज्ञानस्वरूप है, इसलिये आत्मज्ञान को प्राप्त करना ही मोह को भगा देने का एक मात्र उपाय है। अतः सम्यग्दर्शन की उपलब्धि से यह

---

१. परैः कृपणदेवकैः स्वयमसत्सुखैः प्रार्थ्यते।
सुखं युवतिसेवनादिपरसन्निधिप्रत्ययं ॥
त्वया तु परमात्मना न परतो यतस्ते सुखं।
व्यपेतपरिणामकं निरुपमं ध्रुवं स्वात्मजं ॥श्लो. २८

२. जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं ॥ प्रवचनसार, गा. ८०

३. जय परमशान्त मुद्रा समेत, भविजन को निज अनुभूति हेत। —पं. दौलतराम

लाभ होता है कि श्रद्धान में पर-पदार्थों की ओर से दृष्टि हटकर स्वाश्रयी बनती है। दृष्टि के स्व-सन्मुख होने पर हमें आत्म-तत्त्व का अनुभव होता है और उससे मोह शिथिल हो जाता है। इसलिये आत्मतत्त्व का अनुभव राग-द्वेष के उन्मूलन के लिए किया जाता है। आचार्य जयसेन की व्याख्या के अनुसार जो वास्तव मे द्रव्य, गुण, पर्याय का अभेद नय से भावन करता है, उसका दर्शनमोह रूपी अन्धकार नष्ट हो जाता है। इस उपयाय से मोह को दूर करके भी तथा सम्यक् आत्मतत्त्व को प्राप्त करके भी यदि राग-द्वेष को निर्मूल करता है, तो शुद्ध आत्मा का अनुभव करता है। यदि बार-बार यह राग-द्वेष का अनुसरण करता है, तो प्रमाद की अधीनता से शुद्धात्मतत्त्व रूपी चिन्तामणि रत्न के लुट जाने पर अन्तरंग में खेदखिन्न होता है। इसलिये हमे राग-द्वेष को दूर करने के लिए अत्यन्त जागृत रहना चाहिए।[1] इससे यह स्पष्ट है कि सम्यग्दर्शन से मोह गल जाता है, शुद्ध आत्म-तत्त्व की उपलब्धि होती है। यही इससे लाभ है। कहा भी है कि भेद-विज्ञान से आत्मानुभव होता है, अनुभव से शुद्ध स्वभाव की प्राप्ति होती है और शुद्धानुभवन से राग-द्वेष, विमोह आदि सब गल जाते है, दुष्ट कर्म रुक जाते है और उज्ज्वल ज्ञान प्रकाश प्रकट हो जाता है[2]।

इस प्रकार वीतरागता की दृष्टि से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है और सम्यग्दर्शन से आत्मानुभव और आत्मानुभव से शुद्धस्वभाव की उपलब्धि और शुद्धता होने से राग-द्वेष गल जाता है, उज्ज्वल ज्ञान का प्रकाश प्रकट हो जाता है, जिससे निर्वाण की प्राप्ति होती है।

---

१. "एवमुपवर्णितस्वरूपेणोपायेन मोहमपसार्यापि सम्यगात्मतत्त्वमुपलभ्यापि यदि नाम रागद्वेषौ निर्मूलयति तदा शुद्धमात्मानमनुभवति। यदि पुन. पुनरपि तावनुवर्तते प्रमादतन्त्रया लुण्ठितशुद्धात्मतत्त्वोपलम्भचिन्तारत्नोऽन्तस्ताम्यति। अतो मया रागद्वेषनिषेधायात्यन्त जागरितव्यम्।"—प्रवचनसार, गा. ८१ की जयसेनाचार्य कृत टीका।

२. भेदविज्ञान-कला प्रगटै, तब शुद्धस्वभाव लहै अपना ही,
राग-द्वेष-विमोह सबहि गलि जाय, इमै दुठकर्म रुका ही;
उज्ज्वल ज्ञान प्रकाश करै, बहु तोष धरै परमातम माही,
यों मुनिराज भली विधि धारतु, केवल पाय सुखी शिव जाही ।।—समयसार नाटक

यदि सम्यग्दर्शन न हो, तो क्या होता है ? यह जीव हठवादी बना रहता है और अनादि काल से जिस प्रकार मोही व अज्ञानी है, वैसा ही अनन्त काल तक बना रहेगा। हठवाद का क्या मतलब है ? यही कि जो समझ रक्खा है, वही ठीक है। यह जीव अन्तरशून्य बाह्य क्रिया को ही धर्म समझता है और वैसा ही करता है। एक राम के नाम की माला फेरता है, दूसरा बुद्ध के नाम की और तीसरा महावीर के नाम की। माला फेरने की दृष्टि से सभी माला फेर रहे हैं, पर मन नहीं फिरता है[1]। क्योंकि जानते नहीं हैं कि माला क्यों फेरनी है ? यद्यपि वीतराग जिनेन्द्र भगवान किसी को देते-लेते नहीं हैं, वे सिद्धालय में अमूर्तिक विराजमान हैं, किसी से राग-द्वेष नहीं करते हैं, निग्रहानुग्रह भी नहीं करते हैं, फिर भी उनके पुण्य गुणों का स्मरण भक्तों के दुरितों-पापों का नाश कर देता है। इसमें कोई कर्तृत्ववाद नहीं है[2]।" वास्तव में यह स्पष्ट है कि भगवान किसी का कुछ अच्छा या बुरा नहीं करते। केवल असद्भूत उपचार नय से इस प्रकार का वर्णन किया जाता है। इसलिये उनको सद्भूत समझना मिथ्यात्व है। यह तो निश्चित है कि इन धार्मिक क्रियाओं में अल्प राग भी हो, तो वह राग वीतरागता का बन्धक है[3]। इसी प्रकार पर-पदार्थों की सहायता से ईश्वर की प्राप्ति समझना भ्रान्ति है[4]। ये सब मिथ्यात्व के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं। इस कारण संसार का मूल कारण मिथ्यादर्शन (मिथ्या श्रद्धा) है। इसी मिथ्यादर्शन के कारण न तो आत्मा का अनुभव हो पाता है, न अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष तत्त्वों का यथार्थ विश्वास इस जीव के हृदय में उत्पन्न होता है और इसी कारण इसका ज्ञान निज (अपने आत्मरूप) का तथा पर (शरीर, धन, परिवार, मित्र आदि पदार्थों) का भेदविज्ञान नहीं कर पाता है तथा मिथ्यादर्शन के प्रभाव से ही इसका आचरण हिंसा, झूठ, चोरी, विषय-सेवन, अभक्ष्य-भक्षण आदि पाप-क्रियाओं के रूप में प्रकट

---

१. माला फेरत जुग गया, गया न मन का फेर।
कर का मनका छांड़ि कै, मन का मनका फैर॥—कबीरदास

२. न्यायाचार्य पं० माणिकचन्द्रजी . स्वात्म-परिचय, पृ० २० से उद्धृत

३. वही, पृ० २१

४. मुनिश्री विद्यानन्दजी : ईश्वर प्राप्ति का उपाय, पृ० ७

होता रहताहै[1] ।" वास्तव में इस पूर्वग्रह या मिथ्यादर्शन के दूर हुए बिना यह जीव धर्म-मार्ग में प्रवेश नहीं कर सकता है । मुनि रामसिंह ठीक ही कहते हैं : जो दिगम्बरत्व का गर्व करते हैं, पर आकुलता को नही गिनते, वे बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह में से एक का भी त्याग नहीं करते अर्थात् भेष मात्र धारण करना, किन्तु कषाय न घटना सच्चे त्याग का लक्षण नही है[2] । ये सब बाते सम्यग्दर्शन न होने पर देखी ही जाती है । सम्यग्दर्शन जागृति की अवस्था है । उसके न होने तक जीव मोह में सोता ही रहता है । इस जीव की विचित्रता तो देखो कि यह सोता हुआ भी अपने आप को जागता हुआ मानता है । बाहरी आखें खुली रहने के कारण यह जागता हुआ नहीं कहा जा सकता । क्योंकि जो योगी लोक-व्यवहार में सोता है, वही आत्मा-नुभव में जागता है, किन्तु जो इस लोक –व्यवहार में जागता है, वह आत्मा के अनुभव मे सोता रहता है[3] । वस्तुत: हमे क्यो जागना चाहिए ? यह सम्यक् दृष्टि होने पर ही सूझता है । "सार यह है कि आत्मा का कर्तृ-कर्म सम्बन्ध अपने ही साथ है, पर के साथ नही है । मत्तिका और घट क्रमश. कर्ता और कर्म हे, कुम्भकार और घट कर्ता, कर्म नही है । प्रत्येक द्रव्य का उसका उपादान ही कर्ता हो सकता है, निमित्त कर्ता नही है । निमित्त सदा पर होता है । आत्मा अन्य द्रव्यों की तरह स्वतन्त्र एक पदार्थ है । उसका पर के साथ कोई सम्बन्ध नही है, तब कर्तृ-कर्म सम्बन्ध भी नही है । अत: यह मानना कि कि आत्मा कर्मों का कर्ता है अथवा उसके फल का भोक्ता है, उचित नहीं है । इन दोनो मे विवेक रख कर आत्मा को ही उपादेय मान कर्म से उदासीन हो जाना चाहिए[4] ।" अध्यात्मशास्त्र के अध्ययन व मनन से यही परिणामार्थ होता है कि हम एक बार विषयो की पराधीनता छोड़कर निज आत्मा की शरण ग्रहण करनी चाहिए । आत्मानुभव होते ही भलीभाँति

---

१ प० अजितकुमार शास्त्री जैनधर्म का परिचय, पृ० १०२ से उद्धृत

२. णग्गत्तणि जे गव्विया विग्गुत्ता ण गणंति ।
गंथहं बाहिरभिंतरहिं एक्कुइ ते ण मुयंति ।। दोहा १५४

३. व्यवहारे सुषुप्तो य. स जागर्त्यात्मगोचरे ।
जागर्ति व्यवहारेऽस्मिन् सुषुप्तश्चात्मगोचरे ।। समाधिशतक, श्लोक ७८

४. डॉ. लालबहादुर शास्त्री : आचार्य कुन्दकुन्द और उनका समयसार, पृ० २६४ से उद्धृत

यह अहसास हो जाएगा कि सिद्धों के सुख का स्वाद कैसा है और वे उसे प्राप्त कर पूर्ण सुखी कैसे हुए[1]।

क्या सम्यग्दर्शन होने पर व्यवहारचारित्र नहीं होता ?

यह कहा जाता है कि चौथे गुणस्थान में अव्रत सम्यग्दर्शन होता है। जो इन्द्रियों के विषयों से विरक्त नहीं है, त्रस व स्थावर जीवों की हिंसा से भी विरक्त नही है; किन्तु जिसे तत्त्वों का श्रद्धान है, वह अव्रत सम्यग्दृष्टि है[2]। यद्यपि सम्यग्दृष्टि के इन्द्रिय संयम और प्राण संयम दोनों में से कोई भी सयम नहीं होता, तथापि मिथ्यात्व, अन्याय और अभक्ष्य (मांस, मदिरा, मधु) का वह सेवन नहीं करता, बिना मतलब हिंसा आदिक पापों में प्रवृत्ति नही करता। पं० जयचन्द्रजी छावड़ा के शब्दों में–"जो कोऊ कहै सम्यक्त्व भए पीछे तो सर्व परद्रव्य संसारकूं हेय जानिये है, ताकूं छोड़े मुनि होय चारित्र आचरै, तब सम्यक्त्व भया जानिये। ताका समाधान रूप यह गाथा है। जो सर्व परद्रव्यकूं हेय जानि निज स्वरूपकूं उपादेय जान्यां, श्रद्धान किया, तब मिथ्या भाव तो मिथ्या; परन्तु चारित्रमोह कर्म का उदय प्रबल होय जातें चारित्र अगीकार करने की सामर्थ्य नही होय, तेतैं जेती सामर्थ्य होय तेता तो करै, तिस सिवाय का श्रद्धान करै[3]।" वास्तव में यह कथन सामर्थ्य की दृष्टि से किया जाता है और कहा जाता है–"कीजै शक्तिप्रमाण, शक्ति बिना श्रद्धा धरै।" प्रथम श्रद्धा बनाने का कार्य मुख्य है, इसलिये चारित्र गौण हो जाता है; किन्तु चारित्र का अभाव नही होता, अभाव हो नहीं सकता। जैनधर्म में सम्यक्त्व के बिना संयमाचरण का कोई महत्त्व नहीं है। इसलिये कहा गया है[4] : जो सम्यक्त्वाचरण से भ्रष्ट है, वे संयमाचरण का पालन करते है, तो अज्ञानी, मूढ निर्वाण को प्राप्त नही होते४। परन्तु सम्य-

---

१. यो चिन्त्य निज में थिर भये, तिन अकथ जो आनन्द लह्यो;
सो इन्द्र नाग नरेन्द्र वा अहमिन्द्र कै नाही कह्यो। छहढाला ६,११

२. णो इंदियेसु विरदो णो जीवे थावरे तसे वापि।
जो सद्दहदि जिणुत्तं सम्माइट्ठी अविरदो सो ।। गोम्मटसार, जीव. गा., २९

३. दर्शन पाहुड, गा. २२ की वचनिका।

४. सम्मत्तचरणभट्टा संजमचरणं चरंति जे वि णरा।
अण्णाणणाणमूढा तह वि ण पावंति णिव्वाणं ।। चारित्तपाहुड, गा. १०

क्त्वाचरण की विशुद्धता पूर्वक जो संयमाचरण का पालन करते हैं, वे ज्ञानी हैं, अमूढदृष्टि हैं और ऐसे सम्यग्दृष्टि शीघ्र ही निर्वाण को प्राप्त करते हैं[1]। निश्चय से तो निर्विकल्प रूप से देखना सम्यग्दर्शन है और विशेष रूप से जानना सम्यग्ज्ञान है और शुद्धात्म-परिणति में स्थिर होना सम्यक्चारित्र है। जो जीव सम्यक्चारित्र में आरूढ हो जाता है, उसके किसी भी प्रकार की इच्छा उत्पन्न नही होती[2]। यह निश्चित है कि क्रिया का नाम चारित्र नहीं है; किन्तु बाह्य तथा आन्तरिक दोनों प्रकार की क्रियाओं से निवृत्ति होना चारित्र का लक्षण कहा गया है।

प्रश्न यह है कि चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि जीव शरीर में खून की कमी होने पर अपने निकट सम्बन्धी या अन्य किसी का खून चढ़वा सकता है या नहीं? खेतों में कीडे मारने की खाद डालकर खेती-बारी कर सकता है या नहीं और डॉक्टर बनने के लिए मेढक को चीर सकता है या नही? यह पहले ही कहा जा चुका है कि सम्यग्दृष्टि में विवेक जाग्रत हो जाता है। बिना विवेक के कोई भी धार्मिक क्रियाओं को करने के योग्य नही माना जाता। इसलिये प्रथम सम्यग्दर्शन का उपदेश दिया जाता है, फिर व्रत, नियम, तप आदि समझाए जाते है। जिसे स्वरूप के भानपूर्वक स्व-पर-विवेक हुआ है, उसे सम्यग्दृष्टि कहते है। अन्तरात्मा इसी का दूसरा नाम है। ऐसा जीव शरीर की स्थिति बनाये रखने के लिए उक्त प्रकार के साधनों का उपयोग नही कर सकता है। यद्यपि चतुर्थ गुणस्थान में अविरतभाव की मुख्यता है, इसलिये वह उसका त्यागी नही होता; परन्तु त्यागी न होना अन्य बात है और बुद्धि पूर्वक ग्रहण न करना अन्य बात है। पं० जयचन्द्रजी छावड़ा के अनुसार सम्यग्दृष्टि के अनन्तानुबन्धी के अभावरूप श्रद्धान का आचरण रूप चारित्र होता है[3]। सम्यग्दृष्टि के नियम से ज्ञान-वैराग्य की शक्ति होती है। इसलिये त्याग के बिना ही उसकी बाह्याभ्यन्तर प्रत्येक क्रिया

---

१ सम्मत्तचरणसुद्धा संजमचरणस्स जइ व सुपसिद्धा।
णाणी अमूढदिट्ठी अचिरे पावंति णिव्वाण॥ वही, गा. ९

२. चारित्तसमारूढो अप्पासु परं ण ईहए णाणी।
पावइ अइरेण सुहं अणोवमं जाण णिच्छयदो॥ वही, गा. ४३

३. द्रव्यसंग्रह, गा. ४५ की भाषा-वचनिका

विवेकपूर्वक होती है[1]। वास्तव में सच्चा त्याग अन्तरंग से होता है, इसलिये वह सहज होता है। जो किया जाता है, वह औपचारिक होता है। जघन्य पाक्षिक श्रावक अष्ट मूलगुण का धारक तथा सप्त व्यसन का त्याग करने वाला कहा गया है; किन्तु वह उनका सातिचार पालन करता है; निर्दोष रूप से वह पालन नही करता। सम्यग्दृष्टि हेय-उपादेय का विवेक जाग्रत हो जाने के कारण इस प्रकार व्रत ग्रहण करता है, जिसमें दोष न लगे। वह सभी प्रकार से अपनी बाहरी क्रियाओ तथा अन्तरग परिणामों की सम्हाल रखता है। इसलिये यह नहीं कहा जा सकता है कि सम्यग्दर्शन केवल आत्मा का स्वाद लेना है; बाहर में चाहे जैसी स्वच्छन्दी प्रवृत्ति हो। यह भी नही समझना चाहिए कि निश्चय सम्यग्दृष्टि के केवल आत्मानुभव होता है, उसके व्यवहार सम्यग्दर्शन नही होता। वस्तुत: व्यवहार सम्यग्दर्शन की स्थिति निश्चयपूर्वक मानी गई है। इसलिये निश्चय सम्यदृष्टि के व्यवहार सम्यग्दर्शन स्वत. ही हो जाता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने स्पष्ट रूप मे निर्देश किया है कि सम्यग्दृष्टि जीव व्यवहार सम्यक्त्व के अष्ट अंगो से युक्त, प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य आदि भावनाओं से सहित होते है, इसलिये चाहे जैसे शुभाशुभ कर्मोदय के समय मे भी वे ज्ञान रूप ही परिणमित होते है; वे सुख के लिए कर्मरज की सेवा नही करते। निश्चय सम्यग्दृष्टि जीव निःशंक तथा निर्भय होते है; क्योकि वे सात प्रकार के भय से रहित होते है[2]। ब्र० शीतलप्रसाद जी के शब्दो में—"सम्यक्त्वी विवेकी, विचारवान होता है, किसी पर अन्याय या जुल्म नही करता है। दूसरा कोई अन्याय करे, तो उसको समझाता है। यदि वह नही मानता है, तो उसको शिक्षा देकर ठीक करता है। विरोधी से युद्ध करके भी उसे सीधे मार्ग पर लाता है। अविरत सम्यक्त्वी आरम्भी हिंसा का त्यागी नही होता है। यद्यपि सम्यक्त्वी संकल्पी हिंसा का भी नियम से त्यागी नही होता है, तो भी वह दयावान होता हुआ वृथा एक तृण मात्र को भी कष्ट नही देता है[3]।" व्यवहार मे तो वही सम्यग्दृष्टि

---

१. द्रष्टव्य है . सन्मति-सन्देश, वर्ष ११, अंक ४, पृ. ९

२. सम्मादिट्ठी जीवा णिस्संका होंति णिब्भया तेण।
सत्तभयविप्पमुक्का जम्हा तम्हा दु णिस्संका॥ समयसार, गा. २२८

३. सहज सुख साधन, द्वितीयावृत्ति, इन्दौर, पृ ३०६ से उद्धृत

कहा जाता है जो दोष रहित देव को, सब जीवों पर दया भाव रखने वाले धर्म को और निर्ग्रन्थ गुरु को मानता है[1]। ज्ञान और वैराग्य की शक्ति से सम्पन्न होने के कारण सम्यग्दृष्टि संसार के विषय-भोगों में आसक्त नहीं होता[2]। चारित्र मोहनीय कर्म की प्रबलता से विषय-भोगों को भोगता हुआ भी वह उनमे उदासीन भाव रखता है। प्रत्यक्ष में स्पष्ट रूप से इतना अन्तर सम्यग्दृष्टि की प्रवृत्ति मे आ ही जाता है। जो भोगों में मग्न हो जाता है, उसके ज्ञानभाव जाग्रत नही रहता और जो भोगों की अभिलाषा करता है, वह तो मिथ्यादृष्टि ही है[3]। प० बनारसीदासजी ने स्पष्ट स्वरो में घोषित किया है कि सम्यग्दृष्टि अपने व्यवहार को सम्हालने वाला व भलीभांति पालने वाला होता है। उनके ही शब्दो मे :

कोई मिथ्यादृष्टि जीव धरे जिन मुद्रा भेष,
क्रिया में मगन रहे कहे हम यती हैं।
अतुल अखण्ड मल रहित सदा उद्योत,
ऐसे ज्ञान भाव सौं विमुख मूढ मती है।।
आगम सम्भालें दोष टालें व्यवहार भालें,
पालें व्रत यद्यपि तथापि अविरती हैं।
आप को कहावै मोक्ष मारग के अधिकारी,
मोक्ष मे सदैव रुष्ट दुष्ट दुरगती है।। नाटक समयसार, सर्वविशुद्धि० ११९

इसमें कोई सन्देह नही है कि सम्यग्दृष्टि विषय-भोगों के सुख से अपना मुंह मोड़ लेते हैं। उचित भी है कि जब तक मनुष्य विषयों में प्रवृत्ति करता है, तब तक उसे आत्म-ज्ञान नही होता[4]। प० रायमलजी सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि की प्रवृत्ति का उल्लेख करते हुए कहते हैं—"सो सम्यक्दृष्टि के

---

१. णिज्जियदोसं देवं, सव्वजीवाण दयावरं धम्मं।
वज्जियगंथ च गुरुं, जो मण्णदि सो हु सद्दिट्ठी।। भगवती आराधना, गा० १

२. आतम सकति साधे ग्यान को उदो आराधे,
सोई समकिती भवसागर तरतु है। नाटक समयसार, उत्थानिका, ८

३. भोग मे मगन तब ज्ञान की जगन नाहिं,
भोग अभिलाष की दशा मिथ्यात अंग है। वही, बन्धद्वार, १२

४. ताम ण णज्जइ अप्पा विसएसु णरो पवट्टए जाम।
विसए विरत्तचित्तो जोई जाणेइ अप्पाणं।। मोक्षपाहुड, गा० ६६

श्रद्धान में वीतराग है। प्रवृत्ति में किंचित् राग भी है। ताको चारित्रमोह कारन अरु सरधान के भावा को दर्शनमोह कारन। सो सम्यकदृष्टि के अल्प कषाय नाही गनि वीतराग भाव ही कहिये। तातें सम्यकदृष्टि को बन्ध निर्बन्ध निराश्रव ही कहिये है, तो दोष नाहीं, बिवस्था, जान लेनी। या कथा एक जायगा शास्त्र विषें कही है। मिथ्यादृष्टि के सरधान में वीत-राग भाव नाही। वीतराग भाव बिना निर्बन्ध निराश्रव नाहीं। निर्बन्ध निराश्रव बिना सावद्य जोग का त्याग कारजकारी नही। सुरगादिक ने तो कारन है। परन्तु मोक्ष ने कारन नाही। ताते संसार का ही कारन कहिये। जे जे भाव संसार का कारन हैं, ते ते आश्रव है। यह कार्यकारी है। अरु सम्यक् बिना सावद्य जोग का त्याग करै है सो नरकादिक के भय का दुःख थकी करे है। परन्तु अन्तरंग विषें कोई द्रव्य इष्ट लागे, कोई द्रव्य अनिष्ट लागे है। तातें सरधान विषें राग-द्वेष प्रचुर जीवे है। सम्यकदृष्टि परद्रव्य ने असार जान तजे है[1]।"

इस प्रकार सम्यग्दृष्टि मे विषय-कषायादिक की अभिलाषा जाती रहती है। वह अपने शरीर के विषय-भोगों से हट कर जिनदेव की सजीव मूर्ति की भांति जिनप्रतिमा की पूजा-भक्ति करता है[2]। कहा भी है—"भगवान के भक्त को प्रथम भूमिका मे देव-शास्त्र-गुरु के प्रति शुभराग हुए बिना नहीं रहता। वह जिनदेव की सच्ची प्रतिमा की तथा सच्चे गुरु और सच्चे शास्त्र की अविनयादि नहीं होने देता तथा उसके विरुद्ध कुदेवादि का आदर नही करता। इस प्रकार जब सच्चे देव, शास्त्र, गुरु को पहचान कर कुदेवादि की मान्यता का त्याग करता है, तब यह कहा जा सकता है कि इस जीव ने मिथ्यात्व का त्याग कर दिया[3]।

सम्यक्त्व कैसे होता है ?

किसी भी कार्य की सिद्धि स्वभाव, पुरुषार्थ, काल, निमित्त और नियति इन पाँच समवायों से मिलकर होती है। अध्यात्म-मार्ग का पथिक

---

१. ज्ञानानन्द श्रावकाचार, पृ० १४८ से उद्धृत

२. कहत बनारसी अलप भव थिति जाकी,
सोई जिनप्रतिमा प्रमानें जिनसारखी। —पं० बनारसीदास

३. मुक्ति का मार्ग, पृ० ९५ से उद्धृत

इनमें से स्वभाव का आश्रय ग्रहण करता है। स्वभाव स्वयं आत्मा है। पुरुषार्थ आत्मा की वह परिणति है जो अपने शुद्धस्वरूप की ओर उन्मुख होती है। आत्मा की जो परिणति स्वभाव से विमुख होकर पर की ओर जा रही है, वह शुद्धात्मा की ओर रहे, यही पुरुषार्थ है। इस पुरुषार्थ की ओर जब जीव सन्मुख होता है और सतत बना रहना चाहता है, तब वही उसका काल है और कर्मों के उदय का अभाव निमित्त है तथा उसी काल मे होने के कारण नियति है, अतः स्वयमेव आत्मा की निर्मल दशा प्रकट हो जाती है। काल, निमित्त और नियति की आशा में उसे पर-पदार्थों की सहायता लेने की या जुटाने की आवश्यकता नही होती है। यद्यपि लौकिक कार्यों की सिद्धि के लिए विभिन्न साधनों का उपयोग करना पड़ता है, साधनों का आलम्बन लेना पडता है जो व्यवहार है; किन्तु ज्ञानोपासना में सभी आलम्बन छूट जाते है। क्योंकि ज्ञान स्वयं साधन है और शुद्ध ज्ञान ही साध्य है।

सम्यक्त्व की ओर उन्मुख होने वाला भव्य जीव कहा गया है। आचार्य पूज्यपाद का कथन है : "जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रवान होगा, उसे भव्य कहते है। इसमे विपरीत अभव्य है। जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व ये तीनों पारिणामिक भाव है[1]।" इनका मुख्य सम्बन्ध सम्यक्त्वादि से है। सम्यक्त्व की अपेक्षा से ही भव्य जीव कहा गया है। जिसे आगे चलकर सम्यग्दर्शन होगा, वह भव्य जीव है। सम्यक्त्व की ओर वही उन्मुख होगा, जिसे अपना निश्चय हो गया है। अपना निश्चय अपनी शुद्ध दृष्टि से होता है। जो लौकिक-पर-पदार्थों की संयोगी किवा अशुद्ध दृष्टि से अपने को समझना चाहता है, वह कैसे समझ सकता है? जैसे हम पर पदार्थो के सयोग से अपने आप को उन-उन पदार्थों वाला समझते है, वैसे ही अपनी शुद्ध दृष्टि से अपनी शुद्ध आत्मा का लक्ष्य कर अपने आपको शुद्ध समझकर वैसा ही श्रद्धान करेंगे। यहाँ पर कोई यह कहे कि वर्तमान मे तो हमारी आत्मा अशुद्ध है, इसे शुद्ध कैसे समझें? वास्तव में आत्मद्रव्य द्रव्य-दृष्टि से शाश्वत शुद्ध है। द्रव्य रूप में उसमें कोई अशुद्धता नहीं है। यदि अशुद्धता मानी जाए, तो फिर अशुद्धता उसका स्वभाव बने

---

१. "सम्यग्दर्शनादिभावेन भविष्यतीति भव्यः। तद्विपरीतोऽभव्यः। त एते त्रयो भावा जीवस्य पारिणामिकाः।"—सर्वार्थसिद्धि, २, ७

जाएगा, जो वास्तव में नहीं है। इसलिए जीव द्रव्य तो शुद्ध है; केवल पर्याय में अशुद्धता है। यह अशुद्धता भी द्रव्यकर्म के संयोग सम्बन्ध के निमित्त से है; वास्तविक नहीं है। जैसे कि—घड़ी के पुर्जे पर आकर सूक्ष्म रज-कण बैठ जाते हैं, उड़ती हुई धूलि से हमारे कपड़े धूल-धूसरित हो जाते हैं, जल-कणों से चश्मा धुँधला हो जाता है और कुहरे से धुंधलका फैल जाता है, उसी प्रकार कार्मण-वर्गणाओं (द्रव्यकर्म) से यह जीव अशुद्ध हो रहा है। यह व्यवहारनय का कथन है। परमार्थ से तो जीव शुद्ध है; त्रिकाली ध्रुव ज्ञान-स्वभाव वाला है। इस जीवतत्त्व के सम्बन्ध में रुचि पूर्वक जो सुनता है, वह निश्चय से भव्य है और भविष्य में निर्वाण को प्राप्त करने योग्य है[1]।

कोई फिर प्रश्न करता है कि अशुद्ध निश्चयनय से गुणस्थानों में अशुभ, शुभ और शुद्ध उपयोगों का जो विवेचन किया जाता है, उसमें अशुद्ध निश्चय नय से शुद्ध उपयोग किस प्रकार घटित होता है? इसका उत्तर यह है कि शुद्धोपयोग में शुद्ध, बुद्ध, एक स्वभावी स्वात्मा का ही ध्येय रहता है, इसलिए उपयोग में शुद्ध ध्येय होने से शुद्ध आलम्बन के कारण आत्मस्वरूप का साधक होने से शुद्धोपयोग सिद्ध होता है[2]। यहाँ पर सम्यग्दर्शन के प्रकरण में स्वशुद्ध -आत्मोन्मुख परिणाम करने वाला ही भव्य समझना चाहिए। शुभाशुभ रागादिक भाव तो अशुद्ध निश्चयनय से घटित होते हैं। शुद्ध निश्चयनय से आत्मा के स्वभाव में किसी भी प्रकार के रागादिक भाव नहीं हैं।

यह पहले कह चुके हैं कि उपशम सम्यक्त्व के प्रकट होते समय पाँचों लब्धियाँ होती हैं। उन पाँचों में करण लब्धि प्रधान है। वह क्या है? निज शुद्ध आत्मा के सम्मुख परिणाम। इस निर्मल भावना रूपी तलवार से

---

१. तत्प्रतिप्रीतिचित्तेन येन वार्तापि हि श्रुता।
निश्चितं स भवेद् भव्यो भाविनिर्वाणभाजनम्॥ पद्मनन्दिपंचविंशतिका, एकत्व-सप्तति, श्लोक २३

२. "शुद्धोपयोगे शुद्धबुद्धैकस्वभावो निजात्मा ध्येयस्तिष्ठति तेन कारणेन शुद्धध्येयत्वाच्छुद्धावलम्बनत्वाच्छुद्धात्मस्वरूपसाधकत्वाच्च शुद्धोपयोगो घटते।"—बृहद्द्रव्य-संग्रह, गा. ३२ की टीका।

कर्म रूपी शत्रुओं का हनन होता है[1]। यह अन्तरंग पुरुषार्थ, जिसमें विशिष्ट निर्मलता प्रकट होती है, उस भव्य जीव के ही होता है। अध्यात्म में पुरुषार्थ की प्रधानता बताई गई है। यह पुरुषार्थ सर्वप्रथम अपने आप का निश्चय करने से प्रकट होता है। "मैं चैतन्य मात्र हूँ"—क्या केवल इतना समझ लेनेसे पुरुषार्थ हो जाता है? नही, अभी तो यह भी पता नही है कि कैसे समझे? पं० दीपचन्दजी शाह के शब्दो मे : "विशुद्ध ज्ञानकला साधक है, निज परमात्मा साध्य है। विवेक साधक है, कार्य साध्य है। धर्मध्यान साधक है, शुक्ल ध्यान साध्य है। शुक्ल ध्यान साधक है, मोक्ष साक्षात् साध्य है। वीतराग भाव साधक है, कर्म अबंध साध्य है। संवर साधक है, निर्जरा साध्य है। निर्जरा साधक है, मोक्ष साध्य है। चिद्विकार-अभाव साधक है, शुद्धोपयोग साध्य है। द्रव्यश्रुत सम्यगवगाहन साधक है, भावश्रुत साध्य है। भावश्रुत साधक है, केवलज्ञान साध्य है। चेतन मे चित्त लीन करना साधक है, अनुभव साध्य है। अनुभव साधक है, मोक्ष साध्य है[2]।"

जो ज्ञान जीव-स्वभाव की ओर ढलकर उससे अभेद स्थापित करता है, वह स्वयं चेतन है जो ज्ञान रूप है। यथार्थ मे शुद्ध आत्मा को ज्ञान मे ही ग्रहण किया जा सकता है। चैतन्य तो अखण्ड चेतना है, इसलिये गुण-भेद करके उसे नही समझाया जा सकता। जो उससे तन्मय हो अभेद स्थिति को प्राप्त हो जाता है, उसके आनन्द का पार नही रहता। उस स्थिति का वर्णन करते हुए पं० दौलतरामजी कहते है :

> जबतें आनन्द-जननि दृष्टि परी माई,
> तबतें संशय विमोह भरमता विलाई ॥जब०॥
> मैं हूँ चितचिन्ह भिन्न-परतें, पर जड़ स्वरूप;
> दोउन की एकता सु, जानी दुखदाई ॥जब०॥

अर्थात्—हे जिनवाणी माते! जिस क्षण से अपनी शुद्ध आत्मा का अनुभव हुआ है, उसी समय से संशय, विमोह और भ्रम नष्ट हो गया है।

---

१. "इति गाथाकथितलब्धिपंचकसंज्ञेनाध्यात्मभाषया निजशुद्धात्माभिमुखपरिणामसंज्ञेन च निर्मलभावनाविशेषखड्गेन पौरुषं कृत्वा कर्मशत्रुं हन्तीति।"—वही, बृहद्-द्रव्यसंग्रह, गा. ३७ की टीका।

२. अनुभव-प्रकाश, पृ. ५२, ५३ से उद्धृत

मुझे आत्म-तत्त्व का यथार्थ दर्शन हो गया है। मैं पर-परिणति से भिन्न चैतन्य मात्र हूँ। मेरा स्वरूप ज्ञान-चेतना मात्र है और पर-पदार्थ जड़ स्वरूप हैं। इन दोनों को मै एक मानता रहा। यही मेरे दुःख का कारण है।

यह ज्ञान-चेतना क्या है? जो चेतती है, उसे चेतना कहते हैं। सामान्य की अपेक्षा चेतना एक ही तरह की है। विशेष की अपेक्षा शुद्ध और अशुद्ध दो प्रकार की है। आत्मा के शुद्ध स्वरूप को शुद्ध चेतना कहा जाता है और कर्म-संयोग के कारण अशुद्ध चेतना कहा जाता है। शुद्ध ज्ञान एक ही प्रकार का होता है, इसलिये शुद्ध चेतना भी एक प्रकार की है। यह शुद्ध आत्मा को विषय करने के कारण अर्थात् शुद्धोपलब्धि रूप होने से शुद्ध कही जाती है और इसे ही ज्ञानमय होने से ज्ञान चेतना कहते है[1]। यह ज्ञान-चेतना सम्यग्दृष्टि जीवों के ही होती है। मुख्य रूप से स्थावरों के कर्मफलचेतना, त्रसों के कर्म चेतना और जीवन्मुक्तों के ज्ञानचेतना होती है। जीवन्मुक्त से यहाँ अभिप्राय सम्यग्दृष्टि से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक के जीव हैं[2]। ज्ञानचेतना मे पदार्थो का विशेष प्रतिभास होता है। आचार्य अमृतचन्द्र के अनुसार निश्चयचारित्र ही ज्ञानचेतना का अनुभवन है। क्योंकि निरन्तर ज्ञान की संचेतना से ही ज्ञान अत्यन्त शुद्ध प्रकाशित होता है और अज्ञान की संचेतना से प्रधावित होता हुआ ज्ञान की शुद्धता को रोक देता है[3]। अतः निश्चयचारित्र ही ज्ञानचेतना है।

आत्म-दर्शन

वस्तुतः सम्यग्दर्शन स्वात्मानुभूति है आत्मानुभूति के बिना जीवतत्त्व का सम्यक् श्रद्धान नहीं हो सकता। पंचाध्यायीकार का कथन स्पष्ट है कि सम्यक् श्रद्धा और स्वानुभूति में समव्याप्ति है। इसका अर्थ यह है कि

---

१. एकधा चेतना शुद्धा शुद्धस्यैकविधत्वतः।
शुद्धा शुद्धोपलब्धित्वात् ज्ञानत्वाज्ज्ञानचेतना ।। पंचाध्यायी, २ अ., श्लो. १९४

२. पं. देवकीनन्दन जी शास्त्री कृत "पंचाध्यायी" की हिन्दी टीका, उत्तरार्ध, पृ. ९३

३. ज्ञानस्य संचेतनयैव नित्यं
प्रकाशते ज्ञानमतीव शुद्धम्।
अज्ञानसंचेतनया तु धावन्
बोधस्य शुद्धिं निरुणद्धि बन्धः ।। समयसारकलश, २२४

स्वानुभूति और समीचीन श्रद्धा दोनों एक साथ होते हैं। पदार्थ को देखे बिना, उसका स्वाद लिए बिना और उसका अनुभव किए बिना वह हमारी समीचीन श्रद्धा का विषय नही बन सकता। जिसे हमने देखा है, भोगा है, उसे तब तक उपेक्षित नही किया जा सकता, जब तक उससे अधिक रस तथा सुख देने वाला पदार्थ हमारे अनुभव में न आ चुका हो। इसलिये यह कहा गया है कि भद्रता के कारण केवल व्यवहार रूप से किसी जीव को तत्त्वों का श्रद्धान हो जाता है, किन्तु सम्यक्त्व का अभाव होने से अर्थात् स्वानुभूति नहीं होने के कारण उनकी वह श्रद्धा वास्तविक नहीं कहलाती है[1]। अतः आत्म-दर्शन हुए बिना आत्मा का ज्ञान सम्यग्ज्ञान नही है।

'दर्शन शब्द का मुख्य अर्थ है–देखना। परमागम मे विकल्प रहित सत्ता के ग्रहण को दर्शन कहा जाता है। सामान्य सत्ता का अवलोकन करना ही दर्शन है। वस्तुतः आत्मतत्त्व के स्पर्श का नाम दर्शन है। स्पर्श का अर्थ है–किसी पदार्थ की जानन क्रिया से हटकर अन्य वस्तु की जानन क्रिया के अन्तराल में शुद्ध परम विश्राम रूप आत्मा का उपयोग। आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव कहते है : स्वरूप मात्र सत्ता का प्रकाशित होना दर्शन है अर्थात् किसी भी पदार्थ को देखते समय जब तक देखने वाला स्वयं विकल्प न करे, तब तक जो सत्ता मात्र का ग्रहण है, वह दर्शन है।[2] इस प्रकार निर्विकल्प हो आत्मा का अवलोकन करना आत्म-दर्शन कहलाता है। इस दर्शन के लिए कहा गया है कि आत्मा के सन्मुख होकर जाने। इस जानने से क्या होगा ? यही समझाते हुए आचार्य कहतेहैं : हे भव्यजीव ! किसी भी प्रकार रच-पचकर तत्त्वों को जानने के लिए उत्कण्ठित होकर दो घड़ी के लिए शरीरादि मूर्त पदार्थों को बगल मे कर आत्मानुभव कर। इससे परद्रव्यों से भिन्न आत्मा का विलास लक्षित होगा; जिससे पर द्रव्यो के एकत्व का मोह तुरन्त ही विलय को प्राप्त होगा[3]। आचार्य देवसेन भी यही कहते हैं :

---

१. विना स्वात्मानुभूतिं तु या श्रद्धा श्रुतमात्रत.।
तत्त्वार्थानुगताप्यर्थात्श्रद्धा नानुपलाब्धित.।। पचाध्यायी, २ अ. ४२१

२. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश भा. २ पृ. ४०५

३. अयि कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली सन्
अनुभव भवमूर्तेः पार्श्ववर्ती मुहूर्तम्।
पृथगथ विलसन्तं स्वं समालोक्य येन
त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहम्।। समयसारकलश, २३

जब इन्द्रियों के विषयों की अभिलाषा का निरोध हो जाता है, तब वह निर्विकल्प स्वतत्त्व प्रकट होता है। और तभी यह आत्मा अपने निज स्वभाव में वर्तता है। मन के निश्चल हो जाने पर सब भेद रूप विकल्प-समूह नष्ट हो जाते हैं। निर्विकल्प हो अभेद, निश्चल, नित्य शुद्ध स्वभाव में आत्मा स्थिर हो जाता है। आत्मा अपने भीतर ऐसा तन्मय हो जाता है और उस परमानन्द का ऐसा रस अनुभव में आता है कि साध्य-साधक, ध्येय-ध्याता, ज्ञेय-ज्ञाता आदि में सब द्वैत भाव विलीन हो जाता है। केवल शुद्ध एकत्व की अनुभूति होती है, परमतत्त्व का दर्शन होता है[1]। जिनागम में "निराकारं दर्शनं, साकार ज्ञानम्" निर्विकल्प रूप से देखना दर्शन है और विशेष रूप से जानना ज्ञान कहा जाता है।

आत्मानुभव को ही निर्विकल्पदशा कहते हैं। प० दीपचन्द शाह के शब्दो में—"अभेद स्वाद में एकत्व अवस्था जानी, उसमे विचार नही होता, स्वरूप भावना की निश्चल वृत्ति हुई। वह द्रव्य में हो तो भी, निश्चल गुण-भावना में हो तो भी निश्चल और पर्याय वृत्ति की भी निश्चलता होने से राग आदि विकार मूल से नष्ट हुए, सहजानन्द समाधि प्रकट हुई, निज विश्राम प्राप्त हुआ। विशुद्धता द्वारा विशुद्ध होते चले, स्थिरता प्राप्त की, निर्विकल्प दशा हुई, अर्थ से अर्थान्तर, शब्द से शब्दान्तर और योग से योगान्तर का विचार (पलटना) नष्ट हुआ, भेद-विचार विकल्प-नय छूट गए, परमात्मा-दशा के नजदीक आया, उसे 'निर्विचार' समाधि कहिए। निर्विचार ऐसा शब्द, विचार रहित ऐसा अर्थ उसका जानपना वह ज्ञान-ये तीनों भेद लगाना[2]।"

इस प्रकार चित्स्वभाव के पुंज द्वारा समस्त भावों का अभाव कर एक भाव रूप परमार्थ स्वरूप वाले अपार समयसार की समस्त बन्ध-पद्धति

---

१. इंदियविसयविरामे मणस्स णिल्लूरण हवे जइया।
तइया तं अवियप्पं ससरूवे अप्पणो तं तु ।। तत्त्वसार, गा. ६
समणे णिच्चलभूये णट्ठे सव्वे वियप्पसंदोहे
थक्को सुद्धसहावो अवियप्पो णिच्चलो णिच्चो ।।वही, ७

२. चिद्विलास, पृ. १५२ से उद्धृत।

को दूर कर अनुभव किया जाता है[1]। यही आत्म-दर्शन की स्थिति है। इसमें निर्विकल्प अनुभव होता है; केवलज्ञानादि गुणों का पार नहीं रहता है। जो समयसार रूपी परमात्मा के अनुभव में वर्तता है, उसके 'मैं अनुभव करता हूँ'-ऐसा विकल्प नहीं रहता।

आत्म-दर्शन कैसा होता है? आचार्य अमृतचन्द्र इसका विवेचन करते हुए कहते है कि आत्मदर्शन परमात्मा रूप समयसार है। वह केवली भगवान के समान वीतराग सदृश प्रकट होता है। प० जयचन्द्रजी के शब्दों में-" इहाँ प्रथम दृष्टान्त कहे है, केवली भगवान् सर्वज्ञ वीतराग समस्त वस्तु का साक्षीभूत है, ज्ञाता-द्रष्टा है, सो श्रुतज्ञान के अवयवभूत जे व्यवहार निश्चयनय के पक्ष रूप दोय नय तिनि का केवल स्वरूप कूं जाने ही है। बहुरि कहू ही नय के पक्ष कूं नाही ग्रहण करे है। जातें केवली भगवान् निरन्तर उदय स्वाभाविक निर्मल केवलज्ञान स्वभाव है, तातें नित्य ही स्वयमेव विज्ञानघन स्वरूप है, याही तें श्रुतज्ञान की भूमिका तें अतिक्रान्तपणा करि समस्त नयपक्ष का परिग्रह तें दूरवर्ती है। तैसे ही जो मति श्रुतज्ञानी है, सो भी श्रुतज्ञान के अवयवभूत जे व्यवहार निश्चय दोऊ नय तिनि का पक्ष का स्वरूप कूं ही केवल जाने है, जातें याके क्षायोपशमिक ज्ञान है, ता करि उपजे जे श्रुतज्ञान स्वरूप विकल्प तिनि का फेरि उपजाना होय है, तो ऊपर जे ज्ञेय तिनि का ग्रहण प्रति उत्साह की निवृत्ति है, ता करि नयनि का स्वरूप का ज्ञाता ही है। बहुरि काहू ही नय को पक्ष कूं नाही ग्रहण करे है, जाते, तीक्ष्ण ज्ञानदृष्टि करि ग्रह्या जो निर्मल नित्य जाका उदय ऐसा चिन्मय समय कहिये चैतन्य स्वरूप अपना शुद्ध आत्मा, तिसते याका प्रतिबद्धपणा है, ता करि तिस स्वरूप के अनुभवन के काल स्वयमेव केवली के ज्यों विज्ञानघन रूप भया है। याही तें श्रुतज्ञान स्वरूप जे समस्त अन्तरग अर बाह्य जल्प कहिये अक्षर स्वरूप विकल्प ताकी भूमिका तें अतिक्रान्त है, तिसपणे करि केवली की ज्यों समस्त नयपक्ष का ग्रहण तें दूरीभूत है। सो ऐसा मति-श्रुतज्ञानी भी है। सो निश्चय करि

---

१. चित्स्वभावभरभावितभावा-
भावभावपरमार्थतयैकम्।
बन्धपद्धतिमपास्य समस्तां
चेतये समयसारमपारम्।। समयसारकलश, श्लोक ९२

समस्त विकल्पनि ते दूरवर्ती परमात्मा ज्ञानात्मा प्रत्यग्ज्योति आत्मख्याति रूप अनुभूति मात्र समयसार है[1]।"

आत्म-दर्शन में ज्ञान की ही मुख्यता है; क्योंकि केवल आत्मा का ही अनुभव किये जाने पर सभी ओर से विज्ञानघनता के कारण ज्ञान रूप से स्वाद आता है। आचार्य कुन्दकुन्द तो इस आत्म-दर्शन को जिनशासन का सार बताते हुए कहते हैं : जो पुरुष आत्मा को अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, अविशेष, नियत एव असंयुक्त देखता है, वह सम्पूर्ण जिनशासन को देखता है[2]। इसका अभिप्राय यही है कि आत्म-दर्शन मे जिनशासन की प्राप्ति होती है। उक्त पांचों भाव रूप आत्मा की अनभूति करना सो जिनशासन की अनुभूति है। यथार्थ मे यह ज्ञान की अनुभूति ही है। इसमें अभेद दृष्टि रहती है। क्योंकि भेद दृष्टि में निर्विकल्प दशा नहीं होती। अतः निर्विकल्प ज्ञानात्मक अनुभूति ही आत्म-दर्शन है।

आत्म-दर्शन कैसे होता है ?

जो ज्ञानस्वभाव और ज्ञायक स्वभाव का निर्णय करके ज्ञान को अन्तरोन्मुख कर लेता है, उसके ज्ञानात्मक सहज अनुभूति प्रकट हो जाती है। जिसे ज्ञान स्वभाव का पता नही, वह अपने आप को भी नही समझता है। ऐसा पुरुष कैसे आत्म-दर्शन कर सकता है? जैसे कि आकाश में किसी प्रकार का विकार नही है, एक स्वच्छ निर्मलता का पिण्ड है, वैसे ही ज्ञानस्वभावी चैतन्य आकाश की भांति निर्मल है। पं० रायमलजी के शब्दों में–"अरु में चैतन्य हूं मेरे विद्यमान यह जानपना दीसे है। आकाश मे यह दीसे नाहीं, यह निसंदेह है। बहुरि मैं कैसा हूँ? जैसा निर्मल दर्पण होय। वाका निर्मल शक्ति स्वयमेव ही घट-पटादि पदार्थ आन झलके है। तैसे ही मै एक स्वच्छ सक्ति प्रगट हों। मेरा निर्मल ज्ञानमय समस्त ज्ञेय पदार्थ स्वयमेव झलके है। ऐसी स्वच्छ सक्ति सू तादात्म्य व्याप्ति कर स्वभाव में तिष्ठूं हूं–सर्वांग स्वच्छता भर रहो है अरु ज्ञेय पदार्थ न्यारा

---

१. समयप्राभृत, गा. १४३ की टीका।
तथा— व्यावहारिकसम्यक्त्वं सरागं सविकल्पकम्।
निश्चयं वीतरागं तु सम्यक्त्वं निर्विकल्पकम्॥ पंचाध्यायी, २,८२२

२. जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं।
अपदेससंतमज्झं पस्सदि जिणसासणं सव्वं॥ समयसार, गा. १५

है। सो तुच्छता का यह स्वभाव ही है। जो सर्व तें न्यारा रहे, उस विषें सकल पदार्थ प्रतिबिम्बित हैं। बहुरि कैसा हूँ मैं? अत्यन्त अतिसय कर निर्मल साक्षात प्रगट ज्ञान का पुंज हूं अरु अत्यन्त शांति रस कर पूर्ण भरया हूँ। अरु भेद निराकुल कर व्याप्त हूँ। बहुरि कैसा हूँ मै? चैतन्य स्वरूप अपनी अनंत महिमा कर विराजमान हूँ, कोई का सहाय नाही चाहूँ हूँ। ऐसा स्वभावने धरूँ हूँ, स्वयंभू हूं, अखण्ड ज्ञानमूरत पर द्रव्य सूँ भिन्न सास्वता अविनासी परमदेव हूँ। और ई उपरान्त उत्कृष्ट देव कौनकूँ मानिये। जो त्रिलोक त्रिकाल विषें होय तो मानिये। बहुरि कैसा है यह ज्ञानस्वरूप? अपने स्वभावकूँ छोड अन्य रूप नाहीं परनवे है। निज स्वभाव की मर्यादा नाहीं तजे है। जैसे समुद्र जल के समूह कर पूर्ण भरया है, पन स्वभावकूँ छोड़ और ठौर गमन करे नाही। अपनी तरंगावली जो लहर ता कर अपने स्वभाव ही मे भ्रमन करे है, त्यों ही यह ज्ञान समुद्र सुद्ध परनत तरंगावली सहित अपने सहज स्वभाव मे भ्रमन करे है। ऐसा अभूत महिमा कर विराजमान मेरा स्वरूप परमदेव ई शरीर सूँ न्यारा अनादिकाल का तिष्ठे है[1]।" इस प्रकार की महिमा आए बिना अपने ज्ञान स्वरूप का लक्ष्य नही बनता, अहंकार, मोह-ममकार नही छूटता और शुद्धोपयोग भी नही होता। अतएव ज्ञाता द्रव्य आत्मा भगवान है—यह लक्ष्य में लेकर ज्ञान स्वभाव का निर्णय करना होता है। ऐसा निर्णय करने से क्या होता है? वास्तव मे "ज्ञान को अन्तरोन्मुख करके जिसने ज्ञानस्वभाव का निर्णय किया वह क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता हुआ, उसके ज्ञान मे सर्वज्ञ की सिद्धि आई, उसे भेदज्ञान और सम्यग्दर्शन हुआ, उसे मोक्षमार्ग का पुरुषार्थ प्रारम्भ हुआ, उसे अकर्तृत्व हुआ, उसने सर्व जैनशासन को जान लिया उसने देव-गुरु-शास्त्र को यथार्थ रूप से पहचान लिया, उसके निश्चय-व्यवहार दोनों एक साथ आए, उसकी पर्याय में पांचों समवाय आ गए। योग्यता ही वास्तविक कारण है—उसका इसे निर्णय हुआ, इसलिये इष्ट उपदेश भी उसमें आ गया[2]।" योग्यता का यह अर्थ नही है कि वह तीन लोकों को सिर के ऊपर उठा सकता है, वल्कि अपने स्वभाव को क्रम से जान सकता है, अपने ज्ञान स्वभाव मे स्थिर हो सकता है। शक्ति को-

१. ज्ञानानन्द श्रावकाचार, पृ २३१ से उद्धृत।

२. ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव, द्वितीय आवृत्ति, पृ. ४८ से उद्धृत।

अभिव्यक्त करने की योग्यता के कारण ही कोई योग्य कहा जाता है। किन्तु उस प्रकार का पुरुषार्थ करे, तब न? जिनशासन में पुरुषार्थ का ही महत्त्व है; पुरुष विशेष का नहीं।

यह सत्य है कि द्रव्य को जानने के लिए गुण और पर्यायों को भी जानना होता है। किन्तु सम्यग्दृष्टि पर्याय को कैसे जानता है? नियत रूप से। पर्याय क्रमवर्ती कही गई हैं और गुण सहवर्ती[1]। द्रव्य की अनेक रूप परिणति क्रम से ही होती है। एक ही द्रव्य में विभिन्न पर्यायें क्रम से होती हैं; जैसे—आत्मा में हर्ष, विषाद, उत्साह आदि। वस्तु में जितनी शक्ति है, वह वस्तु से ही प्रकट होती है। वस्तु की शक्ति के व्यक्त होने में स्वभाव पर्याय निमित्त है। स्वभाव पर्याय से वस्तु-स्वभाव में परिणमन होता रहता है[2]। जन सामान्य को समझाने के लिए गुण और पर्याय भिन्न हैं। वास्तव में द्रव्य, गुण और पर्याय की एकता है। द्रव्य और पर्याय को एक ही कहा गया है[3]। स्वामी कार्तिकेय का कथन स्पष्ट है कि परमार्थ से द्रव्य, गुण और पर्यायों का एकत्व ही वस्तु है[4]। गुणों के विकार का नाम पर्याय है। वस्तुत: द्रव्य, गुण और पर्याय भिन्न-भिन्न नहीं है। वस्तु तो अनादि अखण्ड पिण्ड है। उसमें गुणों के सिवाय अन्य कुछ भी नहीं है। ये गुण किसी भी दशा में वस्तु से अलग नहीं किए जा सकते। अत: गुणों के समूह का नाम द्रव्य है। वस्तुत: गुण वस्तु की शक्ति हैं और पर्याय उसकी ही अवस्था है। वस्तु में स्वाभाविक शक्ति होने के कारण ही प्रत्येक समय में उसकी अवस्थाओं में परिणमन होता रहता है। ऐसी एक भी पर्याय नहीं है जो द्रव्य रूप से वस्तु में निहित न हो, किन्तु अन्य कहीं से उत्पन्न हो जाए; और ऐसी भी कोई पर्याय नहीं है, जिसका व्यय होने पर द्रव्य रूप से वस्तु में उसका अस्तित्व

---

१ तं परियाणहि दव्वु तुहुं जं गुण-पज्जय-जुत्तु।
महभुव जाणहि ताहं गुण कम-भुव पज्जउ वुत्तु।। परमात्मप्रकाश, १,५७

२. "पुस: परिणामसिद्धिप्रसंगात्, परिणामविवर्तधर्मावस्थाविकाराणां स्वभावपर्यायत्वात्।"—अष्टसहस्री, पृ. १७९

३. द्रव्यपर्याययोरैक्यं तयोरव्यतिरेकत:।
परिणामविशेषाच्च शक्तिमच्छक्तिभावत:।। अष्टसहस्री, कारिका ७१

४. सो वि विणस्सदि जायदि विसेसरूवेण सव्वदव्वेसु।
दव्वगुणपज्जयाणं एयत्तं वत्थु परमत्थं।। कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गा. २४२

ही न हो[1]। आचार्यों के इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक उपादान अपनी स्वतन्त्र योग्यता से निष्पन्न है और उसके अनुसार प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति होती है; क्योंकि विभिन्न कारणों को जुटा लेने पर भी कई बार कार्य की उत्पत्ति नही देखी जाती है। उस समय कार्य का नियामक कौन होता है? वास्तव मे उपादान ही समर्थ कारण है। यह कहना ठीक नही है कि जिसके जैसे कर्म का उदय, उपशम, क्षयोपशम या क्षय होता है, कार्य उसी के अनुसार होता है। यदि ऐसा हो, तो यह फिर क्यों मानते हैं कि वह उपादान पर निर्भर करता है। फिर, जीवों के कर्मो के उदय, संक्रमण आदि म अन्तर क्यों रहता है? सब को एक जैसे कर्मो का समान फल क्यों नही मिलता? क्या इससे यह सिद्ध नही होता कि प्रत्येक द्रव्य का प्रत्येक समय मे जो परिणमन होता है, वह अपने-अपने उपादान के अनुसार होकर भी स्वय ही होता है। हाँ, इतना अवश्य होता है कि जब प्रत्येक उपादान अपने-अपने कार्य के सन्मुख होता है, तब व्यवहार से उसके अनुकूल बाह्य सामग्री स्वभावत या प्रयोग से मिलती है। इनका ऐसा ही योग है। अतएव उपादान कारण ही कार्य का नियामक है। यह निश्चित है कि वस्तु का अपना-अपना परिणमन अपनी उपादान योग्यता के अनुसार होता है। वस्तु के कार्य मे अन्य अनेक बाधक और साधक कारण कहे जा सकते हैं, किन्तु वस्तु में जो भी परिणमन होता है, वह वस्तु की अपनी योग्यता से ही होता है। उसे ही वस्तु की क्रिया या कार्य भी कहते हे। यह पहले ही कहा जा चुका है कि ससार के सब जीवो म मुक्त होने की योग्यता है। सभी प्रकार की बाहरी सामग्री अनन्त बार जीव को मिल चुकी है। यहा तक कि जिनेन्द्र भगवान के समवसरण में भी यह जीव हो आया है। फिर भी, इसे सम्यक्त्व की प्राप्ति नही हुई। इसका कारण यही है कि जिसका जिस काल मे जैसा उपादान होता है, वैसा ही कार्य होता है। कार्य-कारण भाव के प्रकरण मे उपादान तीन प्रकार का कहा जाता है—द्रव्य-उपादान, गुण-उपादान और पर्याय-उपादान। बाहरी कारण तो निमित्त मात्र होते है। उनमे कार्य की उत्पत्ति नही हो सकती है। वे तो सहायक मात्र होते है। प्रत्येक वस्तु का कार्य अपने में ही होता है और एक-दूसरे से भिन्न होता है।

---

१. जैनतत्त्वमीमासा, प्रथम संस्करण पृ १६४

क्रमनियमित या क्रमनियत पर्याय

लोक में प्रत्येक वस्तु अपने उपादान में नियत है। वस्तु की नियतता के कारण ही समस्त परिवर्तनों में एक निश्चित व्यवस्था लक्षित होती है। वास्तव में परिवर्तनशील विश्व में कोई परिणमन कराने वाली अलग से शक्ति नहीं है। प्रत्येक द्रव्य अपनी परिणमन शक्ति से ही संचालित हो रहा है। इन द्रव्यों के नियन्ता भी वे स्वयं हैं। विभिन्न संयोगमूलक अवस्थाओं में भी संयोगी द्रव्य अपना-अपना परिणमन करने में संलीन रहते हैं। वस्तु में होने वाला परिणमन अपने निश्चित एवं नियत क्रम में होता है। पक्षी अपने नियत समय पर ही कूजन करते हैं, सूर्य निश्चित समय पर ही उदित-अस्त होता है, दिन-रात निश्चित समय पर ही प्रकाश-अन्धकार लेकर प्रकट होते हैं, ऋतुएं निश्चित काल में ही वसन्त का उल्लास, पतझड़ का वैराग्य, पावस की उमंग आदि प्रकट करती है, तो यह सब क्या है? उपादान के अनुसार कार्य होने पर भी इन सब में एक निश्चित क्रम है, जिसे शास्त्रीय भाषा में "क्रमनियमित" या क्रमनियतपर्याय कहते हैं।

यद्यपि दिगम्बर जैन साहित्य में "क्रमबद्धपर्याय" शब्द का कहीं उल्लेख नहीं मिलता है, किन्तु क्रमभावी पर्याय का वर्णन सर्वत्र है। इसके अतिरिक्त पर्याय की नियतता का भी विवेचन उपलब्ध होता है। पर्याय नियत है, इसका क्या अर्थ है? जो निश्चित है, नियत है, उसी क्रम में प्रकट होने वाली है। जो पर्याय क्रम से होने वाली है, वह किसी क्रम में नियत है, क्रम से सम्बद्ध है। पर्याय क्रमनियत होने पर भी पूर्व निश्चित तथा व्यवस्थित होती है। क्योंकि प्रत्येक द्रव्य की परिणमन-व्यवस्था व्यवस्थित तथा स्वाधीन है। वास्तव में द्रव्य की परिणमन-व्यवस्था क्या है? यही कि प्रत्येक कार्य अपने द्रव्य में, अपने प्रदेश में, अपने काल में और अपने भाव मे होता है, इसलिये प्रत्येक द्रव्य की पर्यायें क्रमनियमित हे।

प्रश्न यह है कि क्या क्रमवर्ती पर्याय में और क्रमबद्ध पर्याय में किसी प्रकार का अन्तर किया जा सकता है? इसका उत्तर यह है कि क्रमभावी में एक के पश्चात् एक पर्याय क्रम से होती है, किन्तु उसकी क्रम से होने वाली संख्या नियत नहीं होती; किसी भी संख्या की पर्याय किसी भी क्रम में पलट सकती है; परन्तु क्रमबद्धता में नियत संख्या की पर्याय अपनी नियत संख्या के क्रम में ही परिणमन करती है। उसमें किसी भी स्थिति में किसी भी प्रकार का अन्तर नहीं पड़ता है। अतः प्रत्येक द्रव्य की पर्याय

क्रमभावी और क्रमबद्ध दोनों है। वस्तु में पर्यायें क्रमशः उत्पन्न होती हैं–इसमें किसी प्रकार का मतभेद नहीं है। किन्तु क्रम का अर्थ क्या है? पर्यायजात प्रवाह। वस्तु में पर्यायजात की अपेक्षा क्रम की सिद्धि होती है[1]। यह नही हो सकता कि एक पर्याय के रहते हुए दूसरी पर्याय हो जाए। क्योंकि सम्पूर्ण जिनागम की यह मान्यता है कि पर्याय प्रतिसमय परिणमनशील रहती है। पर्याय के दो भेद हैं–सहभावी और क्रमभावी[2]। इनके ही अन्य नाम हैं–त्रैकालिक व क्षणिक। इनमें से क्रमभावी पर्याय द्रव्य का ही विकार है। इसलिये पर्याय द्रव्य के क्रमभावी अंश कहे जाते हैं। एक ही द्रव्य में क्रम से होने वाले परिणामों को पर्याय कहते हैं; जैसे कि–एक ही आत्मा में हर्ष-विषाद आदि की भांति[3]। प्रत्येक वस्तु में पर्याय द्रव्य से ही उत्पन्न होती है। भले ही अज्ञानी जीवों को यह आभास होता हो कि पर्याय क्रम और अक्रम दोनों रूपों में उत्पन्न होती है; किन्तु परमार्थ में सर्वज्ञ की दृष्टि से प्रत्येक पर्याय निश्चित क्रम में ही उत्पन्न होती है। यहाँ तक कि सर्वज्ञ के ज्ञान की पर्याय भी नियत क्रम से होती है। उनके शुद्धात्मद्रव्य से उत्पन्न होने वाली वर्तमान पर्यायें भी नियत क्रम में उत्पन्न होती रहती है। क्योंकि जो पदार्थ है वह सत् है और जो सत् है वह नाश को प्राप्त नहीं होता और जो नाश को प्राप्त नही होता, वह नियत है। इस प्रकार की वस्तु-व्यवस्था निश्चय से होती है; अतः पर्याय क्रमभावी तो हो सकती है पर; क्रमबद्ध नहीं[4]? दि कोई यह प्रश्न करे कि क्रमभावी में एक पर्याय से दूसरी पर्याय काल के निमित्त से उत्पन्न होती है? उत्तर यह है कि वस्तु की प्रत्येक पर्याय के उत्पन्न होने में स्वद्रव्य की पर्याय प्रमुख कारण है परद्रव्य या पर-पर्याय कारण नही है। क्योंकि एक पर्याय से दूसरी पर्याय उत्पन्न नही हो सकती। फिर, पर्याय का षट्कारक पर्याय में है। पर–द्रव्य के निमित्त से जो पर्याय उत्पन्न होती है, उसे विभाव पर्याय या स्व-परसापेक्ष कहते है; किन्तु जिस मे पर–द्रव्य निमित्त नही होता है, उसे स्वभाव शुद्ध या स्वसापेक्ष पर्याय कहते है।

---

१. पंचाध्यायी, अ. १, श्लोक १७४
२. "यः पर्याय स द्विविधः क्रमभावी सहभावी चेति।" –श्लोकवार्तिक, ४,१
३. 'एकस्मिन् द्रव्ये क्रमभाविनः परिणामाः पर्याया आत्मनि हर्षविषादादिवत्।" –परीक्षामुख, ४,८
४. समयसारकलश, श्लोक १५७

ससारी जीवों का स्वभाव कर्म-सापेक्ष होने से विभावभाव कहा गया है[1]। इससे स्पष्ट है कि विभाव पर्याय के उत्पन्न होने में पर-द्रव्य निमित्त हैं, इसलिये घड़े के उत्पन्न होने की भांति कालादि पर निमित्तों को पर्याय का जनक मानना उचित नहीं है। इससे यह भी स्पष्ट है कि आचार्यों ने पदार्थ-व्यवस्था में जिन स्व-पर प्रत्ययों का उल्लेख किया है, उनमें किसी प्रकार का विरोध नहीं आता है; क्योंकि उनमें निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध माना गया है।

अब यदि कोई प्रश्न यह करे कि निष्पन्न पर्यायों को तो हम क्रमभावी मानते ही हैं, पर जो भविष्य में उत्पन्न होंगी, उन्हें क्रमनियमित कैसे मानें? क्योंकि ऐसा मानने पर ऐसा मानना होगा कि जो-जो पर्याय सर्वज्ञदेव ने देखी है, उसके अनुसार ही हमारा भविष्य होगा? तो इसका समाधान यह है कि सर्वज्ञ के अनुसार द्रव्य तथा गुणों की पर्यायों में सक्रमण नहीं होता; किन्तु द्रव्य में और उसकी पर्यायों में जब जैसा परिणमन होने वाला है, वैसा ही त्रिकालज्ञ सर्वज्ञ के ज्ञान में प्रतिबिम्बित होता है। आपके कहने से यह माना जाए कि सर्वज्ञ त्रिकालज्ञ नहीं होता? यदि त्रिकालज्ञ होता है, तो क्या भूतकाल की पर्यायों को ही जानता है, वर्तमान और भविष्य की पर्यायों को नही जानता? यदि वर्तमान पर्यायों को भी भलीभांति जानता है, तो भविष्य की भी जानता है। क्योंकि प्रत्येक समय के अनन्तर भविष्य की पर्याय प्रवहमान होती चली आ रही है। इसी प्रकार यदि भविष्य का ज्ञान न माने, तो भविष्य की पर्याय भी निश्चित नहीं हो सकती। फिर, वर्तमान भी निश्चित नहा हो सकता। आचार्य कुन्दकुन्द का कथन है कि यदि सर्वज्ञ के ज्ञान में भविष्यत् तथा भूतकाल की पर्यायें प्रत्यक्ष न हो, तो उनके ज्ञान को दिव्य कौन कहेगा[2]? अनन्त महिमावान केवलज्ञान की यह दिव्यता है कि वह अनन्त द्रव्यों की तीनों कालों की सम्पूर्ण पर्यायों को युगपत् एक ही समय में प्रत्यक्ष जानता है। इसे हम ऐसा भी कह सकते हैं कि केवलज्ञानी क्रमनियत प्रवाह को सतत जानते हैं।

---

१. दव्वगुणाण सहावं पज्जायं तह विहावदो णेयं।
जीवे जे वि सहावा ते वि विहावा हु कम्मकदा ।। नयचक्र, गा. १९

२. जदि पच्चक्खमजायं पज्जायं पलयिदं च णाणस्स।
ण हवदि वा तं णाणं दिव्वं ति हि के परूवेंति ।। प्रवचनसार, गा. ३९

जिस प्रकार केवली भगवन्तों का तीनों कालों की समस्त पर्यायों का जानना निश्चित है, उसी प्रकार लोक में जो कुछ होना है वह निश्चित ही है। आचार्य रविषेण कहते हैं–जिसे जहाँ जिस तरह जो वस्तु पहले से ही मिलने योग्य होती है, उसे वहाँ उसी तरह उसी कारण से वही वस्तु अवश्य प्राप्त होती है[1]। इसमें कोई सन्देह नहीं किया जा सकता है कि ज्ञानी जानता है, देखता भी है, उसके अनुभव में भी ऐसा ही आता है कि वह जैसा जान रहा है, वैसे ही लोक में घटित होता हुआ भी देख रहा है। किन्तु वह उस समय कुछ कर नहीं सकता? वस्तु की व्यवस्था में कोई दखल नहीं दे सकता। व्यवहार से यह जीव अपने भाव कर सकता है। परमार्थ में तो अपने परिणामों में भी वह फेर-बदल नहीं कर सकता; यहाँ तक कि भाव भी नहीं कर सकता। फिर, अन्य पदार्थों की नियतता में वह कर्ता कैसे बन सकता है? यद्यपि व्यवहार से प्रत्येक प्राणी अपने भाव करने के लिए स्वतन्त्र है; अन्य जीव के भाव कराने में वह स्वतन्त्र नहीं है। ज्ञानी वस्तु की स्वाधीन परिणति से भलीभाँति परिचित होता है। इसलिये वह यही विचारता है कि जिस समय में जिसकी जो होनी है, वह होकर रहेगी, उसे कौन टाल सकता है? प. जयचन्द्रजी के शब्दों में : "सम्यग्दृष्टि के ऐसा विचार होय है–जो वस्तु का स्वरूप सर्वज्ञ ने जैसा जान्या है, तैसा निरन्तर परिणमै है, सो होय है। इष्ट-अनिष्ट मान दुखी-सुखी होना निष्फल है। ऐसे विचार तै दुख मिटै है, यह प्रत्यक्ष अनुभवगोचर है[2]।"

कोई यह कहे कि फिर पुरुषार्थ क्या रह जाएगा? वास्तव में सच्चा पुरुषार्थ सहजता है। प्रत्येक पर्याय का परिणमन सहज हो रहा है। क्योंकि जब सब वस्तुएँ अपने-अपने कार्य में सलग्न है, तो हमें भी अपने काम में लगना चाहिए, यह भाव जाग्रत होता है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते है–जो वस्तु जिस द्रव्य तथा गुण में वर्तती है, वह उसे छोड़कर अन्य द्रव्यों तथा गुणों में कदापि संक्रमण नहीं करती[3]। तब फिर, यह कहना क्या अर्थ रखता है कि अमुक

---

१. प्रागेव यदवाप्तव्यं येन यत्र यथा यतः।
तत्परिप्राप्यतेऽवश्यं तेन तत्र तथा ततः ॥ पद्मपुराण, ११०,४०

२. मोक्षपाहुड, गा ८६ की वचनिका

३. जो जम्हि गुणो दव्वे सो अण्णम्हि दु ण संकमदि दव्वे।
सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दव्वं ॥ समयसार, गा. १०३

वस्तु उसके गुणों को अपना जैसा बना लेती है? यह तो सिद्धान्त है कि कोई भी वस्तु अपने गुण को नहीं छोड़ती और न दूसरों को अपना जैसा बना सकती है। हाँ, अपनी योग्यता से कोई भी वस्तु विकारी परिणमन कर सकती है; किन्तु यह तो नियत ही है कि चेतन न तो अचेतन बन सकता है और न पुद्गल किसी भी स्थिति में चेतन हो सकता है। क्योंकि पुद्गल द्रव्य का अपने गुणों के साथ तादात्म्य सम्बन्ध है; जीव के साथ नहीं। जीव में वर्णादिक भाव क्रम से प्रकट होते हैं और क्रम से ही छिपते हैं। आचार्य अमृतचन्द्रदेव द्वारा प्रयुक्त 'क्रमेण' शब्द यहाँ पर क्रमनियतता का द्योतन करता है[1]। क्योंकि यहाँ पर यह कहा गया है कि जिस प्रकार वर्णादिक भाव क्रम से प्रकट होते हैं और क्रमशः छिपते हैं—व्यक्ति की स्थिति में क्रम से प्रकट होना और व्यय होना—किसी नियत अवस्था में ही ये क्रियाएँ सम्भव हो सकती है। यदि उनमें क्रमशः परिणमन न हो, तो पर्याय क्रमभावी नहीं हो सकती। इतना निश्चित हो जाने पर यह भी निश्चित है कि पर्याय का प्रकट होना और व्यय होना क्या है? प्रत्येक समय में वस्तु में पूर्व पर्याय का नाश होता है और अन्य पर्याय की उत्पत्ति होती है। वस्तुतः पूर्व पर्यायाविशिष्ट द्रव्य ही उत्तर पर्याय को जन्म देता है। इसीलिए कहा गया है—पूर्व परिणाम से युक्त द्रव्य नियम से कारण रूप होता है। वही द्रव्य जब उत्तर परिणाम से युक्त होता है, तब नियम से कार्य रूप होता है[2]। यह कथन भी उपचार से है। यथार्थ में द्रव्य की उस स्थिति में तत्समय की योग्यता ही निश्चय कारण है। यहाँ पर 'नियमात्-णियमा' शब्द से क्रमनियत पर्याय का ही संकेत किया गया है। क्योंकि जैनदर्शन बौद्धधर्म की भाँति प्रत्येक समय में पर्याय के साथ द्रव्य का विनाश नहीं मानता है। अतः बौद्धोंका खण्डन करने के लिए इस प्रकार से युक्तियुक्त कथन किए गए हैं—नियम से, क्रम से कारण ही कार्य को जन्म

---

१. "यथा वर्णादयो भावाः क्रमेण भाविताविर्भावितिरोभावाभिस्ताभिर्व्यक्तिभिः पुद्गलद्रव्यमनुगच्छन्तः पुद्गलस्य वर्णादितादात्म्यं प्रथयन्ति, तथा वर्णादयो भावाः क्रमेण भाविताविर्भावितिरोभावाभिस्ताभिर्व्यक्तिभिर्जीवमनुगच्छन्तो जीवस्य वर्णादितादात्म्यं प्रथयन्ति—" समयसार, गा. ६२ की आत्मख्याति टीका ।

२. पुव्व-परिणाम-जुत्तं कारण-भावेण वट्टदे दव्वं ।
उत्तर-परिणाम-जुदं तं चिय कज्जं हवे णियमा ।। कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गा २३०

देता है, वह स्वय अपनी पर्याय को उत्पन्न करता है; किन्तु अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में स्थित होकर ही जीव अपनी पर्याय को उत्पन्न करता है। प्रत्येक वस्तु में अनन्त पर्यायें हो चुकी है, है और होंगी। उन सब का आविर्भाव क्रम से होता है।

संसार में बहुत से लोग रागी देवता की पूजा करते है और बहुत से वीतरागी देव की। यदि कोई विषय-भोगों की दृष्टि मे सांसारिक सुख की प्राप्ति के लिए पूजा-उपासना करता है; तो भले ही क्यों न, वह वीतरागी देव की पूजा करता हो, वह विपरीत श्रद्धानी ही है। क्योंकि कोई देवी, देवता न हमारा कुछ बिगाड़ सकते है और न भला कर सकते है, न हमारा कुछ छीन सकते है और न हमें कुछ दे सकते है। क्योंकि यह निश्चित है कि जिस जीव के जिस देश में, जिस काल में, जिस विधान (विधि या निमित्तों के संयोग आदि) से जो जन्म व मरण केवलज्ञानी सर्वज्ञ ने निश्चित रूप से जाना है, उस जीव के उसी देश मे, उसी काल में, उसी विधान से वह अवश्य होता है। जिनेन्द्रदेव अथवा इन्द्र भी उसे टालने में समर्थ नहीं है[1]। यहा यह ध्यान मे रखना चाहिए कि 'नियत' का अर्थ नियतिवाद नहीं है। "कुछ लोग इसे नियतिवाद समझकर उसके भय से प्रत्येक पर्याय का द्रव्य, क्षेत्र और भाव तो नियत मानते है; किन्तु काल को नियत नहीं मानते।[2]" इसमे कोई दो मत नही हो सकते कि यदि काल को नियत नहीं माना जाए, तो फिर काललब्धि का कोई अस्तित्व ही नहीं रहेगा। अब रही पुरुषार्थ की बात, सो समय पर काम का हो जाना ही पुरुषार्थ की सार्थकता है। यदि किसान समय पर गेहूँ बोता है और मेहनत से खेती करता है, तो समय पर गेहूँ पककर तैयार हो जाता है। इसमें मेहनत बेकार कहाँ गई? हाँ, कोई समय से पहले ही पके गेहूँ के लिए बेचैन हो जाए, तो किसी का क्या दोष? गेहूँ तो समय पर ही पकेंगे। पाल लगा कर भी कच्चे आम पकाना चाहेंगे, तो वे भी अपने नियत समय पर ही पकेंगे। क्योंकि कहा है—समय से

---

१. जं जस्स जम्मि देसे जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि।
णादं जिणेण णियदं जम्मं वा अहव मरणं वा॥ स्वामिकार्ति., गा. ३२१
तं तस्स तम्मि देसे तेण विहाणेण तम्मि कालम्मि।
को सक्कदि वारेदु इंदो वा तह जिणिंदो वा॥ वही, गा. ३२२

२. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, पृ. २२८ से उद्धृत।

पहले नहीं, भाग्य से अधिक नहीं। इसका अभिप्राय इतना ही है कि जिस द्रव्य की जो पर्याय होनहार है, वह होकर रहेगी। ऐसा समझकर ज्ञानी लोग सम्पदा मिलने पर हर्ष के मारे फूलते नहीं हैं और विपदा आने पर रंज-गम के सागर में डूब नहीं जाते। क्योंकि वस्तु का परिणमन जैसा हो रहा है, होने वाला है, वैसा ही होगा। हम उसमें हर्ष-विषाद या अहंकार का भाव कर व्यर्थ में अपने आप को कर्ता क्यों मानें? जो यह कहते हैं: "यदि हिंसा करते हैं तो नियत हैं, व्यभिचार करते हैं तो नियत है, चोरी करते है तो नियत है, पाप-चिन्ता करते है तो नियत है, तब हमारा पुरुषार्थ क्या होगा? कोई भी क्षण इस नियतिभूत की मौजूदगी से रहित नहीं है, जब हम साँस लेकर कुछ अपना भविष्य निर्माण कर सकें[1]।" यह समझना ठीक नही है कि इससे हमारा पुरुषार्थ नहीं बन सकेगा। पुरुषार्थ करने के लिए ही तो इससे प्रेरणा मिलती है। यथार्थ में पर्याय की नियतता को मान लेना ही पुरुषार्थ है। आज तक हमने यह माना नही कि इस काल में इस पर्याय का होना निश्चित ही था। इसलिए हम कर्तापने की बुद्धि लेकर पर्याय को पलटने का दु.साहस करते रहे। किन्तु इस प्रकार के उद्यम से हमारा पुरुषार्थ सदा उपेक्षित होता रहा। स्वयं तीर्थंकर वृषभदेव एक लाख पूर्व तक केवल ज्ञान में बैठे रहे, तो क्या यह मानें कि उनको पुरुषार्थ करना आता नहीं था? इसी प्रकार तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ के समय से भगवान सीमन्धर अभी तक केवलज्ञान अवस्था में स्थित हैं। सात तीर्थंकरो के पश्चात् ही उनको निर्वाण होगा। अत: शुभ-अशुभ भावो का उत्पन्न होना पुरुषार्थ नहीं है। सच मे उन सब से उपेक्षित हो जाना पुरुषार्थ का सूत्र है। अपने स्वभाव की ओर लौटने पर ही सच्चा पुरुषार्थ होता है। अतएव क्रमनियमितपर्याय मानने पर पुरुषार्थ का निषेध न होकर वास्तविक पुरुषार्थ का मार्ग प्रशस्त होता है[2]।

यद्यपि परमार्थ की दृष्टि मे यह सत्य है कि प्राणी जो कुछ करता है, वह नियत व निश्चित है। यदि हम पाप कर रहे हैं तो नियत है तथा पुण्य कर रहे हैं तो नियत है। इसी प्रकार आत्मानुभव कर रहे हैं तो नियत है और वीतराग परिणति में है तो नियत है। कोई भी समय ऐसा नही है जो वस्तु-

---

१. प्रो. महेन्द्रकुमार जैन, न्यायाचार्य : तत्वार्थवृत्ति की प्रस्तावना, पृ. ४९-५०

२. कहा होत व्याकुल भये, व्याकुल विकल कहात।
कोटि जतन तें न मिटे, जो होनी जा स्यात ।।—बुधजन सतसई, दोहा ४०७

व्यवस्था की नियमितता तथा नियतता से रहित हो। छद्मस्थों की व्यवहार-दृष्टि में नियति का यह रहस्य प्रतिविम्बित नहीं होता। किन्तु है अवश्य; इसे स्वीकार ही करना पड़ता है। क्योंकि इस मान्यता से ही केवलज्ञान की सच्ची स्वीकृति का परिचय मिलता है।

यह भी सच है कि व्यवहारनय की दृष्टि में नियति नही है। व्यवहारनय से तो अनियतवाद ही ठीक कहा जाएगा। क्योंकि स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव की शुद्धता का प्रतिपादन व्यवहारनय का विषय नही है। व्यवहार की दृष्टि सदा नाम-स्थापनादि निक्षेप के सन्मुख हो कर नाम से, स्थापना से, द्रव्य से एवं भाव से संज्ञा, संख्या, लक्षण व प्रयोजन से कथन करती है। इसीलिये व्यवहार की दृष्टि में नियतिवाद नही बन सकता है। किन्तु निश्चय-नय मे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव सभी नियत है। अत: निश्चयनय में नियतिवाद को जैनदर्शन स्वीकार करता है। परन्तु एकान्त रूप से नियतिवाद को मान्यता नही दी गई है। जैन दर्शन सम्यक् नियति को स्वीकार करता है; मिथ्या नियति नहो मानता। नियतिवाद का प्रतिपक्षी अनियतवाद है। अनेकान्तवादी मान्यता मे सत्प्रतिपक्ष का होना अत्यन्त आवश्यक है। क्योकि एक के अभाव मे दूसरे की स्थिति नहो बन सकती। काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत कर्म तथा पुरुषार्थ इन पांच समवाय कारणों में से किसी एक से कार्य की उत्पत्ति मानना एकान्त है, मिथ्यात्व है; किन्तु पाँचों के समवाय से कार्य की सिद्धि मानना सम्यक् है, अनेकान्त है[1]।

यह भी कहना ठीक नही है कि जो नियम, व्रत, सयम, तपश्चरणादि रूप पुरुषार्थ से बचना चाहते है, वे क्रमबद्धता की प्रतीक्षा करते हुए मुक्ति प्राप्त करना चाहते है। यह सत्य है कि मुक्ति की प्राप्ति पुरुषार्थ से ही होगी। कोई इसका निषेध नहो कर सकता। किन्तु किसी भी अल्पज्ञ को अपनी भावी नियति का पता नही होता। कौन जानता है कि किस समय क्या होने वाला है? पर्याय की क्रमनियतता का विवेचन तो इसलिये किया गया है कि कर्मफल तथा कर्मचेतना का स्वरूप समझ कर हम उनसे हट कर ज्ञान-चेतना को प्राप्त करें। क्योकि वस्तु में एक समय में जिस विशिष्ट पर्याय होने की योग्यता है, वह दूसरे समय में नहीं रहती है। दूसरे समय में अन्य पर्याय की परिणमन योग्यता है। इस प्रकार उपादान में त्रिकाली ध्रुव शक्ति है। पर्यायो के व्यक्त होने पर हमें उस शक्ति का ही परिचय मिलता है। इसलिये पर्यायों का सम-

---

१. सन्मति सूत्र, ३,५३ तथा पद्मपुराण ३१,२१३

आना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है। "यद्यपि पर्याय क्रमबद्ध होती है, किन्तु वह बिना पुरुषार्थ के नहीं होती। जिस ओर का पुरुषार्थ करता है, उस ओर की क्रमबद्ध पर्याय होती है। यदि कोई कहे कि इस में नियत आ गया, तो उसके उत्तर में कहते हैं कि हे भाई! त्रिकाल की नियत पर्याय का निर्णय करने वाला कौन? जो त्रिकाल की पर्यायों को निश्चित करता है, वह मानो द्रव्य को ही निश्चित करता है। जो पर के लक्ष से निज का नियत मानता है, वह एकान्तवादी, बातूनी है और अपने स्वभाव के लक्ष से स्वयं स्वभाव में मिलकर स्वभाव की एकता करके, राग को दूर करके ज्ञायक हो गया है—उसके अपने स्वभाव के पुरुषार्थ में नियत समाविष्ट हो जाता है। जहाँ स्वभाव का पुरुषार्थ है, वहाँ नियम से मोक्ष है अर्थात् पुरुषार्थ में ही नियत आ जाता है। जहाँ पुरुषार्थ नही, वहाँ मोक्ष पर्याय भी नियत नही है[1]?"

एक बात और है कि नियतिवादी कारण-कार्य भाव को नहीं मानते हैं। किन्तु नियतता या क्रमनियमितपर्याय में कारण-कार्य भाव को भलीभांति स्वीकार किया गया है। आचार्य अमृतचन्द्र स्पष्ट शब्दों मे कहते हैं: सब जीवों के जन्म-मरण, सुख-दु ख अपने-अपने कर्मों के उदय के अनुसार उदय में आना निश्चित हे। यह कहना ठीक नहीं है कि कोई किसी को जन्म देता है, मारता है, सुखी-दुखी करता है। ऐसा मानना अज्ञान है[2]; यदि ऐसा न माना जाए, तो कर्म-सिद्धान्त की कोई व्यवस्था ही नहीं रह जाएगी। जो कर्म को कर्ता मानता है, वह नियतिवाद नही मान सकता है। क्योंकि नियतिवादी 'कर्म' के स्थान पर, ईश्वर के स्थान पर 'नियति' को प्रधानता देते हें। यही उनकी मुख्य मान्यता है। जैनधर्म स्पष्ट रूप से एकान्त रूप में नियतिवाद को स्वीकार नहीं करता; किन्तु भवितव्यता की नियति अवश्य मानता है[3]।

अपने अनुकूल कारण पूर्वक उपादान में विभाव पर्याय की उत्पत्ति नियत मान लेना सम्यक् नियतिवाद है। इसके विपरीत अयथार्थ कारण से द्रव्य में

---

१. वस्तुविज्ञानसार, प्रथमावृत्ति, पृ. २८-२९ से उद्धृत।

२. सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकीय—
कर्मोदयान्मरणजीवितदुःखसौख्यम्।
अज्ञानमेतदिह यत्तु पर परस्य
कुर्यात्पुमान्मरणजीवितदुःखसौख्यम्॥ समयसारकलश, श्लो. १६८

३. अलंघ्यशक्तिर्भवितव्यतेयं, हेतुद्वयाविष्कृत कार्यलिंगा।
अनीश्वरो जन्तुरहं क्रियार्तः संहत्य कार्येष्विति साध्यवादी॥
—बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र, श्लोक ३३

नियत विभाव पर्यायों का प्रकट होना मानना मिथ्या नियतिवाद है। इसी प्रकार निमित्त का अभाव करके नियत मानना मिथ्या नियतिवाद है। परन्तु निमित्तों का सम्पर्क व संयोग एवं उपादान में कार्य दोनों को नियत मानना सम्यक् नियतिवाद है। क्योंकि इसमें कार्य-कारण भाव की अपेक्षा बराबर बनी हुई है। फिर भी, यदि यह बुद्धि आ जाए, कि निमित्त अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का कुछ भी अंश उपादान को प्रदान करता है या उसके द्वारा सहायता करता है या उस पर प्रभाव डालता है, तो यह मिथ्यात्व है। क्योंकि यह मान्यता वस्तु का वस्तुत्व मिटा देती है, कर्तृत्व भाव ला देती है[1]। यथार्थ में वस्तुत्व गुण के हेतु से ही सामान्य परिणमन होने से पर्याय द्रव्य में नियत है। जब पर्याय सुनिश्चित है, तो निमित्त की उपस्थिति भी नियत है। अत: जिस प्रकार जो होना है, वह उसी प्रकार से होता है।

ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव बताने के लिए भी द्रव्य, गुण और पर्यायों की नियतता समझाई जाती है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि आत्मा ज्ञायक पदार्थ है और ज्ञान उसका स्वभाव है। ज्ञान गुण की अपनी पर्याय एक समय की है, दूसरे समय की दूसरी पर्याय है। इस प्रकार अनन्तानन्त पर्यायें इसमें उत्पन्न होती रहती हैं, विलीन होती रहती हैं, किन्तु वे सभी ज्ञानमयी होती है; ज्ञान से भिन्न नही होती। ज्ञायकपना आत्मा का स्वभाव है। वह स्व-पर को जानने वाला है, ज्ञाता-द्रष्टा है। इसके सिवाय ज्ञायक का अन्य कार्य क्या हो सकता है? इस प्रकार यह सब नियत है। अतएव यह कहना सिद्धान्त के विरुद्ध है कि कुछ पर्यायें क्रम से होती है और कुछ अक्रम से होती है अथवा अक्रम से भी होती है। ज्ञानस्वभाव का निर्णय करके कोई चारित्र से बचना चाहता है, यह बात नहीं है। क्योंकि सम्यग्दर्शन-ज्ञान पूर्वक ही चारित्र का पालन सम्यक् रूप से किया जा सकता है। अत: सम्यक्त्व होने के पश्चात् ज्ञान सम्यग्ज्ञान नियम से है और चारित्र भी सम्यक् चारित्र नियत है। सम्यग्दर्शन के बाद ज्ञान-वैराग्य का क्रम बतलाया गया है। पाँचवे गुणस्थान में यह जीव एकदेश संयम का पालन करता है और छठे गुणस्थान में सकलदेश संयम का। "क्रमबद्ध पर्याय की श्रद्धा होने पर भी सम्यक्त्वी को चौथे गुणस्थान में ऐसा भाव आता है कि मै चारित्रदशा लूँ। मुनि को ऐसा भाव आता है कि लगे हुए दोषों की गुरु के निकट जा कर सरलता पूर्वक आलोचना करूं और

---

१. अष्टसहस्री, पृ. ९२

प्रायश्चित लूं।" कर्म तो जब खिरना होगे तब खिरेंगे, इसलिये अपने को तप करने की क्या आवश्यकता है—"ऐसा विकल्प मुनि को नहीं आता। किन्तु ऐसा भाव आता है कि मै तप द्वारा निर्जरा करूं, शुद्धता वढ़ाऊ। ऐसा ही उस-उस भूमिका के क्रम का स्वरूप है। "चारित्र दशा तो क्रमबद्धपर्याय में जब आनी होगी तब आ जाएगी"—ऐसा कह कर सम्यक्त्वी कभी स्वच्छन्दी या प्रमादी नहीं होता। द्रव्य-दृष्टि के बल से उसका पुरुषार्थ चलता ही रहता है। वास्तव में द्रव्यदृष्टि वाले को ही क्रमवद्धपर्याय यथार्थ रूप से समझ में आती है। क्रम बदलता नहीं है, पुरुषार्थ की धारा टूटती नहीं है। यह बात ज्ञायक-स्वभाव की दृष्टि बिना नहीं हो सकती[१]।" अतएव स्पष्ट है कि ज्ञानी क्रम-नियतपर्याय को समझकर वीतराग चारित्र की ओर उन्मुख होता है, व्यवहार चारित्र का पालन करता है; किसी भी प्रकार से स्वच्छन्दी बनने की तो बात तो दूर रही, स्वच्छन्दी होने के भाव तक नहीं करता। जो शुभ को भी हेय समझता है, वह अशुभ को कैसे अगीकार करेगा? जो ऐसा करता है, वह वास्तव में समझता नही है।

यह निश्चित है कि कार्यरूप होने की योग्यता भी क्रमनियत है। आचार्य रविषेण का कथन है : जिस किसी को जिससे जिस समय में जिस कारण से जितना प्राप्त होने वाला है, उस को उससे उस समय में उस कारण से उतना नियम से प्राप्त होता है[२]। इसे सम्यक् नियतिवाद कहा गया है। जैनधर्म में मिथ्या नियतिवाद का निषेध किया गया है; सम्यक् नियतिवाद का नहीं। योग्यता की शरण को स्वीकार करना ही सम्यक् नियतिवाद का लक्षण है। किन्तु जो पर-शक्ति से, ईश्वर या नियति से अपना भला हुआ या बुरा हुआ मानता है, वह मिथ्या नियतिवाद है। आत्मा पर का कर्ता न बने, यह दुर्बुद्धि एवं मिथ्या मान्यता जन्म न ले, इसलिये इस सम्यक् नियतिवाद को मानना अत्यावश्यक है। वास्तव में उपादान के निज गुण की श्रद्धा का नाम नियति है, जो स्व-वस्तु-स्वभाव से भिन्न नहीं है[3]। इस में कोई सन्देह नहीं है कि

---

१. ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव, द्वितीय आवृत्ति, पृ. ४१ से उद्धृत।

२. यत्प्राप्तव्यं यदा येन यत्र यावद्यतोऽपि वा।
तत्प्राप्यते तदा तेन तत्र तावत्ततो ध्रुवम्॥ पद्मपुराण, २९, ८३

३. उपादान निज गुण महा नियति स्वलक्षण द्रव्य।
ऐसी श्रद्धा जो गहे जानो उस को भव्य॥

ऊपर जो कहा गया है, वह इस कथन से बिल्कुल समान है–"जो जब जिस रूप से जिस के जैसा होता है, वह तब उस रूप से उसके वैसे नियम से होता है, इस प्रकार जो वाद है वह नियतिवाद है[1]।" इसलिये क्रमनियमितपर्याय के रूप में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन आगम ग्रन्थों में किया गया है।

कुछ लोग यह कहते हे कि यदि क्रमनियतपर्याय मानी जाए, तो हम पूरी तरह से स्वच्छन्द नियतिवादी हो जायेंगे। क्योंकि फिर कर्मों का उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण आदि हमारे हाथ में नही रह जाएगा। किन्तु यहाँ पर यह ध्यान देने योग्य है कि सतत आत्मप्रदेशों के साथ एक समय में जितना विस्रसोपचय होता है, वह पूर्ण रूप से एक साथ कर्म रूप में परिणत नही हो जाता। इसी प्रकार बद्धकर्म की उदीरणा, उत्कर्षण और अपकर्षण में प्रति समय कुछ परमाणुओं की विवक्षित निषेक में से उदीरणा होती है, कुछ का उत्कर्षण होता है, कुछ का अपकर्षण होता है और कुछ का सक्रमण होता है। तथा उसी निषेक में कुछ परमाणु ऐसे भी होते हैं जो उपशम रूप रहते हैं, कुछ निधत्तिरूप और कुछ निकाचितरूप भी रहते है। सो क्यों ? निषेक एक है। उसमें ये सब परमाणु अवस्थित हैं। फिर, उनका प्रत्येक समय में यह विभाग कौन करता है कि इस समय तुम उदीरणा रूप होओ और तुम उत्कर्षण रूप होओ, आदि। यह बात तो स्पष्ट है कि प्रति समय इस प्रकार जो कर्मनिषेको का उदीरणा, आदि रूप से बंटवारा होता रहता है, उसमें प्रति समय के जीव के संक्लेश रूप या विशुद्धि रूप परिणाम निमित्त होते हे, इस में सन्देह नही है[2]? अतएव कर्मों के उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण आदि में कोई बाहरी पुरुषार्थ उनको कम-अधिक करने में समर्थ नहीं है। जो जब जैसा जिसका जो अन्तरंग पुरुषार्थ सर्वज्ञदेव के ज्ञान में झलका है, वैसा नियम से होगा। पं. दीपचन्द जी कासलीवाल के शब्दों में[3]– "अवरु जो जिस काल विषे जैसी जो होनी है त्यों ही जु होइ, सो भी निश्चय कहिये। अवरु जिस-जिस भाव की जैसी-जैसी रीति करि प्रवर्तना है, तिसी किसी रीति पाय परिनमै सो भी निश्चय कहिये। अवरु एक आपको

---

१. जत्तु जदा जेण जहा जस्स य णियमेण होदि तत्तु तदा।
तेण तहा तस्स हवे इदि वादो णियदिवादो दु।।गोम्मटसार, कर्मकांड, गा. ८८२

२. पं. फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री : जैनतत्त्वमीमासा, प्रथम संस्करण, पृ. १६९, १७० से उद्धृत।

३. आत्मावलोकन, प्रथम संस्करण, पृ. ३०

स्वद्रव्य को भी निश्चय नाम है।" ऐसा नहीं समझना चाहिए कि सर्वज्ञ देव अपने ज्ञान के अनुसार सब को परिणमाने वाले हैं। उनके ज्ञान के अनुसार जगत के कार्य नहीं होने वाले हैं। किन्तु जैसे जब और जिसके होने वाले हैं, वैसे ही सर्वज्ञ के ज्ञान में प्रतिबिम्बित हो चुके हैं। और जिस वस्तु की जो होनहार है, वह हो कर रहेगी। उसे कोई देवी-देवता घटा-बढ़ा नहीं सकता है, रोक नहीं सकता है। कविवर भैया भगवतीदास कहते हैं : वीतराग भगवान ने जो-जो अपने ज्ञान में देखा है, वह-वह होगा, जो नहीं देखा है; वह नहीं होगा। तू अधीर क्यों होता है? काल का एक समय भी घट-बढ़ नहीं सकता है, जो नियत है वह होकर रहेगा। इसी प्रकार सुख-दु:खादि जो नियत है, वे होंगे ही। तू संकल्प-विकल्प करके अपने मन को क्यों दुखी बना रहा है, क्यों कुढ़ रहा है? कहीं वज्र भी हीरा हो सकता है? जो जैसा है, वैसा ही रहता है[1]।

कोई यह कहे कि क्रमनियतपर्याय को जानने से क्या होता है? तो उत्तर यह है कि ऐसा न मानने पर यह नहीं कहा जा सकता कि इस संसार-समुद्र में समितिरहित काम-रोग से पीड़ित लोगों का जन्म होना नियत है[2]। इसी प्रकार यह भी नहीं कहा जा सकता कि सम्यक्त्व होने पर मुक्ति होना निश्चित है। कहने का अर्थ यह है कि किसी भी प्रकार की निश्चित व्यवस्था बिना नियतता के नहीं बन सकती है। इसलिये सम्यक् नियति को जैनधर्म में स्थान दिया गया है। क्रमनियतपर्याय की श्रद्धा होने पर यह भाव नहीं होता कि 'ऐसा क्यों हुआ'; क्योंकि फिर कुछ भी असम्भव नहीं रह जाता। यही समझ मे आता है कि ऐसा ही होनहार था। यह हमारे अनुभव की बात है कि कई बार हम करना कुछ चाहते है, वैसा ही प्रयत्न करते हैं; पर अचानक न जाने क्या होता है कि कुछ दूसरा ही करने लगते हैं। इसे होनी नहीं तो क्या कहा जाएगा? फिर, क्रमनियतपर्याय को जाने बिना सर्वज्ञ का भी निश्चय नहीं

---

१. जो जो देख्यो वीतराग ने सो सो होसी वीरा रे।
बिन देख्यो होसी नहिं क्यों ही, काहे होत अधीरा रे।।
समयो एक बढ़ै नहिं घटसी, जो सुखदुख की पीरा रे।
तू क्यों सोच करै मन कूडो, होय वज्र ज्यों हीरा रे।। ब्रह्मविलास, पद २२

२. नियतमिह जनानां जन्म जन्मार्णवेऽस्मिन्
समितिविरहितानां कामरोगातुराणाम्। नियमसारकलश, ८३

होता। क्योंकि आत्मा की सम्पूर्ण ज्ञानशक्ति में सभी वस्तुओं की तीनों काल की पर्यायें जैसी होनी होती हैं, वैसी ही ज्ञात होती हैं और जैसी ज्ञात होती हैं, उसी प्रकार होती हैं। जिसे ऐसी प्रतीति हो जाती है, उसे क्रमनियत पर्याय की और सर्वज्ञ की शक्ति की प्रतीति हो जाती है[1]।

वस्तु के प्रत्येक गुण की पर्याय प्रवाहबद्ध वर्तती है। उस में कोई समय का अन्तर नहीं पड़ता। यदि पर्याय क्रम में नियत न हों तो जीवों के सुख-दु:ख का फल भी नियत नही होगा; पूर्वकृत जो भी उदय है वह क्रमनियत ही है। ज्ञान और ज्ञेय को समझाते हुए आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं: ज्ञान रूप से स्वय परिणत हो कर स्वतन्त्रतापूर्वक ही जानता है, इसलिये जीव ही ज्ञान है—अन्य द्रव्य इस प्रकार परिणमन करने तथा जानने में समर्थ नही हैं। किन्तु ज्ञेय वर्त चुकी, वर्त रही और वर्तने वाली इन विचित्र पर्यायों की परम्परा के प्रकार से त्रिविध कालकोटि का स्पर्श कर्ता होने से अनादि अनन्त द्रव्य है। वह स्व-पर के भेद से दो प्रकार का है[2]।

जो सर्वज्ञ है, वह आत्मज्ञ है

व्यवहार नय से केवली भगवान तीनों लोकों और तीनों कालों के सब चराचर पदार्थों को द्रव्य, गुण-पर्याय सहित एक समय में जानते हैं तथा देखते हैं। किन्तु निश्चयनय से केवलज्ञानी स्वयं आत्मा को जानता, देखता है[3]। इस प्रकार निश्चय नय से आत्मा आत्मज्ञ है, मुख्य रूप से आत्मा को जानता, देखता है? कैसे जानता देखता है? द्रव्य से, गुण से और पर्याय से। आचार्य कुन्दकुन्द का यह कथन 'प्रवचनसार' की उस गाथा का समर्थन करता है, जिसमें यह बताया गया है कि जो परमार्थ से अर्हन्त को द्रव्य, गुण और पर्याय रूप से जानता है, वह वास्तव में अपनी आत्मा को जानता है और

---

१. द्रष्टव्य है : ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव, पृ. २६६

२. "यत: परिच्छेदरूपेण स्वयं विपरिणम्य स्वतन्त्र एव परिच्छिनत्ति ततो जीव एव ज्ञानमन्यद्रव्याणा तथा परिणन्तुं परिच्छेत्तु चाशक्ते.। ज्ञेयं तु वृत्तवर्तमान-वर्तिष्यमाणविचित्रपर्याय-परम्पराप्रकारेण त्रिधाकालकोटिस्पर्शित्वादनाद्यनन्तं द्रव्यं, तत्तु ज्ञेयतामापद्यमानं द्वेधात्मपरविकल्पात्।" –प्रवचनसार, गा. ३६ की तत्त्वप्रदीपिका वृत्ति।

३. जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणएण केवली भगवं।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं ।। नियमसार, गा. १५९

उसका मोह अवश्य विलीन हो जाता है[1]। द्रव्य-दृष्टि से जैसी शुद्ध आत्मा भगवन्तों की है, वैसी ही हमारी है, उनमें कोई अन्तर नहीं है। अतएव जो अपनी शुद्धात्मा के दर्शन कर लेता है, प्रत्यक्ष रूप से उसे जान लेता है, वह संसार की सब आत्माओं को सामान्यतः वैसी ही शुद्ध जान लेता है। इसलिये यह निश्चित है कि जो आत्मा त्रैकालिक प्रवाह द्रव्य को तथा उसकी पर्यायों को एवं चैतन्य गुण को अपने में ही अन्तर्गर्भित करके केवल आत्मा को जानता हुआ सभी पर-परिणति के भेद का विकल्प नष्ट कर देता है, वह मोह-ग्रन्थि का भेदन कर निष्क्रिय चिन्मात्र भाव को प्राप्त करता है। और ऐसा जीव अतीन्द्रिय सुख का सवेदन करता है। इसलिये यदि सर्वज्ञ न माना जाए, तो फिर अतीन्द्रिय ज्ञान किसे होगा ?

जो सर्वज्ञ को नही मानता है, वह जैनधर्म भी नहीं मानता है; क्योंकि जैनधर्म का अस्तित्व सर्वज्ञ के साथ सम्बद्ध है। जो दुनिया भर की बातों को, कला-विज्ञानों को जानता है, पर अपने आप को नही जानता, उसे तो अज्ञानी कहा गया है। जो स्वयं अज्ञानी है, वह दूसरों को क्या मार्ग बता सकता है, क्या हित का उपदेश दे सकता है ? वीतरागी, सर्वज्ञ और हितोपदेशी ही हमारा आदर्श है। उस आदर्श को प्राप्त करने के लिए सर्वज्ञ को मानना आवश्यक ही नही, अनिवार्य भी है। उसे माने बिना हम उसके मार्ग पर कैसे चल सकते है ? फिर, जन सामान्य से आराध्य में कोई विशेषता तो होनी चाहिए। जो हम जैसे कामी, क्रोधी, लोभी, मोही हैं, वे हमारे आदर्श कैसे हो सकते है ? जब इन्द्रियजन्य दर्शन और ज्ञान शाश्वत नहीं है, स्थायी सुख देने मे समर्थ नहीं है, तो इस सुख को प्राप्त करना हमारा लक्ष्य कैसे हो सकता है ? अतीन्द्रिय सर्वज्ञ का कथन होने से ही उसकी सिद्धि स्वतः है[2]।

केवलज्ञान का विषय सर्वद्रव्य और सर्वपर्याय है। इसलिये तीनों लोकों में पाया जाने वाला ऐसा कोई भी द्रव्य नही है, जिस सम्पूर्ण अखण्ड द्रव्य को उसके गुण-पर्यायों के साथ सर्वज्ञ एक साथ न जानते हों। कैसे जानते हैं ? क्योंकि यह केवलज्ञान का स्वभाव है कि वह व्यापक रूप से सभी ज्ञेय पदार्थों को युगपत् प्रत्यक्ष जानता है। मन एक साथ सब पदार्थों को ग्रहण नहीं कर

---

१. जो जाणदि अरहंत दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं ॥ प्रवचनसार, गा. ८०

२. असर्वज्ञकृतं तावन्न प्रमाणमतीन्द्रिये।
सकलज्ञप्रणीतं तु तस्य प्रत्युत साधकम् ॥ चन्द्रप्रभचरितम्, सर्ग २, श्लोक ६४

सकता है और क्रम से सब पदार्थों का ज्ञान हो नहीं सकता है; क्योंकि पदार्थ अनन्त हैं। सर्वज्ञ भगवान का ज्ञान इन्द्रियों तथा मन से उत्पन्न न होकर अतीन्द्रिय व आत्मिक होता है। अत: इन्द्रियों की अपेक्षा न होने से केवलज्ञान होने पर दर्शनपूर्वक क्रम की अपेक्षा नहीं रह जाती। इसी प्रकार क्रमबद्धता की भी अपेक्षा नहीं होती। इसलिये जो यह कहते हैं कि राजा श्रेणिक की तीर्थंकर बनने की पर्याय अभी प्रकट नहीं हुई, तो फिर सर्वज्ञ कैसे जानते हैं कि उनकी अमुक-अमुक पर्यायों का परिणमन होगा। यहाँ यह अच्छी तरह से समझ लेना चाहिए कि चाहे कोई पर्याय व्यक्त हो, चाहे अव्यक्त; केवली भगवान सर्वज्ञदेव के ज्ञान में वे सभी प्रकार की पर्यायें एक साथ प्रतिबिम्बित होती हैं। अतएव यह प्रश्न करना ठीक नहीं है कि असद्भूत पर्यायें उनके ज्ञान में कैसे आती हैं? वास्तव में सर्वज्ञ के केवलदर्शन और केवलज्ञान दोनों एक साथ होते हैं। । इसलिये यह कहा जाता है कि जो सर्वज्ञ है, सो नियम से आत्मज्ञ है और जो सर्वज्ञ है सो तीन काल तीन लोक के सब पदार्थों को भलीभांति जानने, देखने वाला है—इसमें कोई विरोध नहीं है। कहा भी है : छद्मस्थ (अज्ञानी) जीवों के दर्शन पूर्वक ज्ञान होता है। किसी वस्तु को देखने पर ही उनके ज्ञान होता है। देखना और जानना एक साथ नहीं हो सकता। किन्तु केवली भगवान के ज्ञान और दर्शन ये दोनों उपयोग एक साथ होते हैं[1]। अत: वे सब को एक, साथ जानते, देखते हैं। उनके उस अतीन्द्रिय ज्ञान में किसी प्रकार का अन्तराल नहीं पड़ता। वह सतत शाश्वत प्रवाहपूर्ण होता है। जैनदर्शन में आत्मा को ज्ञानमय कहा गया है और जो ज्ञानमय है, उसका सम्बन्ध समस्त ज्ञेयों से है। कोई कह सकता है कि मोक्षमार्ग का उपदेश देने के लिए सर्वज्ञ होने की क्या आवश्यकता है? मोक्षमार्ग का उपदेश देने के लिए तो आत्मज्ञ होना ही पर्याप्त है। इसके उत्तर में यह कहा गया है कि जो एक को जानता है, वह सब को जानता है[2]। कहा भी है : जो एक साथ तीनों काल के और तीनों लोकों के पदार्थों को उनकी पर्याय सहित नहीं जानता है, वह एक द्रव्य को भी जानने में समर्थ नहीं है। जो अपने आत्मद्रव्य को ही नहीं जानता, वह समस्त द्रव्य—समूह को कैसे जान

१. दंसणपुव्वं णाणं छदमत्थाणं ण दोण्णि उवउग्गा।
जुगवं जम्हा केवलिणाहे जुगवं तु ते दो वि ॥ द्रव्यसंग्रह, गा. ४४
२. प्रो. उदयचन्द्र जैन . आप्तमीमांसा-तत्वदीपिका, प्रस्तावना, पृ. ७४ से उद्धृत।

सकता है[1] ? जो आत्मद्रव्य को सभी पर्यायों सहित जानता है, वह अनन्त द्रव्य समूह को भी जानता है। क्योंकि द्रव्य रूप में उस में और अनन्त द्रव्य में वस्तुत: कोई भेद नहीं है। कहा गया है : यदि अनन्त पर्याय वाले एक द्रव्य को (आत्मद्रव्य को) नहीं जानता है, तो वह एक साथ समस्त अनन्त द्रव्य-समूह को कैसे जान सकेगा[2] ? इससे यह निश्चित है कि समस्त द्रव्यों के ज्ञान से आत्मा का ज्ञान और आत्मा के सर्वपर्याय सहित ज्ञान से सबका ज्ञान होता है। इस प्रकार आत्मज्ञ स्वत: सर्वज्ञ हो जाता है। अपने को जानने पर समस्त ज्ञेय ऐसे ज्ञात होते हैं मानो वे ज्ञान में ही स्थित हैं। यदि ऐसा न हो तो आत्मा सब को जान भी नहीं सकता है। और यदि आत्मा सब को न जानता हो, तो ज्ञान की पूर्णता का अभाव हो जाए और आत्मा में ज्ञान भी सिद्ध न हो सके। अतएव यही मानना उचित है कि जो आत्मज्ञ है, वह सर्वज्ञ है और जो सर्वज्ञ है, वह आत्मज्ञ ही है। इस प्रकार जैनदर्शन में त्रिकाल तथा त्रिलोकवर्ती समस्त द्रव्यों की समस्त पर्यायों के प्रत्यक्ष दर्शन के अर्थ में और आत्मज्ञ के अर्थ में मानी गई सर्वज्ञता में किसी आचार्य का कोई विरोध नहीं है। दोनों का तात्पर्य लगभग समान है। दोनों नयों की दृष्टि से दो अलग-अलग प्रकार के कथन होने पर भी दोनों का भाव अन्त में एक ही फलित होता है। अत: भेद होते हुए भी वास्तव में अन्तर नहीं है। यथार्थ में यह निश्चित है कि जिसने अपने ज्ञान-परिणमन को जान लिया, उसने सब कुछ जान लिया, ज्ञान से अधिक जानने के लिए क्या अवशिष्ट रह जाता है ? क्योंकि ज्ञान में ही सब कुछ समाहित है। इसीलिए यह कहा जाता है कि तीन काल और तीन लोक विषै द्रव्य जैसे-जैसे परिणमे, तिन कौं केवलज्ञानी निरखेद एके काल सबकूं युगपत् जानै है[3]।

सच्चा जैन कौन है ?

'जैन' शब्द 'जिन' से बना है। जो इन्द्रियों को और मन को जीतने वाला है, उसे व्यवहार से जिन कहते हैं और जो ज्ञान स्वभाव के द्वारा

---

१. जो ण विजाणदि जुगवं अत्थे तिक्कालिगे तिहुवणत्थे।
णादुं तस्स ण सक्कं सपज्जयं दव्वमेगं वा ॥ प्रवचनसार, गा. ४८

२. दव्वं अणतपज्जयमेगमणंताणि दव्वजादाणि।
ण विजाणदि जदि जुगवं किध सो सव्वाणि जाणादि ॥ प्रवचनसार, गा ४९

३ सुदृष्टितरंगिणी, पृ. २८०-२८१
तथा–परमात्मप्रकाश, अ. १, दोहा ५२

समस्त द्रव्यों से परमार्थतः भिन्न अपनी शुद्धात्मा का अनुभव करते हैं, वे निश्चय से जितेन्द्रिय हैं, जिन हैं। आचार्य कुन्दकुन्द का कथन है : जो निश्चय में स्थित साधु हैं वे ऐसा कहते हैं कि जो इन्द्रियों को जीत कर ज्ञान-स्वभाव के द्वारा अन्य द्रव्य से अधिक आत्मा को जानते हैं, वे वास्तव में जितेन्द्रिय हैं[1]। वास्तव में जो कर्म-शत्रुओं को जीतते हैं, वे जिन हैं, किन्तु सामान्यतः सम्यग्दृष्टि अव्रती से ले कर कर्म की गुणश्रेणी रूप निर्जरा करने वाले सभी जिन हैं। जो परीक्षा करके धर्म का स्वरूप जानते हों, आत्म द्रव्य की नियतता को समझकर ज्ञानस्वभाव की ओर झुकने वाले हों, स्वसंवेद्य आत्मा का अनुभव करने वाले हों, वीतराग सर्वज्ञदेव का दर्शन करने वाले हों और श्रद्धा तथा अनुभव में ग्रहण करने वाले हों, वे ही सच्चे जैन हो सकते हैं। स्व. पं. भागचन्द्रजी के शब्दों में—"जिन को सच्चा जैनी होना है, तिन को शास्त्र के आश्रय तत्त्व-निर्णय करना योग्य है। अरु जो तत्त्व-निर्णय तो न करे हैं अरु पूजा, स्तोत्र, दर्शन, त्याग, तप, वैराग्य, संयम, सन्तोष आदि सर्व कार्य करे हैं, सो उनके सर्व कार्य असत्य है। तातें आगम को सेवन, युक्ति को अवलम्बन, परम्पराय गुरु उपदेश, स्वानुभव इनके द्वारा तत्त्व-निर्णय करना योग्य है[2]।" जो लोक-परम्परा से लीक मान कर या धर्मबुद्धि से देखा-देखी अथवा लौकिक अभिप्राय से भला मान कर धार्मिक क्रियाएँ करते है, वास्तव में उनके धर्म-दृष्टि नही है और न वे सच्चे जैन है। पण्डितप्रवर टोडरमलजी के शब्दों में "तथा कितने ही धर्मबुद्धि से धर्म साधते हैं, परन्तु निश्चय धर्म को नही जानते, इसलिए अभूतार्थरूप धर्म को साधते हैं। वहाँ व्यवहार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को मोक्षमार्ग जान कर उनका साधन करते है। वहाँ शास्त्र में देव, गुरु, धर्म की प्रतीति करने से सम्यक्त्व होना कहा है। ऐसी आज्ञा मान कर अरहन्तदेव, निर्ग्रन्थगुरु, जैनशास्त्र के अतिरिक्त औरों को नमस्कारादि करने का त्याग किया है; परन्तु उनके गुण-अवगुण की परीक्षा नही करते अथवा परीक्षा भी करते हैं, तो तत्त्वज्ञान पूर्वक सच्ची परीक्षा नहीं करते, बाह्य लक्षणों द्वारा परीक्षा करते हैं[3]।"

---

१. जो इंदिये जिणित्ता णाणसहावाधिअं मुणदि आदं।
तं खलु जिदिंदियं ते भणंति जे णिच्छिदा साहू॥ समयसार, गा० ३१

२. पं० भागचन्द्र छाजेड़ : सत्ता-स्वरूप, पृ० ४ से उद्धृत

३. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवां अधिकार, पृ० २२१

अतः यह स्पष्ट है कि जो क्रियामूढ़ या पर्यायमूढ़ हैं, अनेकान्तधर्म को जो नहीं समझते हैं, वे एकान्त का पक्ष ग्रहण कर जैनधर्म के ज्ञाता नहीं हो सकते। जिन को अनेकान्त, स्याद्वाद-नय गर्भित जिनवाणी का बोध नहीं है, वे जैन कैसे हो सकते हैं[1] ?

सामान्य रूप से जिनमत को मानने वाला जैन कहा जाता है। जिनमत क्या है? जिस में वीतराग देव हैं, वीतराग धर्म है और वीतराग गुरु हैं, उसे जिनमत कहा जाता है। पण्डितप्रवर टोडरमलजी के शब्दों में : "जैनमत में एक वीतराग भाव के पोषण का प्रयोजन है। सो कथाओं में, लोकादिक के निरूपण में, आचरण में व तत्त्वों में जहाँ-तहाँ वीतरागता की ही पुष्टि की है। तथा अन्य मतों में सरागभाव के पोषण का प्रयोजन है; क्योंकि कल्पित रचना कषायी जीव ही करते हैं और अनेक युक्तियाँ बना कर कषाय भाव ही का पोषण करते हैं। किन्तु जैनधर्म में देव, गुरु, धर्मादिक का स्वरूप वीतराग ही निरूपण करके केवल वीतरागता ही का पोषण करते हैं[2]।" यह ठीक ही है कि जिनमत में कहीं भी सरागता का समर्थन नहीं है। सच में वीतरागता ही धर्म है। इसलिए वीतरागता की ओर ले जाने वाली दृष्टि, श्रद्धान, ज्ञान और चारित्र का इस धर्म में उपदेश दिया गया है। कोई भी जैन क्यों न हो, अपना नाम कुछ भी बतलाता हो; परन्तु वह जैन तभी है, जब वीतरागता को मानता हो, वीतरागता की सच्ची श्रद्धा हो। कोई यह भी तर्क कर सकता है कि वीतरागता का ठेका जैन का ही नहीं है, हम भी जैन हो सकते हैं? वास्तव में वीतराग धर्म का जो भी आचरण करता है, वह चाहे ब्राह्मण, शूद्र, क्यों न हो, वही श्रावक है। और क्या श्रावक के सिर पर कोई मणि रहती है[3] ? मुनिश्री योगीन्द्रदेव कहते हैं कि बहिरात्मा जीव विशेष रूप से अपने-

---

१. स्याद्वाद पूरन जो जने, नयगर्भित जस वाचा,
गुन पर्याय द्रव्य जे बूझे, सोइ जैन है साचा।
परम गुरु ! जैन कहो क्यो होवे ।।३।।
क्रिया मूढ़ मति जो अज्ञानी, चालत चाल अपूठी,
जैन दशा उन मे है नाही, कहे सो सब ही झूठी ।।४।।परम०।। —आनन्दघन के पद से उद्धृत

२. मोक्षमार्गप्रकाशक, पांचवां अधिकार, पृ० १३७ से उद्धृत।

३. एहु धम्मु जो आयरइ बंभणु सुद्दु वि कोइ।
सो सावउ कि सावयहं अण्णु कि सिरि मणि होइ ।। सावयधम्मदोहा, ७६

अपने वर्ण, जाति, रंग, आजीविका आदि का ही विचार करते रहते हैं। उनका कथन है : मैं उत्तम ब्राह्मण हूँ, वैश्य हूँ, क्षत्रिय हूँ, शूद्र हूँ, पुरुष हूँ, नपुंसक हूँ, मैं स्त्री हूँ–इस प्रकार मूढ़ लोग विशेष रूप से मानते हैं। किन्तु ज्ञानी अपने आप को इनमें से कुछ भी नहीं मानते हैं[1]। क्योंकि आत्मा ज्ञानस्वरूप है। ज्ञानी अपने चैतन्य चिन्मात्र को मानते हैं, पर अज्ञानी पर्यायों को, विभिन्न अवस्थाओं को ही अपना स्वरूप मान कर उनमें मोहित हो जाते है। क्योंकि उन की दृष्टि पर्यायाश्रित है; स्वाश्रित नहीं। वीतराग धर्म का प्रयोजन सामान्य जनों के लिए इतना ही है कि पर्याय के अधीन अपनी दृष्टि को पर-पदार्थों से हटा कर केवल स्वाधीन, सच्चे सुख को पाने के लिए स्वात्मोन्मुख कर ले।

जैनधर्म को मानने वाला एक देव, एक धर्म और एक ही गुरु को मानने वाला होता है। उसके अन्तरंग में सदा यह भावना रहती है कि हमने एक जिनदेव को जान लिया, तो अनन्त देव जान लिए। जो इस प्रकार का चारित्र नहीं पालता है, वह मोह से मोहित होकर अनन्त संसार में परिभ्रमण करता है[2]। यथार्थ में अनन्त जिनों का एक ही उपदेश है। जो सर्वज्ञ हैं, वीतरागी हैं, उनके उपदेश में कोई अन्तर हो ही नहीं सकता है। भिन्नता तो अज्ञानियों के कथन में लक्षित होती है। इसी बात को लेकर कोई तर्क करता है कि जिनमत में भी वैसे ही अनेक प्रकार के कथन मिलते हैं, जैसे अन्य मतों में पाए जाते हैं। आप जैनधर्म मानते हैं, इसलिए उसे अच्छा बताते हैं और अन्य मत में दोष निकालते हैं। यही प्रश्न पण्डितप्रवर टोडरमलजी उठाते हुए समाधान करते हैं। उनके ही शब्दों में : "कथन तो नाना प्रकार के हों और एक ही प्रयोजन का पोषण करें, तो कोई दोष है नही, परन्तु कही किसी प्रयोजन का और कही किसी प्रयोजन का पोषण करें, तो दोष ही है। अब, जिनमत में तो एक रागादि मिटाने का प्रयोजन है। इसलिए कही बहुत रागादि छुड़ा कर थोड़े रागादि कराने के प्रयोजन का पोषण किया है, कही सर्व रागादि मिटाने के प्रयोजन का पोषण किया है; परन्तु रागादि बढ़ाने का प्रयोजन

---

१. हउं वरु बंभणु वइसु हउं हउं खत्तिउ हउं सेसु।
पुरिसु णउंसउ इत्थि हउं मण्णइ मूढु विसेसु।। परमात्मप्रकाश, अ० १, दोहा ८१

२. अम्हहिं जाणिउ एकु जिणु जाणिउ देउ अणंतु।
ण चरिसु मोहें मोहियउ अच्छइ दूरि भमंतु।। पाहुडदोहा, ५८

कहीं नहीं है, इसलिए जिनमत का सर्व कथन निर्दोष है[1]।" आचार्य अमृतचन्द्र स्पष्ट रूप से कहते हैं : जो वीतराग भगवान तीर्थंकर के चरणकमल के उपासक हैं, वे जैन हैं। परमार्थ से गणधर आदि देव जैन हैं[2]।"

जिन बनने की उपासना सचमुच बहुत कठिन है। वीतरागता की दृष्टि रखने वाला ही ठीक से वीतराग जिनदेव की उपासना कर सकता है और वही जैन बन सकता है, जैन कुल में उत्पन्न हो जाने मात्र से कोई जैन नहीं हो जाता। जो जिसकी उपासना, भक्ति करता है, उसे अपने हृदय में स्थान देता है, वह उस जैसा बनना चाहता है और वही आदर्श प्राप्त होता है। जो वस्तु जिसके पास होती है, वही वस्तु उससे मिल सकती है। अर्हन्त भगवान के पास वीतरागता है। तो अर्हन्त देव कुछ देना चाहे या न देना चाहें, किन्तु उन से भक्त पुरुष को वीतरागता तो मिल ही जाएगी[3]। वास्तव में यह उपचार का कथन है। क्योंकि प्रथम जो वीतराग है, उसके लेन-देन सम्भव नही है और दूसरे अर्हन्त सिद्ध भगवान यहाँ पर नहीं हैं। इसलिए भक्त अपनी भावना से अभिभूत हो कर इस प्रकार के भाव प्रकट करता है, तो उसे उपचार मात्र ही समझना चाहिए।

जैनधर्म को पालन करने का सब को अधिकार है। यह जन मात्र का ही नही, प्राणी मात्र का धर्म है। इस धर्म को जो धारण करता है, वही जैन हो सकता है। पं० आशाधरजी कहते हैं : वेशभूषा, आचार-विचार और शरीर की शुद्धि सहित शूद्र भी उन जैसा (जैन कुलोत्पन्न व्यक्तियों के समान) है। क्योंकि वर्ण से हीन होने पर भी प्राणी कालादिक लब्धि के प्राप्त होने पर धर्म को धारण करने वाला होता है[4]? मुनिप्रवर पद्मनन्दि धर्मोपदेशामृत अधिकार में जैन के गृहस्थपने का वर्णन करते हुए कहते हैं : जो जिनेन्द्रदेव की आराधना करते हैं, निर्ग्रन्थ गुरुओं की विनय करते है, धार्मिकों के प्रति

---

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, आठवां अधिकार, पृ० ३०३-३०४

२. "सकलजिनस्य भगवतस्तीर्थाधिनाथस्य पादपद्मोपजीविनो जैनाः, परमार्थतो गणधरदेवादय इत्यर्थः।" —नियमसार, गा० १३९ की टीका।

३. पं० अजितकुमार शास्त्री : जैनधर्म का परिचय, पृ० १५०

४. शूद्रोऽप्युपस्कराचार – वपुः शुद्धयास्ति तादृशः।
जात्या हीनोऽपि कालादि – लब्धौ ह्यात्मास्ति धर्मभाक्॥ सागारधर्मामृत, २, २२

अत्यन्त प्रेम रखते हैं, पात्रों को भक्तिपूर्वक दान देते हैं, संकट से ग्रस्त दीन-दु:खियों को करुणा बुद्धि से दान देते हैं, तत्त्वों का अभ्यास करते हैं, अपने नियम-व्रतों की रक्षा करते हैं और निर्मल सम्यग्दर्शन का पालन करते हैं, वे ही सद्गृहस्थ बुद्धिमानों के द्वारा मान्य हैं। जिन में ये बातें नहीं हैं, उनमें गृहस्थपना नहीं है; किन्तु दु:खदायी मोह का फन्दा समझना चाहिए[1]।

वास्तव में जैन व्यक्ति मिथ्यात्व, अन्याय, और अभक्ष्य—इन तीन बातों से दूर रहता है। जो गृहीत मिथ्यात्वी हो और जैन हो; ऐसा कभी बनता नहीं है। जैन मिथ्यात्व को, विपरीत श्रद्धान को विष समझता है, इसलिए उससे कोसों दूर रहता है। आजकल की भाषा में मिथ्यात्व को मन्द विष (Slow poison) या मीठा जहर कह सकते है। इसका असर यह होता है कि प्रत्येक समय में मिथ्यात्वी भावमरण करता है। तेज जहर खाने वाला तो एक बार में मर जाता है, किन्तु मट्ठा जहर खाने वाला बार-बार मूर्च्छित होता है। पं० आशाधरजी मिथ्यात्वी को पशु की संज्ञा देते हुए कहते हैं: जो मिथ्यात्व से ग्रस्त है, उसके हिताहित का विवेक नहीं रहता; इसलिए वह पशु के समान है। और सम्यक्त्व के द्वारा जिसकी स्वानुभूति प्रकट होती है, उसे हिताहित का विवेक होता है। अतएव वह पशु के समान होने पर भी मनुष्य के समान आचरण करता है[2]। इससे स्पष्ट है कि जैन होने के लिए सर्वप्रथम सम्यक्त्व की भावना का होना अत्यन्त आवश्यक है। यह कौन कह सकता है कि अमुक को सम्यग्दर्शन है, अमुक को नहीं? यह सच है कि बाहरी लक्षणों से सम्यक्त्व की पहचान नही हो सकती; किन्तु अन्तरंग लक्षण सम्यक्त्व होने का संकेत तो दे ही सकते हैं। जिस सम्यक्त्व का फल यह है कि ज्ञान और वैराग्य की शक्ति प्राप्त हो जाती है, उस सम्यक्त्व के परिणाम से तो सम्यग्दृष्टि को पहचाना जा सकता है। कहा भी है—"बाह्य में देव-गुरु को न माने और अन्तरंग की श्रद्धा हो जाए, ऐसा नहीं बन सकता। अपने

---

१. आराध्यन्ते जिनेन्द्राः गुरुषु च विनतिर्धार्मिकैः प्रीतिरुच्चैः।
पात्रेभ्यो दानमापन्निहतजनकृते तच्च कारुण्यबुद्ध्या ॥
तत्त्वाभ्यासः स्वकीयव्रतरतिरमलं दर्शनं यत्र पूज्यं।
तद्गार्हस्थ्यं बुधानामितरदिह पुनर्दुःखदो मोहपाशः ॥ पद्मनन्दि. पं. श्लो. १३

२. नरत्वेऽपि पशूयन्ते, मिथ्यात्वग्रस्तचेतसः।
पशुत्वेऽपि नरायन्ते, सम्यक्त्वव्यक्तचेतनाः ॥ सागारधर्मामृत, २, ४

को अन्तरंग जैनी (सम्यग्दृष्टि) कहलाए और बाह्य में वीतरागी देव-गुरु के प्रति विनय-भक्ति आदि में न प्रवर्ते तो वह दम्भी है, ऐसा समझना। उसका अन्तरंग जैनीपना भी झूठ ही है। अपने अन्तरंग स्वरूप का भान करना, सो अभ्यन्तर जैनत्व है। उस जैनत्व के प्रकट हुए बिना वीतरागता नहीं आ सकती और अन्तरंग जैनत्व प्रकट होने के साथ जब तक पूर्ण वीतरागता प्रकट नहीं होती, तब तक देव-गुरु-धर्म की भक्ति-प्रभावना इत्यादि का शुभ राग होता है[1]।" ऐसे ही सच्चे अन्तरंग जैन को ध्यान में रख कर पं० बनारसीदासजी ने उसे जिनेश्वर का लघुनन्दन कहा है[2]। वास्तव में नाम-निक्षेप से तो हम सब जैन कहे जाने वाले हैं, पर भाव-निक्षेप से तो जब तक मिथ्यात्व-मोह रूपी अन्धकार नही मिटता, तब तक जैन नहीं हो सकते[3]। बात यह है कि जैनधर्म कोई प्रदर्शन मात्र नहीं है कि हम ऊपर से अमुक-अमुक कर जैन बन जायें। यदि हमारे अन्तरंग में देव, गुरु, धर्म का सच्चा श्रद्धान है, तो विवेकपूर्वक वे सब बाह्याचरण के लक्षण अपने आप उन-उन क्रियाओं के साथ प्रकट हुए बिना नहीं रहते। अन्तरंग की सच्ची श्रद्धा बाह्य लक्षणों को स्वयमेव प्रकट कर देती है। पं० दौलतरामजी सच्चे अन्तरंग श्रद्धानी का वर्णन करते हुए कहते हैं[4]:

"चिन्मूरत दृगधारी की मोहि, रीति लगति है अटापटी।
बाहिर नारकि-कृत दुःख भोगे, अन्तर सुखरस गटागटी।।
रमति अनेक सुरनि संग पै तिस, परणति तें नित हटाहटी।
ज्ञान विराग शक्ति तें विधिफल, भोगत पै विधि घटाघटी।
सदन निवासी तदपि उदासी, तातें आश्रव छटाछटी।।

---

१. मुक्ति का मार्ग, पृ० १०६-१०७

२. भेदविज्ञान जग्यौ जिन्हके घट,
शीतल चित्त भयो जिम चन्दन।
केलि करैं शिवमारग में,
जग माहि जिनेश्वर के लघुनन्दन।। नाटक समयसार, पद ६

३. कुगुरु कुदेव कुपंथ पंक फंसि, तैं बहु खेद लहायो।
शिवसुख दैन जैन जग-दीपक, सो तैं कबहुं न पायो।।
मिट्यो है अज्ञान अंधेरा।।मैं०।। —दौलतविलास, पद १०३

४. दौलतविलास, पद ६८

जे भवहेतु अबुध के ते तस, करत बन्ध की झटाझटी।
नारक पशु त्रिय षंड विकलत्रय, प्रकृतिन की ह्वै कटाकटी।।

संयम धरि न सकै पै संयम, धारन की उर चटाचटी।
तासु सुयश गुन की 'दौलत' के लगी रहै नित रटारटी।। पद ९५

प्रात:स्मरणीय वर्णीजी का यह कथन उचित ही है कि जैनों में रुचि तो है, पर उसका विकास नहीं है। सब औषधियों का विकल्प-जाल छोड़कर हम ऐसी भावना भायें कि यह पर्याय दो विजातीय द्रव्यों के सम्बन्ध से निष्पन्न हुई है। फिर भी, दोनों का परिणमन पृथक्-पृथक् है। चूना-हल्दी के समान दोनों एक रंग नही हो गए है। अत: जो कोई पदार्थ इन्द्रियों के गोचर है, वह तो पौद्गलिक ही है। इसमे तो सन्देह नही है कि हम मोही जीव शरीर की व्याधि का आत्मा में अवबोध होने से उसे अपना मान लेते हैं। यही अहंकार संसार का विधाता है। अत: ज्ञानी जीवों का यह भाव कदापि नही होता कि मैं रोगी हूँ और जो कुछ चारित्रमोह से अनुचित क्रिया होती है, उसका कर्ता नही और जो कुछ होता है, उसकी निन्दा-गर्हा करता है। यह भी मोह की महिमा है। अत: इसे भी मिटाना चाहिए। जन्म भर स्वाध्याय किया, फिर भी अपने को रोगी मानना और संसार की तरह विलापादिक करने की आदत होना, क्या श्रेयस्कर है[1] ? जैन और कुछ हो या न हो; उसके धर्म का पक्ष तो होता ही है। कहा भी है : यद्यपि चारित्र-मोहनीय कर्म की विशेषता के कारण भोग योग्य और उपभोग योग्य पदार्थों का वह त्याग नहीं करता। जिन में त्रस-स्थावर जीवों का विशेष रूप से घात होता है, उन व्यापार आदिक कर्मों को भी वह लोभवश नहीं त्यागता। फिर भी, धर्म के प्रत्येक कार्य करने में उसका उत्साह सदा बढ़ा हुआ रहता है[2]। सामान्य रूप से यही जैन का लक्षण है। किन्तु पं० दौलतरामजी ने जो एक

---

१. वर्णी-वाणी, चतुर्थ भाग, पृ० १४७

२. भोगोपभोगाद्विषमात् प्रमोहात्तथा त्रसस्थावरजीवघातात्।
न स्याद्विरक्तिस्तदपि प्रवीरो धर्मादिकार्येऽस्ति सदैव दक्ष:।। श्रावकधर्मप्रदीप, १, ८

बात कही, वह गजब की है। जो जिनेन्द्रदेव को जानता है, अनुभवता है, वास्तव में वही जैन है[1]।

इस प्रकार विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि केवल कुछ वस्तुओं को छोड़ने मात्र से अथवा कुछ नियमों को ग्रहण करने मात्र से कोई सच्चा जैन नहीं हो जाता। जैन वही हो सकता है जो जिनदेव, जिनगुरु और जिन-वाणी को पहचानता हो, उनमें श्रद्धा रखता हो–सभी आचार्यों के कथन का यही सार है। "जो अर्हन्तदेव और निर्ग्रन्थ मुनि-गुरु को नहीं पहचानता और जिसे अन्तरंग से उनके प्रति भक्ति का उल्लास जागृत नहीं होता तथा जो उनके लिए तन, मन, धन खर्च नहीं करता, वह भले ही व्यवहार में त्यागी जैसा हो, तो भी उसके व्यवहार से भी जैनत्व नहीं है। मिथ्यात्व के सेवन से वह अपने निर्मल भाव रूपी अनन्ती हरी (शाक-पत्तियों) को चबा खाता है। यह आत्मा स्वयं हरा-भरा आनन्द मूर्ति वीतराग स्वरूप है। इस वीतराग स्वरूप की जो भक्ति नहीं करता, उसके आत्मा के आनन्द की हिंसा होती है और यही आत्मा के हरे-भरे स्वरूप की भावहिंसा है। इस भावहिंसा का फल चतुर्गति भ्रमण है। तुझे इस भावहिंसा से बचना हो तो वीतराग देव को पहचान और उनके दिखाए आत्म-स्वरूप को जान। अरे! यदि तू सच्चे देव, गुरु को मानता हो तो यह देख कि तूने अपनी कमाई का चतुर्थांश, षष्ठम अंश या दशम अंश भी देव-गुरु-धर्म की प्रभावना इत्यादि के लिए निकाला है या नहीं? जो अपने भाव की क्रिया को भी नहीं सुधारता अर्थात् अशुभ छोड़ के शुभ में भी नहीं आता, वह वीतराग का भक्त नहीं है[2]।" वास्तव में यह जो कहा जाता है कि व्रत, नियम मात्र से क्या होता है? उसका अर्थ यह है कि मिथ्यात्व के त्याग के बिना और सम्यक्त्व के उदय हुए बिना इन से आत्मा का जो लाभ होना चाहिए, वह नहीं होता। इसलिए यह जो कहा गया है कि मिथ्यात्व, अन्याय और अभक्ष्य का त्यागी जैन होता है, इसमें मिथ्यात्व का प्रथम स्थान है। मिथ्यात्व का त्याग हो जाने पर अन्याय

---

१. मैं भ्रम्यो अपन को विसरि आप, अपनाये विधिफल पुण्य-पाप।
निज को पर को करता पिछान, पर में अनिष्टता इष्ट ठान॥
......तन परिणत में आपो चितारि, कबहूं न अनुभव्यो स्वपदसार॥
–दौलतविलास, पृ. २

२. मुक्ति का मार्ग, पंचम आवृत्ति, पृ० १०८, १०९ से उद्धृत

और अभक्ष्य का त्याग नियम से होता है। जैसे धर्म-बुद्धि पूर्वक अर्थ का सेवन, धर्म-बुद्धि पूर्वक काम का सेवन करना चाहिए, वैसे ही मिथ्यात्व सहित अन्याय का त्याग और मिथ्यात्व सहित अभक्ष्य का त्याग करने वाला जैन कहा गया है। अभक्ष्य का त्याग हो जाने पर अष्ट मूल गुणों का पालन स्वतः हो जाता है। क्योंकि पाँच उदुम्बर फल और तीन मकार अभक्ष्य ही हैं। जैन इनका सेवन नहीं कर सकता।

निश्चयनय की कथनी करने वाले अध्यात्मशास्त्र में कहीं पर भी व्यवहार को सर्वथा हेय कह कर नहीं छुड़ाया है। वीतरागता की दृष्टि प्राप्त होने पर भी व्यवहार छूट नहीं जाता है, बल्कि श्रद्धान में वीतरागता की उपादेयता और सरागता की हेय बुद्धि आ जाती है। इसलिए यही कहना सच है कि व्यवहार छोड़ा नहीं जाता, भूमिका के अनुसार अपने आप छूटता जाता है। जो व्यवहार रूप धर्म की प्रवृत्ति करता ही नहीं है, उसके त्याग का प्रश्न ही कहाँ है ? चारित्र की प्रवृत्ति रूप जो शुभ कार्य करता हो, वही छोड़ सकता है। जो सदा अशुभ ही करता रहता है, उसके शुभ के त्याग का प्रश्न ही नहीं है। इसलिए शुभ की भूमिका में यही बताया गया है कि आठ मूलगुणों का धारक, छह आवश्यकों का पालन करने वाला जैन होता है। जिनेन्द्र भगवान के दर्शन-पूजन भी न करे और तू अपने को जैन कहलावे, ये तेरा जैनपन कैसा ? जिस घर में प्रतिदिन भक्तिपूर्वक देव-गुरु के दर्शन-पूजन होते हैं, मुनिवरों आदि धर्मात्माओं को आदरपूर्वक दान दिया जाता है, वह घर धन्य है। और इसके बिना घर तो श्मशान तुल्य है[1]।" व्यवहारी जैन की यही भूमिका है। पं० रायमलजी ने छह आवश्यक कार्यों में से दो प्रमुख कहे हैं। उनके शब्दों में—"षट् आवश्यक विषै भी ये दो मुख्य धर्म—देवपूजा अरु दान छै। बाकी चार गौण छै—गुरु-भक्ति, तप, संयम, स्वाध्याय। तातै सात ठिकाना विषै द्रव्य खरचवो उचित है : मुनि, अर्जिका, श्राविका, श्रावक, जिनमन्दिर-प्रतिष्ठा, तीर्थयात्रा, शास्त्र लिखावे—ए सात स्थानक जानना[2]।" वास्तव में क्षेत्र, काल के अनुसार व्यावहारिक मर्यादाएँ घटती-बढ़ती रहती हैं। इसलिए आचार्य कभी किसी प्रवृत्ति पर जोर देते हैं, कभी किसी अन्य प्रवृत्ति पर। किसी जमाने में

१. श्रावकधर्मप्रकाश, पृ० १०६ से उद्धृत।

२. ज्ञानानन्द श्रावकाचार, पृ० ४४

शास्त्र लिखाना धर्म माना जाता था, तो आज आधुनिक भाषा में उनका अनुवाद कराना और अधिक संख्या में प्रकाशित कराना, देश-विदेशों के पुस्त-कालय में पहुँचाना, धर्म की महती प्रभावना करना है। इसी प्रकार से आठ मूल गुणों के सम्बन्ध में भी समयानुसार अलग-अलग मान्यताएँ रही हैं। वास्तव में जिसके देव-कुदेव, धर्म-अधर्म, गुरु-कुगुरु, पाप-पुण्य, भक्ष्य-अभक्ष्य, आराध्य-अनाराध्य, कार्य-अकार्य, शास्त्र-कुशास्त्र, दान-कुदान, पात्र-अपात्र, युक्ति-कुयुक्ति तथा अनेकान्त रूप सर्वज्ञ वीतराग एवं परमागम का विचार नहीं है, वह जैन नहीं है। पं. सदासुखजी पाँच प्रकार के पापों के त्यागी को जैन कहते हैं। यह पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक की वह भूमिका है, जिसमें एकदेश व्रतों का पालन किया जाता है। सम्यग्दृष्टि ही निरतिचार व्रत का पालन कर सकता है। अतएव सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् इस भूमिका का उदय होता है। कहा भी है–"अहो जैनीन के बड़ा अहिंसा व्रत जो प्राण जाते हू अपने संकलपतें जीवहिंसा नाही करैं हैं तथा जिनके असत्य का त्याग तथा चोरी का त्याग, परस्त्री का त्याग, परिग्रह का परिमाण करि समस्त अनीतितैं पराङमुख है अर अभक्ष्य नहीं खावना, प्रमाण सहित दिवस में देखि, सोधि भोजन करना, इन जिनधर्मी का बड़ा धर्म है[1]।"

वस्तुत: भोग और त्याग पर्याय का होता है; द्रव्य का नहीं। इसलिए व्रत, नियम, त्याग आदि की बातें व्यवहार की कोटि में आती हैं। व्यवहारनय के उपदेश से ऐसा नहीं समझना चाहिए कि आत्मा परद्रव्य की क्रिया कर सकता है; लेकिन ऐसा समझना कि व्यवहारोपदिष्ट शुभ भावों को आत्मा व्यवहार से कर सकता है। इससे यह भी नहीं समझना कि शुभ भावों को करते-करते आत्मा शुद्ध हो जाएगा, किन्तु साधक दशा में भूमिका के अनुसार शुभ भाव आए बिना रहते नहीं[2]। आने वाले भावों को ज्ञानी जन कर्मकृत जान कर उनमें हर्ष-विषाद नहीं करते। किन्तु बिना राग के, बिना विकल्प के कोई भाव नहीं होता है। जो भाव उठता है, आता है, उसे ज्ञानी जड़ कर्म-द्रव्य की क्रिया समझ कर उस से अपनत्व नहीं करता है। आने वाला भाव

---

१. पं० सदासुखदासजी : रत्नकरण्डश्रावकाचार की वचनिका, पृ० ३१

२. पं० परमेष्ठीदास (अनु०) : समयसार, तृतीयावृत्ति, पृ० २७ की टिप्पणी से उद्धृत।

किसी का भेजा हुआ नहीं होता। पं० रूपचन्दजी ने इस तथ्य को काव्यमय भाषा में इस प्रकार व्यक्त किया है :

काहू न मिलायौ जाने करम-संजोगी सदा,
छीर-नीर पाइयो अनादि ही का धरा है।
अमिल मिलाय जड़ जीव गुन भेद न्यारे,
न्यारे पर भाव परि आप ही में धरा है।
कोइ भरमायौ नाहि भम्यौ भूल आपन ही,
आपने प्रकास के विभाव भिन्न धरा है।
सांचै अविनासी परमातम प्रगट भयौ,
नाख्यौ है मिथ्यात वस्यौ जहाँ ग्यान धरा है।।
(अध्यात्म सवैया, ९५)

यथार्थ में स्वभाव के आश्रय से निर्मल पर्याय प्रकट होती है, उसे ही जिनमत कहते हैं। क्योंकि चैतन्य मात्र परम पारिणामिक भाव है। जिनागम में उसे ही परम भाव कहा गया है। उस चैतन्य से प्रेम करने वाला, एकत्व स्थापित करने वाला वास्तव में सच्चा जैन होता है। अखण्ड चिदानन्द स्वभाव को लक्ष्य में लेने वाला ही जिनमत का सच्चा प्रेमी होता है। उसका यह प्रेम स्थायी शाश्वत तथा सच्चा होता है। इसलिए इस प्रेम के फलस्वरूप मिलने वाला आनन्द भी सच्चा, स्थायी व शाश्वत होता है। वास्तव में प्रेम वही सच्चा होता है, जिसमें कोई भेद नहीं रहता है। प्रेम की वही सच्ची स्थिति है, जहाँ ज्ञाता-ज्ञेय, साध्य-साधक, आराध्य-आराधक में किसी प्रकार का द्वैत नहीं रह जाता, दोनों का अभेद रूप से अनुभव होता है। अत: जिनमत का प्रेमी सदा जिनमत हुआ चाहता है। जैनी जिनमत से ऐसा सम्बन्ध स्थापित कर लेता है कि किसी भी प्रकार उससे पृथक् नहीं हो सकता; जिस प्रकार पानी में घोला गया नमक पानी से अलग नहीं हो पाता। जैन किस प्रकार की साधना करता है? चैतन्य से कैसा प्रेम करता है? इस भाव को निम्नलिखित सवैया में इस प्रकार प्रकट किया गया है :

सरव विशुद्धज्ञान रूप सदा चिदानन्द करता न भोगता न परद्रव्यभाव को,
मूरत अमूरत जे आनद्रव्य लोकमाँहि ते भी ज्ञानरूप नहीं न्यारे न अभाव को।
यहै जानि ज्ञानी जीव आपकूं भजै सदीव ज्ञानरूप सुखरूप आन न लगाव को,

कर्म कर्मफलरूप चेतनाकूं दूरि टारि ज्ञानचेतना अभ्यास करे शुद्धभाव को ।।

इस प्रकार ज्ञान मात्र निजात्म-तत्त्व को देखता हुआ सच्चा जैन चैतन्य मात्र का अनुभव करता है[1] ।

जैन व्यवहार में कैसे होते हैं ?

जैन का पहला गुण ज्ञानवान, विवेकवान कहा गया है । जिसे दुनिया का पता हो, पर अपने आपकी कुछ खबर न हो, जो यह न जानता हो कि मैं कौन हूँ, तो वह जैन कैसे हो सकता है ? आचार्यकल्प पं० टोडरमलजी ने अपना परिचय देते हुए कहा है: मैं एक नित्य चैतन्य स्वरूप जीव द्रव्य हूँ । अनादि काल से मेरे कर्म-मल का कलंक लगा हुआ है । उस दाग के निमित्त से समय-समय पर रागादिक भाव उत्पन्न होते रहते हैं और उनके कारण दुष्ट के समान इस शरीर से मिलाप हुआ है; और उन रागादि भावों के निमित्त से कर्मों का बन्ध होता है । इसलिये यह जीव संसार में परिभ्रमण कर रहा है । अब इस जन्म में यह उपाय करना चाहिए, जिससे अपने परमपद को प्राप्त कर ले । परमपद ही सच्चे सुख का स्थान है[2] । इस प्रकार केवल अपनी रचनाओं में शब्दों के द्वारा ही नहीं, अपने जीवन की वास्तविक घटनाओं से भी उन्हों ने सच्चे जैन होने का परिचय दिया था । उनकी न्याय-प्रियता, ईमानदारी, सन्तोष, समभाव और सहिष्णुता सचमुच प्रशंसनीय रही । अपने अन्त समय मे उन्होंने ज्ञान-वैराग्य की शक्ति का अद्भुत परिचय दिया था । विधर्मियों के षड्यन्त्र से हाथी के पगतले पहुँच जाने पर भी उन्होंने विवेक को जाग्रत रक्खा और कर्मों की कुचाल को ललकारते हुए हाथी से

---

१. इतीदमात्मनस्तत्त्वं ज्ञानमात्रमवस्थितम् ।
अखण्डमेकमचलं स्वसंवेद्यमबाधितम् ।। समयसारकलश, २४६

२. मैं हौं जीवद्रव्य नित्य चेतना स्वरूप मेरो,
लग्यो है अनादि तें कलंक कर्म-मल को ।
वाही को निमित्त पाय रागादिक भाव भए,
भयो है शरीर को मिलाप जैसे खल को ।।
रागादिक भावन को पायके निमित्त पुनि,
होत कर्मबन्ध ऐसो है बनाव कल को ।
ऐसे ही भ्रमत भयो मानुष शरीर जोग,
बने तो बने यहां उपाय निज थल को ।। लब्धिसार टीका, अंत्य

कहा था कि इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं है। तुम अपना काम करो, मैं चैतन्य चित्‌चमत्कार अपने ज्ञान भाव में प्रतिष्ठित होता हूँ। यह था—अध्यात्ममर्मज्ञ पं० टोडरमल जी के जैनत्व का आदर्श।

इसी प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द जैसे अध्यात्म-रचनाकार हुए, जिनका सम्पूर्ण जीवन अध्यात्म से रंगा हुआ लक्षित होता है। उनकी माता शैशव अवस्था में "शुद्धोऽसि, बुद्धोऽसि निरंजनोऽसि, संसार—माया—परिवर्जितोऽसि" की लोरियाँ गा कर उनको सुलाया करती थीं; परन्तु शैशवावस्था में ही वे ज्ञान के जागरण को प्राप्त हो गए थे और अध्यात्म की परम शक्ति सहज ही उन्हें उपलब्ध हो गई थी। आत्मा के लिए जिस ज्ञान गुण विशेषण का प्रयोग पद्मप्रभमलधारीदेव ने किया है, वह कुन्दकुन्द के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में पूर्णतया चरितार्थ होता है। पं० महासेन ने स्याद्वादी शब्द-पद्धति में आत्मा को ज्ञान से कथंचित् भिन्न तथा कथंचित् अभिन्न एवं भिन्नाभिन्न कहा है[1]। दूसरे शब्दों में, आचार्य कुन्दकुन्द का सम्पूर्ण जीवन चेतनासम्पन्न व्यक्तित्व का विलास रहा है। घर में रहते हुए भी वे अलिप्त, निरासक्त, रहते थे। वास्तव में ज्ञानी जन समस्त लौकिक कार्यों को करते हुए भी उन सब से भिन्न अपने द्रव्य की निर्मलता की गाढ़ श्रद्धा बनाए रहते हैं। पंडित बनारसीदास जी के शब्दों में:

जैसे निशि-बासर कमल रहे पंक ही में,
पंकज कहावै पै न वाके ढिग पंक है।
जैसे मन्त्रवादी विषधर सों गहावें गात,
मन्त्र की शकति वाके बिना विष डंक है।।
जैसे जीभ गहे चिकनाई रहे रूखे अंग,
पानी में कनक जैसे काई से अटंक है।
तैसे ज्ञानवान नाना भांति करतूत ठानै,
किरिया तैं भिन्न माने मों तें निष्कलंक है।। (निर्जराद्वार, ५)

जैन सम्यक् श्रद्धान के धनी होते हैं। आचार्य समन्तभद्र से लेकर अकलंक-निकलंक, महाकवि धनंजय, माघनन्दी, आचार्य मानतुंग, मुनि

---

१. ज्ञानाद्भिन्नो न चाभिन्नो भिन्नाभिन्नः कथंचन।
ज्ञानं पूर्वापरीभूतं सोऽयमात्मेति कीर्तितः।।

वादिराज, पं० बनारसीदास आदि इसी परम्परा के प्रतिनिधि हुए। कवि वृन्दाबनदास के जीवन की घटना इस उज्ज्वल परम्परा का जीवन्त निदर्शन है। कहा जाता है कि उनकी ससुराल काशी (बनारस) के ठठेरी बाजार में थी। उनके श्वसुर के यहाँ टकसाल का काम होता था। एक दिन कोई अंग्रेज टकसाल देखने के लिए वहाँ आया। किन्तु वृन्दावन दास ने उसे फटकार दिया और टकसाल नहीं दिखलाई। अंग्रेज नाराज होकर चला गया। कुछ समय बाद वह काशी में कलेक्टर बन कर आया। उस समय कवि वृन्दावनदास सरकार के खजांची पद पर थे। यद्यपि वे सच्चे और ईमानदार थे; किन्तु कलेक्टर ने उन्हें पहचान कर बदले की भावना से जेल में डाल दिया। तीन वर्ष के लिए उनको कारागृहवास मिल गया। किन्तु समता भाव से वे जेल की कोठरी में अकेले ध्यानमग्न हो जिनेन्द्रदेव का चिन्तन करते, स्तुति बनाते हुए स्तवन करते रहे। उनके साथ दो लेखक उनकी कविताएँ लिपिबद्ध करते। एक दिन उस कलेक्टर ने देखा—वे भावों में तन्मय हो पद्मासन से बैठे हुए ध्यान लगाए गा रहे हैं:

हे दीनबन्धु ! श्रीपति करुणानिधान जी,
अब मेरी व्यथा क्यों न हरो बार क्या लगी।

अश्रुपूरित नयनों से अविरल धारा प्रवाहित हो रही थी। साहब बार-बार उनको पुकार रहे थे; पर वे चिदानन्द चैतन्य से ऐसे तन्मय हो गये थे कि उन्होंने कुछ भी नही सुना। अत: कलेक्टर ने सिपाही को भेज कर ऑफिस में उन्हे बुलाया। उनकी रची स्तुति सुनी। फिर, प्रभावित होकर तीन दिन के बाद उन्हें कारागार से मुक्त कर दिया[1]। इस प्रकार के कई सच्चे उदाहरण अब जैन इतिहास की घटनाएं बन चुके हैं। श्रीमद् राजचन्द्रजी जैसे जैन तो अपूर्व आदर्श हुए। कितने न्यायवान, दयावान, ज्ञानी और हितचिन्तक थे—यह उनके जीवन की घटनाओं से भलीभांति स्पष्ट हो जाता है। वे श्रीमद् राजचन्द्र ही थे, जिन्होंने यह कहा था कि "जैन पानी छान कर पीता है, तो किसी का खून कैसे पी सकता है ?" यह कहते हुए उन्होंने व्यवसाय में होने वाले हजारों रुपयों का लाभ इसलिये छोड़ दिया था कि उनके लाभ के पीछे सामने वाले का घर उजड़ने वाला था। इसी प्रकार अरब देश का एक व्यापारी

---

१. डॉ० नेमिचन्द्र, शास्त्री : तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य-परम्परा, पृ ३००

भाई उन को जो मोती बेच कर गया था, उसमें हजारों का लाभ था। किन्तु श्रीमद् राजचन्द्रजी ने लाभ की चिन्ता न कर उसका सौदा इसलिये वापस कर दिया था कि वह भूल से दे गया था और उस भूल के कारण वह तबाह हो जाता। वास्तव में जैन केवल अध्यात्म में ही नहीं, व्यवहार में भी पारंगत होते हैं। उनमें व्यापार की भांति अध्यात्म की भी परख होती है। कहा गया है कि श्रीमद् राजचन्द्र जी व्यापार से अधिक आत्मतत्त्व में निष्णात थे। पं० गुणभद्र जैन के शब्दों में—"उनकी अन्तरात्मा में भौतिक पदार्थों की महत्ता नही थी। वे जानते थे कि धन पार्थिव शरीर का साधन है; परलोक अनुयायी तथा आत्मा को शाश्वत शान्ति प्रदान करने वाला नहीं है। व्यापार करते हुए भी उनको अन्तरात्मा में वैराग्य गंगा का अखण्ड प्रवाह निरन्तर वहता रहता था। मनुष्य भव के एक-एक समय को वे अमूल्य समझते थे। व्यापार से अवकाश मिलते ही वे कोई अपूर्व आत्म-विचारणा में लीन हो जाते थे। निवृत्ति की पूर्ण भावना होने पर भी पूर्वोदय कुछ ऐसा विचित्र था, जिससे उनको बाह्य उपाधि में रहना पड़ा[1]।"

जैनों के जीवन मे दया और दान साकार रूप से दिखलाई पड़ते हैं। बड़े-बड़े राजा-महाराजाओं, दीवानों, श्रेष्ठि-साहूकारों के जीवन में जहाँ दया-दानशीलता की अनेक रोचक घटनाएँ घटित हुईं, वही बड़े-बड़े विद्वान्, कवियों-पण्डितों और साधारण गृहस्थों के जीवन भी इस प्रकार की विशेषताओं से भरपूर हैं। कहा जाता है कि कविवर बनारसीदासजी बहुत ही दयालु थे। किसी को भी दुखी देखकर उनका हृदय दुःख से भर जाता था। एक दिन वे सड़क पर सूखी जगह में लघुशंका से निवृत्त हो रहे थे। इतने में किसी नए सिपाही ने आ कर उन्हें पकड़ लिया और दो-चार चपत जड़ दिए। किन्तु कविवर मौन ही रहे। दूसरे दिन बादशाह ने किसी कार्य से उन्हें अपने पास बुलाया। वहाँ उस सिपाही ने उनको विराजमान देखा, तो उसके प्राण सूख गए। परन्तु कविवर ने उसे देख कर बादशाह से उस की प्रशंसा करते हुए कहा—यह सिपाही बड़ा ईमानदार है; परन्तु हुजूर! यह गरीब जरूर है। इसका कुछ वेतन बढ़ा दिया जाए, तो बेचारे की ठीक से गुजर होने लगेगी। बादशाह ने तुरन्त ही उसकी वेतन-वृद्धि कर दी[2]। आधुनिक युग में पूज्य बड़े

---

१. कार्तिकेयानुप्रेक्षा के प्रारम्भ में 'श्रीमद् राजचन्द्र', पृ० १२ से उद्धृत।
२. पं. मूलचन्द्र जैन : जैन कवियों का इतिहास, पृ० ४०

वर्णीजी के जीवन की अनेक घटनाएँ इस दयाशीलता पर प्रकाश डालने वाली हैं। जहाँ बड़े-बड़े चक्रवर्ती राजाओं ने इस देश की अखण्डता को स्थापित कर शान्ति की दुन्दुभि बजाई थी, वहीं महाराजा बिम्बिसार (श्रेणिक), सम्राट् चन्द्रगुप्त, सम्प्रति, कलिगनरेश खारबेल, महाराजा आषाढ़सेन, अविनीत गंग, दुर्विनीत गंग, गंगनरेश मारसिंह, वीरमार्तण्ड चामुण्डराय, महारानी कुन्दब्बे, सम्राट् अमोघवर्ष प्रथम, कोलुत्तुंग चोल, साहसतुंग, त्रैलोक्यमल्ल, आहवमल्ल, बोप्पदेव, कदम्ब, सेनापति गंगराज, महारानी भीमादेवी, दण्डनायक बोप्प और नरेश सुहेल आदि ने इस धर्म का प्रचार-प्रसार किया था[1]। केवल दक्षिण भारत में विशेष, रूप से मैसूर के गंग और कदम्ब राजवंशों में तथा दक्षिण-पश्चिम के चालुक्यों में और उनके राजघरानों में अनेक जैनधर्म के अनुयायी हुए[2]। अपने-अपने युगों में राजा-महाराजाओंने ही नही, पाड़ाशाह, भामाशाह जैसे श्रेष्ठिजनों ने जिन जिन-मन्दिरों एवं जैन मूर्तियों का निर्माण कराया, वे स्थापत्य और वास्तु-कला की दृष्टि से आज भी इस देश की अमूल्य धरोहर है। पाड़ाशाह व्यापार के निमित्त से जहाँ-जहाँ गए, उन्होंने वहाँ मनोज्ञ जिन-मन्दिरों का निर्माण अवश्य कराया। महाराजात्रैलोक्यमल्ल की रानी केतलदेवी ने कर्नाटक प्रान्त में सैकड़ों जिन-मन्दिर बनवाए। गंगनरेश राजमल्लदेव के प्रधान सचिव तथा सेनापति चामुण्डराय ने श्रवणबेलगोला (मैसूर) में स्थित विन्ध्यगिरि पर गोमटेश बाहुबली भगवान की सत्तावन फुट ऊँची अतिशय मनोज्ञ जिन-प्रतिमा प्रतिष्ठित की थी। अपभ्रंश भाषा के 'पार्श्वनाथचरित्र' के रचयिता मुनि देवचन्द्र ने अनेक जिन-मन्दिरों का उद्धार कराया था। आज भी जैन समाज मे यह प्रवृत्ति विद्यमान है। समय-समय पर वीतरागता के पोषक अनेक भव्य जिन-मन्दिरों तथा स्वाध्याय-मन्दिरों का निर्माण होता रहा है। बनारस के राजा भीमसेन जैनधर्म के अनुयायी थे जो अन्त समय में पिहिताश्रव नामक जैन मुनि बन गए थे। मथुरा का राजा रणकेतु जैनधर्म का भक्त था। वह

---

१. डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन : प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलाएं, ज्ञानपीठ प्रकाशन, १९७५, पृ० ३४-१४४

२. डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन : रिलीजन एण्ड कल्चर ऑव द जैन्स, ज्ञानपीठ प्रकाशन, १९७५, पृ० २५

अपने भाई गुणवर्मा सहित नित्य जिन-पूजन किया करता था। वह भी अन्त समय में गुणवर्मा को राज्य देकर जैनमुनि बन गया था। शौरीपुर (आगरा) का राजा जितशत्रु भी जैन था। वह विद्वानों का बड़ा सम्मान करता था। अन्त समय में वह भी शान्तिकीर्ति नामक जैन मुनि हो गया था[1]। मूलसंघ के अनुयायी ब्रह्मसेन बहुत बडे विद्वान् तथा तपस्वी थे। अनेक ब्राह्मण विद्वान् तत्त्व-निर्णय कर जैनधर्मावलम्बी हुए। आचार्य सिद्धसेन और ब्रह्मशिव जैसे अगणित जैन विद्वान् शत-सहस्राब्दियों में हुए। वत्सगोत्री ब्रह्मशिव ने सम्पूर्ण भारतीय दर्शनो का तुलनात्मक अध्ययन कर "समय-परीक्षा" नामक ग्रन्थ रचा था जो वर्तमान मे उपलब्ध है[2]।

यथार्थ में इन सब से बढ़कर जो वृत्ति सच्चे जैन में मिलती है, वह है- वीतरागता की दृष्टि। कई वार अनेक शास्त्रों को सुनकर, पढ़कर, विचार करने पर भी दृष्टि के अभाव में अर्थग्राही मात्र रह जाते है। शब्दों को पढ़कर अर्थ समझना श्रेष्ठ है, किन्तु अर्थ पर ही रुके रहना पर्याप्त नही है। अर्थ से आगे भाव-भासन करना हमारा लक्ष्य है। क्योंकि अर्थ का, पदार्थ का अनुभव हुए विना हमारा श्रद्धान सच्चा नहीं हो सकता। पदार्थ का वास्तविक अनुभव वीतरागता की दृष्टि से होता है। क्योंकि शुद्ध दृष्टि से ही शुद्ध द्रव्य की प्रतीति होती है। अतएव सम्यक्त्व के निमित्त वीतरागता की दृष्टि आवश्यक ही नही, अत्यन्त अनिवार्य है। वीतरागता की दृष्टि से ही वीतरागता का श्रद्धान होता है। प० रायमल्लजी के शब्दों मे—"सो सम्यकदृष्टि के सरधान में वीतराग है। प्रवृत्ति मे किंचित् राग भी है। ताको चारित्रमोह कारन अरु सरधान के भावा को दर्सनमोह कारन। सो सम्यकदृष्टि के अल्प कषाय नाहीं गनि वीतराग भाव ही कहिये[3]।" सच मे सम्यग्दृष्टि के वीतराग भाव ही होता है। क्योंकि आत्म-अनुभव के आस्वादक वे परमानन्द दशा को प्राप्त करने वाले होते है। ऐसे ही जैनों को लक्ष कर पं० वनारसीदासजी कहते है :

मोक्ष चलिवे को पंथ भूले पंथ पथिक ज्यो,
पथ वलहीन ताहि मुखरथ सारसी।

---

१ डॉ० कामताप्रसाद जैन दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि, द्वितीय संस्करण, पृ० १४०

२. प० परमानन्द शास्त्री जैनधर्म का प्राचीन इतिहास, भा० २, पृ० ३३३

३. ज्ञानानन्द श्रावकाचार, पृ० १४८

सहज समाधि जोग साधिवे को रंग-भूमि,

परम अगमपद पढ़िवे को पारसो ।।

भव-सिन्धु तारिवे को सबद धरे है पोत,

ज्ञान-घाट पाये श्रुत-लंगर ले झारसी ।

समकित नैननि को याके बैन अंजन से,

आतमा निहारिवे को आरसी बनारसी ।। (ज्ञानबावनी, ४४)

कवि बनारसीदासजी के वर्णन का सार यही है कि हे आत्मन् ! तू आत्मज्ञान—अमृतरस का पान कर, उससे ही भव-समुद्र से पार हो सकेगा ।

आत्मानुभूति : निश्चयज्ञान

सामान्यतः स्वसंवेदन, आत्मानुभूति या आत्मानुभव तीनों का एक अर्थ है । 'आत्मा' और 'अनुभूति' इन दो शब्दों से मिलकर 'आत्मानुभूति' शब्द बना है, जिसका अर्थ है—आत्मा का अनुभव । मोक्ष-मार्ग में चलने का आत्मानुभव मात्र एक उपाय है । यह पहले ही कहा जा चुका है कि आत्मा नियम से स्व-संवेदन ज्ञान द्वारा ज्ञात होता है । आत्मा को जानने-देखने में स्वानुभव ही सबसे बड़ा प्रमाण है । आत्म-स्वभाव से बढ़कर संसार में अन्य कोई श्रेष्ठ विभूति नहीं है । इसलिए मोक्षमार्ग के पथिक को अपनी ही विभूति देखनी चाहिए, पर की विभूति को देखने से क्या लाभ? आत्मा के वैभव को देखने से क्या लाभ होता है ? इसे समझाते हुए हुए पं० दीपचन्दजी कासलीवाल कहते हैं : "यहु आत्मा अपनी निज जाति रूप विषै ज्यों ही-ज्यों ही (जैसे-जैसे) परिनमे है, विश्राम लेइ है, त्यों ही त्यों ही (वैसे-वैसे) अशुद्ध भाव जु है, तिसी काल के विषे यत्न बिना ही आपन पें (अपने आप) ही कहूं नाश होइ जाइ है । ते (वह ही) अशुद्ध भाव जु है, अनित्य भाव कों है । यहु हेयभाव जिनवचन में कह्या[1] ।"

यथार्थ में स्वात्मानुभूति से यह जीव सम्यक् रूप से दर्शन-ज्ञानपने को उपलब्ध होता है । क्योंकि सभी प्रकार के शुभ-अशुभ संकल्प-विकल्पों से रहित, परम निजस्वभाव के अनुभव से उत्पन्न, यथार्थतः परमानन्द

---

१. जह ससहावे परिणमदि, तह विभावो सयं सहयेण हीयदि ।
तं तत्थ हेय भावं, हेयभावमिणयं जिण—णिद्दिट्ठं ।। आत्मावलोकन, गा० ८
—आत्मावलोकन, पृ० १८ से उद्धृत ।

लक्षण स्वरूप सुखामृत के रसास्वादन से तृप्त निजात्मा के द्वारा जो निज स्वरूप का संवेदन, जानना व अनुभव करना है, वही निर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञान निश्चयज्ञान कहा जाता है[1]। यह सम्यज्ञान ही मोक्ष के लिए कार्यकारी है अतएव जिस प्रकार सभी पदार्थों का सार आत्म-तत्त्व है, उसी प्रकार सभी शास्त्रों के पढ़ने-समझने का सार एक आत्मानुभव है। कहा भी है : यदि तू मोक्ष चाहता है, तो प्रति दिन केवलज्ञानस्वभावी चेतन्य मात्र का अनुभव कर[2]।

आत्मानुभूति क्या है ?

आत्मानुभूति का उद्देश्य आत्म-दर्शन है जो मोक्ष का कारण है। अतः मुनि योगीन्द्रदेव कहते हैं कि अन्य विकल्पों को करने से क्या लाभ है? जो निश्चय से मोक्ष का कारण है, उस आत्मानुभव को प्राप्त कर[3]। वह आत्मानुभव क्या है ? यही मुख्य प्रश्न है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि अध्यात्म की शुद्ध दृष्टि में आत्मा एक अखण्ड पदार्थ है, उसमें कोई भेद नही है। वास्तव में अबद्ध, अस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष तथा असंयुक्त आत्मा का अनुभव करना शुद्ध दृष्टि है। आत्मा कर्मों से बंधा हुआ नहीं है। आत्मा को कोई बांध नही सकता; क्योंकि आत्मा अमूर्त है; और इसीलिए कोई भी वस्तु उसे स्पर्श नही कर सकती। उस जैसी लोक में अन्य वस्तु नही है। वह जैसी है, वैसी ही है। शब्दों से उसे नहीं बताया जा सकता। वह किसी से मिली-जुली न होकर सबसे भिन्न है। ऐसी आत्मा का अनुभव करना शुद्धनय है। परमार्थ से यह अनुभूति ही आत्मा है। अतः शुद्धनय कहिए या आत्मा की अनुभूति कहिए, दोनों का अभिप्राय एक है। पं० जयचन्द्रजी छावड़ा के शब्दों में—"शुद्धनय कहो तथा आत्मा की अनुभूति कहो तथा आत्मा कहो

---

१. "समस्त शुभाशुभसंकल्पविकल्परहितेन परमस्वास्थ्यसंवित्तिसमुत्पन्नतात्त्विक-परमानन्दैकलक्षणसुखामृततृप्तेन स्वेनात्मना स्वस्य सम्यग्निर्विकल्परूपेण वेदन परिज्ञानमनुभवनमिति निर्विकल्प—स्वसंवेदनज्ञानमेव निश्चयज्ञानं भण्यते।"
—बृहद्द्व्यसंग्रह, गा० ४२ की टीका।

२. सुद्धु सचेयणु बुद्धु जिणु केवलणाणसहाउ।
सो अप्पा अणुदिणु मुणहु जइ चाहउ सिवलाहु।। योगसार, दो० २६

३. अप्पादंसणु इक्कु परु अण्णु ण किं पि वियाणि।
मोक्खहं कारण जोइया णिच्छय एहउ जाणि।। योगसार, दोहा, १६

एक ही है, न्यारा कछू नाहीं है। आत्मा पंच भावनि करि अनेक प्रकार पणा है सो अभूतार्थ है, असत्यार्थ है। द्रव्यार्थिक शुद्धनय करि देखिए तो सर्व ही सत्यार्थ है। वस्तु-स्वरूप की प्राप्ति भये पीछे याका आलंबन नाहीं है[1]।" वास्तव में आत्मा को ढूँढ़ने के लिए कहीं जाने की आवश्यकता नहीं है। आत्मा कही बाहर में नहीं है। जल में कमल की भाँति यह हमारे अन्तरंग में विराजमान है। इस प्रकार भलीभाँति शुद्धनय के विषयभूत आत्मा की अनुभूति करना सो ही ज्ञान की अनुभूति है। यही स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं– "शुद्धनय स्वरूप आत्मा की अनुभूति ही वास्तव में ज्ञान की अनुभूति है। यह जानकर आत्मा में आत्मा को निश्चल स्थापित कर 'सदा सर्व ओर एक ज्ञानघन आत्मा है' इस प्रकार अनुभव करना आत्मानुभूति है[2]।" ब्र० शीतलप्रसादजी के शब्दों में "गृहस्थ आत्मानुभव के लिए सामायिक का अभ्यास करते हैं[3]।"

आत्मानुभव से आत्मा का दर्शन होता है, आत्मभान होता है। बीच का पर्दा हट जाता है और फिर कुछ जानने लायक नही रह जाता। आत्मा को जानना-देखना ही आत्मानुभव का उद्देश्य है। जिसे आत्मा का भान नहीं, सर्वज्ञता की पहचान नही, अपनी द्रव्य-गुण-सत्ता का परिचय नहीं, वह तो नाम मात्र का जैन है। अतएव जैन बनने की वास्तविक प्रक्रिया इस आत्मानुभव से प्रारम्भ होती है, सम्यग्दर्शन से होती है। मोक्षमार्ग में रत्नत्रय का धारी ही जैन कहा जाता है। अतएव सच्चा जैन होने के लिए आत्मानुभूति परम उपादेय है। किन्तु प्रश्न यह है कि यह आत्मानुभव कैसे होता है?

आत्मानुभव का उपाय

यह ठीक से समझ लेने पर कि आत्मानुभव क्या है; उसकी प्राप्ति का उपाय भी आसान हो जाता है। वास्तव में अनुभव क्या है? इसे समझाते हुए पं० बनारसीदासजी 'समयसार' की उत्थानिका में कहते हैं :

वस्तु विचारत ध्यावतें मन पावे विश्राम।
रस-स्वादत सुख ऊपजे अनुभव याको नाम ॥१७॥

---

१. समयप्राभृत वचनिका, समयसारकलश १२ की व्याख्या।

२. आत्मानुभूतिरिति शुद्धनयात्मिका या
ज्ञानानुभूतिरियमेव किलेति बुद्ध्वा।
आत्मानमात्मनि निवेश्य सुनिष्प्रकम्प–
मेकोऽस्ति नित्यमवबोधघनः समन्तात् ॥ समयसारकलश, १३

३. योगसार टीका, पृ. २४६

'वस्तु' से यहाँ अभिप्रायः त्रिकाली ध्रुव आत्मा से है। स्वसत्ता के आलम्बन से ज्ञानी निजात्मा का अनुभव करते हैं। अमूर्तिक चिदानन्द स्वभाव का अनुभव अतीन्द्रिय होता है। इसलिये यहाँ जो पदार्थ का चिन्तन-मनन करना कहा है सो मनपूर्वक कहा है। यह स्वानुभव मन से होता है; क्योंकि इस अनुभव मे मति-श्रुतज्ञान ही है; अन्य ज्ञान नहीं है। स्वानुभव होने के पूर्व हमारा मन ही विकल्प करता है, मन ही उपयोग को सक्रिय-निष्क्रिय बनाता है, मन ही प्रवृत्ति करता है; इसलिए मन की निराश्रयी प्रवृत्ति होने के कारण इसे मनजनित कहते हैं। परन्तु विषयों की ओर प्रधावमान दशा में आत्मानुभव नहीं हो सकता है, ज्ञान की निश्चल दशा में ही आत्मानुभव होता है। कैसा ज्ञान? यही कि मैं ज्ञान-ज्योति से प्रकट हुआ हूं। इसलिए ज्ञान मात्र की वृत्ति है; ज्ञान ही मेरा स्वरूप है। ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा का चिन्तन-मनन-भावन किए बिना उसका भान नही होता। और आत्मा का भान हुए बिना हम आत्मा के सन्मुख नही हो सकते। आत्मा के सन्मुख हुए बिना आत्म-दर्शन नहीं हो सकता। श्रीमदमितगति आत्मानुभव का उपाय बताते हुए कहते हैं: इन्द्रियो को अपने विषयों से रोककर आत्मध्यान का अभ्यास करने वाले को आत्म-स्वरूप साक्षात् अनुभव मे आता है[1]।

प्रश्न यह है कि यह आत्मानुभव क्यो किया जाता है? उत्तर यह है कि निराकुल होने के लिए। फिर, प्रश्न है कि निराकुलता क्या है? जिसमें किसी प्रकार का सकल्प-विकल्प नही है, ऐसे सच्चे सुख को निराकुल सुख कहा जाता है जो सदा एक-सा बना रहता है। इस शाश्वत सुख को प्राप्त करना ही मुक्ति पाने का उद्देश्य है। इसी से आत्मा का हित होता है[2]। मन के सब ओर से एकाग्र हो जाने पर, एक बिन्दु पर ठहर जाने से मन की चंचलता रुक जाती है। इसे ही "मन का विश्राम" कहा गया है। आजकल के लोगों की यही सब से बड़ी समस्या है कि मन कैसे रुक सकता है?

---

१ निषिध्य स्वार्थतोऽक्षाणि विकल्पातीतचेतसः।
तद्रूप स्पष्टमाभाति कृताभ्यासस्य तत्त्वतः॥ योगसारप्राभृत अ० १, श्लो. ४५.

२. आतम को हित है सुख सो सुख, आकुलता बिन कहिये।
आकुलता शिव माहिं न तातें, शिव-मग लाग्यो चहिये॥ छहढाला, ३, १

यह मन तो पवन से भी अधिक चंचल है, गतिवान है। हवा को अमेरिका, लन्दन पहुँचने में समय लगता है, किन्तु यह तो उसी समय विचार करते ही अपने सामने न्यूयार्क का बाजार देख लेता है। आँखों के सामने देखा हुआ बाजार घूम जाता है। तरह-तरह के चित्र तैरने लगते हैं। लगता है कि सभी आँखों के सामने देख रहे हैं। क्योंकि जो कुछ भी घटता है या घटने वाला है, वह प्रथम मनोलोक में जन्म लेता है। मानसिक जगत की प्रतिक्रिया स्वरूप बहिर्लोक मे तत्पश्चात् घटित होता है। यद्यपि मानसिक जटिलताएँ भी कम नही हैं, जिनमें से होकर गुजरना पड़ता है। सामान्य व्यक्ति भी उनका अहसास करता है। वास्तव में अपने राग का अनुभव तो सभी करते है। रागात्मक अनुभति को ही अधिकतर मनुष्य आत्मानुभूति मानकर तुष्ट हो जाते हैं। मनुष्य को सुख मिलना चाहिए, फिर कैसा ही हो? वास्तव में इन्द्रियों के विषयों से आत्मानुभूति प्राप्त नहीं होती। जो इन्द्रियों का सुख चाहता है, उसे तो आत्मानुभव हो ही नहीं सकता।

अनुभूति या अनुभव कोई भी कर सकता है। इन्द्रिय-विषयों का जो अनुभव है, वह बाह्य सुख है, क्षणिक है; किन्तु निजात्मा का अनुभव अन्तरंग का सुख है, स्थिर रहने वाला आत्मिक सुख है[1]। प्राय: बाह्य भौतिक जगत से आकृष्ट होकर हम अनगिनत वस्तुओं का प्रतिदिन अनुभव करते है। किन्तु इन लौकिक वस्तुओं के अनुभव में दो बातें मुख्य हैं—एक तो हम मिश्रित वस्तुओं का स्वाद लेते है, उनका अनुभव करते है और दूसरे यह अनुभव इन्द्रियजन्य होता है। जिस प्रकार हम दुनिया की चीजों को इन्द्रियों से ग्रहण कर, चखकर, सूंघकर, छूकर उनको जानते है। उसी प्रकार मन के व्यापारों के द्वारा हम जो अनुभव करते है, वह सब सामान्य रूप से जड़ वस्तुओं का होता है। परन्तु यहाँ जड़ वस्तु के सम्बन्ध में नही, चेतन के विषय में बताया जा रहा है और वह भी संयोगी अवस्था का नहीं; शुद्ध चेतन पदार्थ का। इसलिए अनुभूति से हमारा अभिप्राय: लोक की अन्य वस्तुओं से न होकर उस आत्म-पदार्थ से है जो शुद्ध, बुद्ध, नित्य निरंजन है और जिसके ध्यान से मुक्ति-पद की प्राप्ति होती है। इस आत्मानुभव

१. विषयानुभवं बाह्यं स्वात्मानुभवसान्तरम्।
विज्ञाय प्रथमं हित्वा स्थेयमन्यत्र सर्वतः॥ योगसारप्राभृत, अ० ९, श्लो. ७५

को जानने का उपाय यह है—भेद-विज्ञान के द्वारा अपनी ज्ञानशक्ति को जाना जाता है, जिसे स्वसंवेदन कहा गया है। पं० दीपचन्दजी शाह के शब्दों में—"यो करि जब सम्यग्दृष्टि के ज्ञान, दर्शन, चारित्र सहित परिणाम निज चिन् वस्तु ही को व्याप्य-व्यापक रूप देखतें-जानतें तिष्ठे, निज व्याप्य-व्यापक स्वाद लेहि, तिस स्व-स्वाद दशा का नाम स्वानुभव कहिए। तो ऐसे स्व-अनुभव होते तब छदमस्थी जीव के दर्शन, ज्ञानादि परनामहि को निर्विकल्प सम्यक्ता उपजे है। सो जघन्य ज्ञानी सम्यक्दृष्टि के निर्विकल्प उपयोग सम्यक्ता जाननी। तिस काल यहाँ स्व-संवेदन का यहु अर्थ जानना-स्व कहिए मे-आपु ज्ञान, सं कहिए साक्षात् प्रत्यक्ष करि, वेदन कहिए इस वस्तु स्यो व्याप्य-व्यापक रूप जानना[1]।"

जब तक मनुष्य चिन्ताग्रस्त है, तरह-तरह के संकल्प-विकल्पों में उलझा हुआ है, भीतर में आर्त-रौद्र ध्यान चल रहा है, तब तक धर्मध्यान रूप आत्मानुभव नही होता। मन में निश्चिन्तता पहली शर्त है। जैसे कि नदी-समुद्र मे तेज लहरों के उठने पर सम्पूर्ण जल उछलने लगता है, मंथन करने लगता है, वैसे ही अत्यन्त तीव्रता से विकल्पों के उठने पर भावों में कलुषता का उन्मेष हो जाता है। जैसे लहरों के शान्त हो जाने पर जल स्थिर हो जाता है और सारी कीचड नीचे बैठ जाती है, वैसे ही भावों के आवेग मन्द होते ही चित्त स्वच्छ हो जाता है। जब अपना मन निश्चल हो जाता है और सभी भेदरूप विचार के विकल्प समूह नष्ट हो जाते है, तब निर्विकल्प एवं अभेद तथा निश्चल नित्य शुद्ध आत्मा के स्वभाव की ओर दृष्टि स्थिर हो जाती है[2]।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि अध्यात्म में मोक्षमार्ग के पथिक के लिए जिन गुणों को अत्यावश्यक माना गया है—उनमें सब से महत्त्वपूर्ण है—आस्तिक्य। आस्तिक्य का अर्थ है : आत्मा परमात्मा बन सकता है।

---

१. आत्मावलोकन, पृ० १६३ से उद्धृत।

२. इंदियविसयविरामे मणस्स णिल्लूरणं हवे जइया।
तइया तं अवियप्पं ससरूवे अप्पणो तं तु॥
समणे णिच्चलभूये णट्ठे सव्वे वियप्पसंदोहे।
थक्को सुद्धसहावो अवियप्पो णिच्चलो णिच्चो॥ तत्त्वसार, गा० ६-७

जब तक आत्मा के अस्तित्व का सत्यार्थ श्रद्धान न हो, तब तक कोई भी धर्मात्मा नहीं बन सकता। आस्तिक्य दो प्रकार का कहा गया है—समीचीन आस्तिक्य और मिथ्या आस्तिक्य। अस्तित्व तो किसी का भी स्वीकार किया जा सकता है, किन्तु मिथ्या आस्तिक्य जड़ को चेतन मानना है। परन्तु केवल जड़ को ही जड़ मानना और आत्मा को केवल चिन्मय चैतन्य मानना समीचीन आस्तिक्य है। समीचीन आस्तिक्य को ही सम्यक् आस्तिक्य कहा जाता है जो स्वानुभूतिरूप लक्षण सहित सम्यक्त्व का अविनाभावी है[1]। यह आस्तिक्य गुण भी तब प्रकट होता है, जब कषायों में मन्दता हो, संसार का स्वरूप जानकर धर्म को उपलब्ध होने के लिए पुरुषार्थ के प्रति उत्साह हो और प्रत्येक पदार्थ के स्वतन्त्र अस्तित्व का श्रद्धान हो। अतएव तत्त्वार्थ श्रद्धान में आत्मानुभूति ही प्रधान है। यह परमार्थ से ज्ञानानुभूति है और अनुभूति के समय में किसी भी प्रकार का शुभ या अशुभ रूप विकल्प नहीं रहता है, दोनों की निवृत्ति हो जाती है[2]। यथार्थ में स्वरूप का निश्चय होते ही सहज आनन्द की तरंगें उठने लगती हैं, उससे ऐसी एकता स्थापित हो जाती है कि ध्यान में और ध्यान करने वाले में कोई भेद नहीं रह जाता, दोनों एकमेक हो जाते हैं। इस अद्वैत की स्थिति को ही निर्विकल्प दशा कहा गया है। यह दशा आत्म-ज्ञानी को प्राप्त होती है। आचार्यकल्प पं० टोडरमलजी के शब्दों में—"चैतन्य स्वरूप जो सविकल्प से निश्चय किया था, उस ही में व्याप्य-व्यापक रूप होकर इस प्रकार प्रवर्तता है जहाँ ध्याता-ध्येयपना दूर हो गया। सो ऐसी दशा का नाम निर्विकल्प अनुभव है। बड़े नयचक्र ग्रन्थ में ऐसा ही कहा है—तत्त्व के अवलोकन (अन्वेषण) का जो काल उसमें समय अर्थात् शुद्धात्मा को युक्ति अर्थात् नय-प्रमाण द्वारा पहले जाने। पश्चात् आराधन समय जो अनुभवकाल उसमें नय-प्रमाण नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष अनुभव है। जैसे रत्न को खरीदने में अनेक विकल्प करते हैं, जब प्रत्यक्ष उसे पहनते हैं तब विकल्प नहीं है; पहनने का सुख ही है। इस

---

१. सम्यक्त्वेनाविनाभूतंस्वानुभूत्यैकलक्षणम्।
आस्तिक्यं नाम सम्यक् तत् मिथ्यास्तिक्यं ततोऽन्यथा।। पंचाध्यायी, २, ४५१

२. णादाणुभूइ सम्मं णिच्छयणाणं तु जाणगं तस्स।
सुहअसुहाण णिवित्ति चरणं साहुस्स वीयरायस्स।। नयचक्र, गा० ३७९

प्रकार सविकल्प के द्वारा निर्विकल्प अनुभव होता है[1] ।" इसलिए यह कहना उचित नहीं है कि जो तत्त्वों का निर्णय करने वाला मुमुक्षु है, वह निर्विकल्प अनुभव नहीं कर सकता है। इसी प्रकार यह भी एक प्रश्न है कि उक्त गाथा में निर्विकल्प अनुभव को प्रत्यक्ष कहा गया है, किन्तु परमागम में केवल-ज्ञान ही अकेला वास्तविक प्रत्यक्ष माना गया है; अन्य ज्ञान परोक्ष माने गए है। लोक-व्यवहार में अवश्य इन्द्रियजन्य मतिज्ञान प्रत्यक्ष माना जाता है। इसलिए वह सम्यक् आस्तिक्य गुण सुख-दुःखादि के समान स्व-संवेदन गोचर स्व-संवेदन प्रत्यक्ष कैसे होगा? क्योंकि वह न तो केवल ज्ञान रूप है और न इन्द्रिय ज्ञान रूप ही है, जिससे उसे प्रत्यक्ष नही कहा जा सकता है[2]। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए पंचाध्यायीकार कहते है–ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान पर-पदार्थ को जानते समय परोक्ष हैं, किन्तु स्व-संवेदन के समय प्रत्यक्ष है। दर्शन मोहनीय के उपशम, क्षय या क्षयोपशम होने के कारण स्वानुभव-काल में मति-श्रुतज्ञान प्रत्यक्ष हैं। वास्तव में तो वही प्रत्यक्ष है। यदि उसे प्रत्यक्ष न माना जाए, तो केवलज्ञान भी प्रत्यक्ष नही रह जाएगा[3]।

स्वानुभव : सच्चा समय

स्वानुभव ही आराधना का सच्चा समय है। वास्तव में नय-प्रमाण आदि के विचार मिटने पर स्वानुभव का उदय होता है। स्वानुभव सहज दशा ही है। स्वानुभव में स्व-संवेदन के अतिरिक्त अन्य किसी का भान नही होता। पं० रायमल्लजी के शब्दों में–"मैं प्रत्यक्ष ज्ञाता, दृष्टा अमूर्तिक सिद्ध सादृश्य देखूँ हूं अरु जानू हूँ, अनुभवू हूँ। सो अनुभवन में कोई निरा-

---

१. पण्डितप्रवर टोडरमलजी की रहस्यपूर्ण चिट्ठी, पृ० ३
तथा–तच्चाणेसणकाले समय बुज्झेहि जुत्तिमग्गेण ।
णो आराहणसमये पच्चक्खो अणुहवो जह्मा ।। नयचक्र, गा० २६८

२. ननु वै केवलज्ञानमेकं प्रत्यक्षमर्थतः ।
न प्रत्यक्षं कदाचित्तच्छेषज्ञानचतुष्टयम् ।।
यदि वा देशतोऽध्यक्षमाक्ष्यं स्वात्मसुखादिवत् ।
स्वसंवेदनप्रत्यक्षमास्तिक्यं तत्कुतोऽर्थतः ।। पंचाध्यायी, २, ४६०-६१

३. सत्यमाद्यद्वयं ज्ञानं परोक्षं परसंविदि ।
प्रत्यक्षं स्वानुभूतौ तु दृङ्मोहोपशमादितः ।। पंचाध्यायी, २, ४६२

कुलत्व सुख शान्तिक रस उपजे है। अरु आनन्द श्रवे है सो यह आ
प्रभाव मेरे अखंड असंख्यात आत्मीक प्रदेश में धाराप्रवाह रूप होय
है। ताकी अद्भुत महिमा मै जानूं हूं के सर्वज्ञदेव जानें; वचनगोचर नाहीं[1]
स्वानुभव की केवल इतनी ही महिमा नही है, वल्कि साक्षात् समयसार
दर्शन इस से ही होता है। इसलिए लिखते हुए वे आगे कहते हैं—"अरु त
काल के सम्बन्धी सर्व पदार्थ के पर्याय की पलटनी दीसे है। केवलज्ञान
जानपना प्रत्यक्ष मोकूं दीसे है। सो ऐसा ज्ञान का धनी कौन है? ऐसा ज्ञ
किनके भया? ऐसा नायक पुरुष तो प्रत्यक्ष साक्षात् विद्यमान मोनें दीसे है
अरु यह जहाँ तहाँ ज्ञान ही ज्ञान का प्रकाश मोनें दीसे है[2]।" यही वास्तवि
अनुभूति है। केवल भाव मात्र से राग का वेदन करना अनुभूति नही है
अनुभूति का सच्चा समय अनुभव मात्र है। अनुभव के समय में 'मैं' रह
हुआ भी नही रहता। उस समय न तो कर्तृत्व का भाव उठता है और न प
पदार्थों की मान्यता का ही ख्याल होता है। सभी प्रकार के अहसासो क
भूलकर केवल एक अपना भाव और उसी में लीनता होना स्वानुभव क
सच्चा समय है। पं० दौलतरामजी कहते है:

> जहाँ ध्यान ध्याता ध्येय को न विकल्प वचभेद न जहाँ।
> चिद्भाव कर्म चिदेश कर्ता, चेतना किरिया तहाँ॥
> तीनों अभिन्न अखिन्न शुध, उपयोग की निश्चल दशा।
> प्रगटी जहाँ द्रग ज्ञान व्रत ये, तीनधा एकै लसा॥
> परमाण नय निक्षेप को न उद्योत अनुभव मे दिखै।
> दृग ज्ञान सुख बलमउ सदा, नहिं आन भाव जस मो बिखै॥
>
> छहढाला, ६, ९

तत्त्वार्थ का निर्णय करके जब यह जीव भलीभाँति यह समझ लेत
है कि धर्म का सार निजात्मानुभव है, तब उस ओर इसकी वृत्ति ढल जात
है। किन्तु जब तक यह विचार करता रहता है कि मं पर-पदार्थों क
विषयों से हटूं, अपने उपयोग की ओर झुकूं, विभाव से अपना नात

---

१. ज्ञानानन्द श्रावकाचार, पृ० २४८ से उद्धृत।

२. वही, पृ० २४९

तोड़ूं और स्वभाव से अपने को जोड़ूं, इत्यादि विकल्पों का समय आत्मानुभूति का नहीं होता। जैसे कि कोई महिला रत्नजटित हार बनवाना चाहती है, तो उसके सम्बन्ध में वह तरह-तरह के विचार करती है–रत्न किस जाति के हैं, पानी की झलक कैसी है, इनका रंग कैसा है, अमुक रंगों के साथ यह खिलेगा या नहीं, इसके साथ क्या-क्या होना चाहिए, इत्यादि अनेक प्रकार के विकल्प क्षण-क्षण में उत्पन्न होते हैं। किन्तु जब रत्नों का हार बनकर तैयार हो जाता है और वह उसे धारण कर लेती है, तब कोई विकल्प नहीं रह जाता। इसी प्रकार अनुभव करने के पूर्व विचार-दशा में तरह-तरह के विकल्प होते है, जिन विकल्पों से आत्मानुभव नहीं होता; क्योंकि आत्मानुभव के समय में कोई विकल्प नहीं होता। आत्मानुभव को तो प्रत्यक्ष कहा गया है। पं० दीपचन्दजी कासलीवाल के शब्दों में–"निरन्तर अपने स्वरूपकी भावना में मग्न रहै, दर्शन-ज्ञान–चेतना का प्रकाश उपयोग द्वार में दृढ़ भावै। चित्परिणति तें स्वरूप रस होय है। द्रव्य, गुण, पर्याय का यथार्थ अनुभवना अनुभव है। अनुभवतें पंच परमगुरु भये, होहिंगे। सो प्रसाद अनुभव का है। अनुभव आचरण को अरिहंत सिद्ध सेवै है। अनुभव में अनन्त गुण के सकल रस आवै है सो कहिये है। ज्ञान का प्रकट प्रकाश अनन्त गुण कों जानै। ज्ञान विशेष गुण कों परिणति परणवै, वेदै, आस्वाद करै। तहाँ अनुपम आनन्द फल निपजै। ऐसें ही दरसन कौं परिणति परणवै, वेदै, आस्वाद करै, सुखफल निपजै। याही रीति सब गुण कों परणवै, वेदै, आस्वादै, आनन्द अनन्त अखण्डित अनुपम रस लीये उपजे। तातें सब गुण का रस परिणति के द्वार अनुभव करवे में आया। ऐसे ही द्रव्य को परणवै, वेदै, आस्वादै, आनन्द पावै। तब परिणति-द्वार द्रव्य अनुभव भया। अनुभव का रस गुण-परिणति एकरस भये होय है। वस्तु का स्वरूप है[1]।"

यद्यपि समय मात्र भी ऐसा नहीं बीतता, जिस समय यह जीव अनुभव न करता हो। किन्तु सांसारिक विषय-भोगों का अनुभव दुर्ध्यान कहा जाता है। वह अपना अनुभव न होकर पर-पदार्थ का अनुभव तथा इन्द्रिय-विषयों का सेवन होता है। पर-पदार्थों में यह जीव अपने आपको इतना भूला रहता है कि मेरा निज का कुछ अस्तित्व है–इसका उसे भान नहीं होता। किन्तु

---

१. अनुभवप्रकाश, पत्र सं० ३-४ से उद्धृत।

अनुभव के समय में यह अपने चिन्मात्र स्वरूप का वेदन करता है; वहाँ अन्य किसी प्रकार का भाव नहीं रहता।

स्वानुभव के समय कैसी स्थिति ?

प्रश्न यह है कि आत्मानुभूति के समय में क्या जानने में आता है ? यह जो जानने वाला है, वह मैं हूँ। इससे भिन्न अन्य कुछ मैं नहीं हूँ। इस प्रकार अपने आपका अभेदरूप अनुभव करना—यही जानन क्रिया है और उस क्रिया का कर्ता स्वयं है। जानने वाले ने जिसको जाना, वह भी स्वयं है। ऐसा एक ज्ञायक मात्र आप शुद्ध है। ज्ञाता-ज्ञेय का वहाँ कोई भेद नहीं रहता। अतएव आत्मानुभूति की दशा में हम संयोगजनित अवस्था से भिन्न केवल ज्ञायक दशा में होते हैं।

वस्तुत. स्वानुभव ध्यान की स्थिति है। ज्ञान चलाचल रूप है और ज्ञान की निश्चलता ध्यान है। इस दशा में मन एकाग्र होकर केवल ज्ञायक स्वरूप मय होता है। आत्मा की शुद्ध ज्ञानानन्दमयी दशा का अनुभव करते हुए समय मात्र के लिए ज्ञान की निश्चलता को प्राप्त करना आत्मानुभूति है। इस स्थिति मे ज्ञानानन्द स्वभाव में तल्लीनता एव तन्मयता हो जाती है, किसी प्रकार का द्वैत नही रहता; केवल एक अद्वैत अवस्था रहती है।

उक्त विवेचन से यह नहीं समझ लेना चाहिए कि यह निर्विकल्प दशा जब बननी होगी, तब बन जाएगी। हम कोई उपाय नहीं कर सकते। वास्तव में शुद्धात्मतत्त्व का विचार करना ही अनुभूति के लिए अभ्यास है। यदि विचार ही न हो, सविकल्प अनुभूति न हो, तो निर्विकल्प दशा की प्राप्ति भी नहीं हो सकती। क्योंकि इस प्रकार का विकल्प पहले करे, तब बाद में विकल्प अपने आप छूटता है, टूटता है। विचार करने में मात्र विकल्प ही नहीं होता है, ज्ञान के साथ ही तत्त्व-निर्णय भी होता है। जैसे-जैसे ज्ञान की धारा बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे विकल्प खण्डित होते जाते है। ज्ञान का रस बढ़ जाने पर विकल्प टूट जाता है और शुद्ध ज्ञान रह जाता है। अतएव इस स्वानुभव के अभ्यास से निर्विकल्प अनुभूति की उपलब्धि होती है।

मन और इन्द्रियों की सहायता से प्रवर्तने वाला ज्ञान निर्विकल्प स्थिति में स्वानुभव के सन्मुख हो जाता है। केवल स्वभाव का वेदन

ही उस समय होता है; अन्य किसी वर्ण, शब्द आदि का अहसास नहीं होता। सभी प्रकार के नय आदिक विकल्प उस समय समाप्त हो जाते हैं। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि उस समय मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, आदि कार्य नही करते। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान तो क्षयोपशम भाव रूप हैं, इसलिये एक समय मे एक ही ज्ञेय जानने में उनकी प्रवृत्ति होती है। इसका अर्थ यह है कि अनुभव के समय में जीव का एक समय में एक ही प्रकार का उपयोग होता है। यह उपयोग या तो स्वज्ञेय रूप होता है अथवा परज्ञेय रूप। जिस समय स्व को जानने रूप उपयोग होता है, उसे ही स्वानुभव कहते है। अपने को जानते समय सभी गुणो का निर्मल परिणमन रूप जो अभेद प्रवर्तन है, उसे तन्मय होकर जानना ही स्वानुभव का सच्चा समय है। उस समय मे ऐसी एकतानता हो जाती है कि सब ओर से आनन्द धारा मे उपयोग तन्मय होकर अपूर्व आनन्द का वेदन होता है। "एक साथ अनेक मनुष्यो की एव पशु-पक्षियो की आवाज सुनें और उनमें हरेक की आवाज को भिन्न-भिन्न सुने—ऐसी ताकत गणधरदेव की होती है। फिर भी, उन्हें भी स्व में एवं पर मे ऐसे एक साथ दोनो मे उपयोग नही होता। परन्तु स्व-पर की भिन्नता का जो भान हुआ है, वह तो पर ज्ञेय में उपयोग के समय मे भी धर्मी के नही हटता। उपयोग यदि दो घडी तक स्व-ज्ञेय म स्थिर रहे तब तो केवल ज्ञान हो जाए[1]।' इससे यह स्पष्ट है कि यह दशा परिणति की दृष्टि मे वीतराग साधु के प्रकट होती है; गृहस्थ के नही।

इस प्रकार स्वानुभव की स्थिति मे भी मतिज्ञान, श्रुतज्ञान बराबर बना रहता है। किन्तु स्वज्ञेय के उपयोग के समय में निर्विकल्प दशा में परमानन्द की अनुभूति होती है जो वचनातीत है। इस दशा को ही निश्चल आत्म-ज्ञान की स्थिति कहा जाता है। कहा भी है—"यही आत्मा जो अखण्ड ज्ञान के अभ्यास से अनादि पुद्गल-कर्म से उत्पन्न कराये गये इस मिथ्या-मोह को अपना घातक जानकर भेद-ज्ञान द्वारा अपने से उसे पृथक् कर केवल आत्मस्वरूप की भावना से निश्चल स्थिर हो जाए, तो अपने स्वरूप में निस्तरंग समुद्र के समान निष्कम्प हुआ तिष्टता है। एक ही बार व्याप्त हुए जो अनन्त ज्ञान की शक्ति के भेद उनसे वह पलटता नही, अपनी ज्ञान-

१. अध्यात्म-सन्देश, पृ० ४८ से उद्धृत।

इन्द्रियों के द्वारा बाह्य परस्वरूप ज्ञेय पदार्थों से मैत्री नहीं करता, निश्चल आत्मज्ञान के विवेक द्वारा अत्यन्त स्वरूप-सन्मुख हुआ है, पुद्गल-कर्मबन्ध के कारण राग-द्वेष भाव की दुविधा से दूर रहता है। ऐसा जो परमात्मा का आराधक पुरुष है, वह भगवान आत्मा को--जो कि पहले नहीं अनुभव किया हुआ है, ज्ञानानन्द स्वरूप है और परमब्रह्म है उसको प्राप्त होता है। आप ही साधक है, आप ही साध्य है। अवस्थाओं के भेद से साध्य-साधक भेद हैं[1]।"

आचार्य अमृतचन्द्र ठीक ही कहते है कि इस एक ज्ञायक स्वभाव में निर्भर होकर ज्ञान में एकाग्र होता हुआ अपने स्वरूप ज्ञान का संवेदन करता है। इस एक स्वरूप ज्ञान के रसीले स्वाद के आगे अन्य द्वन्द्व मय स्वाद स्वत: हट जाते हैं, फीके पड़ जाते हैं। अत: केवल एक अपना ही स्वाद लेता है, जिस से सब भेद-भाव मिट जाते है। ज्ञान के विशेष ज्ञेय के निमित्त होते हैं। जब ज्ञान सामान्य का स्वाद ग्रहण होता है, तब ज्ञान के समस्त भेद गौण हो जाते हैं, एक ज्ञान ही स्वज्ञेय रूप होता है[2]। जैसे केवली भगवान सतत स्वरूप के ज्ञाता-द्रष्टा है, उसी प्रकार श्रुतज्ञानी भी समस्त नय-पक्षों से रहित होकर शुद्ध चैतन्य मात्र का अनुभवन करता है। नय का पक्ष लेने पर कोई-न-कोई प्रयोजन आता है जो रागमूलक होता है। प्रयोजनवश किसी एक नय को प्रधान कर उसका पक्ष लें, तो चारित्रमोह का राग रहता है। किन्तु जब नय-पक्ष को छोडकर वस्तुस्वरूप मात्र को जानता है, तब श्रुतज्ञानी भी केवलज्ञानी की भाँति वीतराग जैसा होता है[3]। क्योंकि उस समय वह आत्मा का ऐसा अनुभव करता है कि मैं तत्त्व का जानने वाला चैतन्य स्वभाव का पुंज एक भाव रूप हूँ। परद्रव्य के कर्ता-कर्म भाव से जो बन्ध की परिपाटी चल रही थी, उससे दूर हट कर समयसार का अनुभव होता है। कैसा है वह समयसार? जिसके केवलज्ञानादि गुणों का पार नहीं

---

१. सम्यग्ज्ञानदीपिका, पृ० १२६ से उद्धृत।

२. एकज्ञायकभावनिर्भरमहास्वादं समासादयन्
स्वादं द्वन्द्वमयं विधातुमसहः स्वां वस्तुवृत्तिं विदन्।
आत्मात्मानुभवानुभावविवशो भ्रश्यद्विशेषोदयं
सामान्यं कलयन् किलैष सकलं ज्ञानं नयत्येकताम्।। समयसारकलश, १४०

३. समयसार, गा० १४३ की आत्मख्याति टीका।

है[1]। यदि कोई सुबुद्धि सम्यग्दृष्टि अतीत, वर्तमान और भविष्यत् तीनों काल में कर्मों के बन्ध को अपनी आत्मा से तत्काल भिन्न कर तथा उस कर्म के उदय के निमित्त से होने वाले अज्ञान (मिथ्यात्व) को अपने पुरुषार्थ से रोककर अन्तरंग में अभ्यास करे, तो स्वयं देख ले कि प्रकट महिमावान अनुभवगोचर, निश्चल, शाश्वत, नित्य, कर्म-कलंक से रहित स्वयं स्तुति करने योग्य देव विराजमान है[2]। वस्तुतः आत्मानुभूति की दशा शुद्ध भाव की दशा है। आत्मानुभूति की दशा में अन्तर्बाह्य परिणति कैसी होती है? आत्मानुभूति प्राप्त पुरुषों की अन्तर्परिणति अनुभूति के काल में अत्यन्त शान्त एवं ज्ञानानन्दमय होती है। दृष्टि के अन्तर्मुख होते ही समस्त शुभाशुभ विकल्प-जाल प्रलय को प्राप्त हो जाते हैं। अन्तर में निर्विकल्पक अतीन्द्रिय आनन्द का ऐसा समुद्र उमड़ता है कि समाता ही नहीं है। जो आत्मानन्द मे मग्न हो जाते है, उनका ज्ञान अन्तरोन्मुखी होने से एवं पंचेन्द्रियों के विषयों मे उत्पन्न हुआ न होने से आनन्द सहज, अतीन्द्रिय व स्वाश्रित होता है। वास्तव में उसमें अपूर्णता होने पर भी उस समय अन्तरंग दशा मे बाहरी किसी घटना की कोई खबर नहीं रहती है; क्योंकि अनुभूतिकार मन से किसी बाहरी उपयोग में स्थित नहीं रहता। वह तो उस समय केवल शुद्ध चिदात्मा का अनुभवन करता है।

निर्विकल्प दशा—किस गुणस्थान में ?

निर्विकल्प का अर्थ निर्विचार नही है। कुछ लोग ऐसा समझते है कि विचार-शून्य हो जाने का नाम निर्विकल्प है, सो नही है। यदि विचार-शून्य का अर्थ निर्विकल्प माना जाए, तो चेतन जड़ हो जाएगा। किन्तु कोई भी

---

१. चित्स्वभावभरभावितभावा—
भावभावपरमार्थतयैकम्।
बन्धपद्धतिमपास्य समस्तां
चेतये समयसारमपारम्।। समयसारकलश, ९२

२. भूतं भान्तमभूतमेव रभसान्निर्भिद्य बन्धं सुधी—
र्यद्यन्तः किल कोऽप्यहो कलयति व्याहत्य मोहं हठात्।
आत्मात्मानुभवैकगम्यमहिमा व्यक्तोऽयमास्ते ध्रुवं
नित्यं कर्मकलंकपंकविकलो देवः स्वयं शाश्वतः।। समयसारकलश, १२

ऐसा समय नहीं वर्तता है, जिसमें जीव विचार रहित होता हो। आचार्यकल्प पं० टोडरमलजी के शब्दों में—"निर्विचार होने का नाम निर्विकल्प नहीं है; क्योंकि छद्मस्थ के जानना विचार सहित है, उसका अभाव मानने से ज्ञान का अभाव होगा और तब जड़पना हुआ, सो आत्मा के होता नहीं है। इसलिये विचार तो रहता है। तथा यह कहे कि एक सामान्य का ही विचार रहता है; विशेष का नहीं, तो सामान्य का विचार तो बहुत काल रहता नहीं है व विशेष की अपेक्षा बिना सामान्य का स्वरूप भासित नहीं होता। तथा यह कहे कि अपना ही विचार रहता है, पर का नहीं; तो पर में परबुद्धि हुए बिना अपने में निज बुद्धि कैसे आए? वहाँ वह कहता है—समयसार में ऐसा कहा है—भेद-ज्ञान को तब तक निरन्तर भाना, जब तक पर से छूट कर ज्ञान में स्थित न हो। इसलिए भेद-ज्ञान छूटने पर पर का जानना मिट जाता है, केवल आप ही को आप जानता रहता है[1]।"

विकल्प का अर्थ है—उपयोग की प्रवाह-धारा का एक विषय से दूसरे विषय पर जाना। सभी इन्द्रियों के अपने-अपने विषय हैं। मन उन विषयों में अस्थिर रूप से प्रवर्तता है। मन की भ्रमणशील वृत्ति ही विकल्प कही जाती है। केवल स्वद्रव्य या परद्रव्य को जानने का नाम विकल्प नहीं है; क्योंकि परद्रव्य का जानना मिट नहीं सकता है। वास्तव में राग-द्वेषवश किसी ज्ञेय को जानने में उपयोग लगाना और किसी ज्ञेय के जानने से छुड़ाना; इस प्रकार बार-बार उपयोग के लगाने और हटाने का नाम विकल्प है। किन्तु जब वीतराग होकर स्वज्ञेय में उपयोग को स्थिर कर जानते हैं, तब उसे यथार्थ में जानते हैं और अन्य ज्ञेयों को जानने के लिए उपयोग को नहीं भ्रमाते हैं, यही निर्विकल्प दशा है[2]।

इन्द्रियों की सहायता से विषयों के ग्रहण करते समय जो विकल्प होते हैं, वे इन्द्रियजन्य होते हैं; किन्तु निर्विकल्प दशा अतीन्द्रिय होती है। उस समय श्रावक को भी यह ध्यान नहीं रहता कि मैं गृहस्थ हूँ। इसलिये वास्तविक ध्यान अवस्था में श्रावक को भी मुनि के समान बताया गया

---

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवां अधिकार, पृ० २१०-२११ से उद्धृत।

२. वही, पृ० २११।

है। इसलिये यह कोई नियम नही है कि स्वानुभव की निर्विकल्प दशा मुनि के ही होती है। आचार्यकल्प पं० टोडरमलजी के शब्दों में —"ऐसा अनुभव कौन गुणस्थान में होता है? उसका समाधान है—चौथे से ही होता है, परन्तु चौथे में तो बहुत काल के अन्तराल से होता है और ऊपर के गुणस्थान मे शीघ्र-शीघ्र होता है। फिर यहाँ प्रश्न है—अनुभव तो निर्विकल्प है, वहाँ ऊपर के और नीचे के गुणस्थानों मे भेद क्या? उसका समाधान है—परिणामों की मग्नता में विशेष है। जैसे दो पुरुष नाम लेते है और दोनों ही के परिणाम नाम मे है; वहाँ एक को तो मग्नता विशेष है और एक को थोड़ी है—उसी प्रकार जानना[1]।"

जो पदार्थ को अखण्ड रूप से जानता है, वह निर्विकल्प उपयोग है। निर्विकल्प उपयोग मे केवल जानने की एकाग्रता रहती है, बार-बार उपयोग इधर-उधर नही जाता है। यह कैसी विचित्रता है कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है और ज्ञान जानना रूप है, फिर भी यह आत्मा अपने आप को नही जानता? इसका कारण यही है कि यह अनादि काल से पर से तन्मय होकर पर का हो रहा है। यह ठीक है कि ज्ञान आत्मा के बिना नही होता। किन्तु इसे यह भेद-ज्ञान नहीं है कि मेरा ज्ञान मैं हूं, पर-ज्ञेय पर है। ऐसा भेद-विज्ञान कर निज ज्ञान का बार-बार अभ्यास करने से आत्मानुभूति की प्रतीति होती है और स्वभाव में अपने उपयोग को स्थिर करने पर निर्विकल्प दशा का वेदन होता है।

जैन आगम-साहित्य मे 'विकल्प' शब्द का प्रयोग पाँच अर्थों में लक्षित होता है। इसका एक अर्थ साकार है जो ज्ञान का लक्षण है। इस दृष्टि से ज्ञान सविकल्पक और दर्शन निर्विकल्पक कहा जाता है। 'विकल्प' शब्द का दूसरा अर्थ उपयोग-सक्रान्ति है। इस दृष्टि से छद्मस्थ के चारों ज्ञान सविकल्पक है, पर केवलज्ञान निर्विकल्पक है। तीसरे, एक ही पदार्थ पर उपयोग के टिकने को भी विकल्प कहते है। इस दृष्टि से स्वात्मानुभूति के समय चतुर्थ गुणस्थान मे ज्ञान निर्विकल्पक है, क्योंकि उस समय उपयोग एक आत्म-पदार्थ पर ही रहता है। अन्य समय मे हटकर पदार्थान्तर पर चला

---

१. पण्डितप्रवर टोडरमलजी की रहस्यपूर्ण चिट्ठी, पृ० ७ से उद्धृत।

जाता है, इसलिए सविकल्पक है। 'विकल्प' का चौथा अर्थ राग है। यह चारित्र गुण का विभाव परिणमन है। चारित्र गुण के राग सहित परिणमन को सविकल्प या सराग चारित्र कहते हैं। सराग चारित्र दसवें गुणस्थान तक पाया जाता है। चारित्र गुण के विकल्प रहित परिणमन को निर्विकल्पक या वीतराग चारित्र कहते हैं जो ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थान में प्रकट होता है। 'विकल्प' शब्द का पाँचवाँ अर्थ बुद्धिपूर्वक राग है जो सामान्यत: प्रथम गुणस्थान से लेकर छठे गुणस्थान तक पाया जाता है; किन्तु मोक्षमार्ग के प्रकरण में चौथे से लेकर छठे गुणस्थान तक के जीवो का राग ग्रहण किया जाता है[1]। इन अर्थों पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि स्व-उपयोग के समय अविरत सम्यग्दृष्टि जीव के निर्विकल्प दशा होती है। वास्तव में सम्यग्दर्शन मे सविकल्प-निर्विकल्प भेद नही है। अत: यह कथन उचित नहीं है कि ज्ञान के राग रूप होने का नाम सविकल्प है। ज्ञान का गुण-दोष से, बन्ध-अबन्ध से, राग-द्वेष से यथार्थ मे कोई सम्बन्ध नही है। ज्ञान का कार्य तो केवल जानना है। अन्तर यही है कि चौथे, पाँचवें और छटे गुणस्थान के सम्यग्दृष्टियो के पर के उपयोग में प्रवृत्ति के समय राग के कारण ही आकुलता व दु:ख उत्पन्न होते है। दु:ख के अभाव के लिए या निराकुल आत्मानन्द के लिए ज्ञानी स्वात्मानुभव किया करते है। उनके लब्धि रूप ज्ञानचेतना तो प्रत्येक समय मे विद्यमान रहती है और सम्यक्त्व की शुद्धि के बल से होने वाली निर्जरा भी निरन्तर हुआ करती है[2]।

आत्मानुभव के प्रसंग में 'विकल्प' का अर्थ एक ज्ञेय से उपयोग को हटाकर अन्य ज्ञेयों पर भ्रमाना है। पंचाध्यायीकार ने उपयोग की प्रवृत्ति के परिवर्तन को विकल्प कहा है[3]। विकल्प ज्ञान की पर्याय है। यह ज्ञान क्षायोपशमिक है। क्योंकि क्षायिक ज्ञान तो एक उपयोग से ही एक समय में सब ज्ञेयो को विषय कर लेता है। किन्तु क्षायोपशमिक ज्ञान एक उपयोग से एक बार एक ही पदार्थ को जानता है। जब उपयोग वहाँ से हट जाता

---

१. पं० सरनाम जैन : मासिक आर्षटीका पत्रिका, वर्ष १, अंक १२, पृ० ९८४

२. वही, पृ० ९००

३. विकल्पो योगसंक्रान्तिरर्थाज्ज्ञानस्य पर्ययः।
ज्ञेयाकारः स ज्ञेयार्थाद् ज्ञेयार्थान्तरसंगतः ॥ पंचाध्यायी, २, ८३१

है, तब दूसरे पदार्थ को जानता है। इस प्रकार एक ज्ञेय से दूसरे ज्ञेय पर उपयोग जोड़ने को उपयोग संक्रान्ति कहते हैं। इसी का नाम ज्ञप्ति-परिवर्तन या विकल्प है। इस विकल्प से रहित अवस्था चौथे गुणस्थान में प्रकट होती है। यहाँ पर कोई प्रश्न करता है कि यदि निर्विकल्प अनुभव में कोई विकल्प नहीं है, तो शुक्ल ध्यान का प्रथम भेद पृथक्त्ववितर्कविचार कहा है; वहाँ 'पृथक्त्ववितर्क'–नाना प्रकार के श्रुत (आगम) का विचार-अर्थ-व्यंजन-योग-संक्रमण ऐसा क्यों कहा? इसका समाधान करते हुए आचार्यकल्प पं० टोडरमलजी कहते हैं—"कथन दो प्रकार है–एक स्थूल रूप है, एक सूक्ष्म रूप है। जैसे स्थूलता से तो छठवें ही गुणस्थान में सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत कहा और सूक्ष्मता से नववें गुणस्थान तक मैथुन संज्ञा कही; उसी प्रकार यहाँ अनुभव में निर्विकल्पता स्थूल रूप से कहते हैं। तथा सूक्ष्मता से पृथक्त्ववितर्क वीचारादिक भेद व कषायादिक दसवें गुणस्थान तक कहे हैं। वहाँ अपने जानने में व अन्य के जानने में आए, ऐसे भाव का कथन स्थूल जानना तथा जो आप भी न जाने और केवली भगवान ही जानें–ऐसे भाव का कथन सूक्ष्म जानना। चरणानुयोगादिक में स्थूल कथन की मुख्यता है और करणानुयोग में सूक्ष्म कथन की मुख्यता है–ऐसा भेद अन्यत्र भी जानना। इस प्रकार निर्विकल्प अनुभव का स्वरूप जानना[१]।"

यदि कोई यह कहे कि चौथे गुणस्थान में निर्विकल्प स्वात्मानुभूति होती है, तो फिर सातवें-आठवें गुणस्थान में क्या विशेष बात होती है? उत्तर में कहते हैं—"चौथे गुणस्थान में स्वानुभव दीर्घकाल के अन्तर से होने का कहा और ऊपर के गुण स्थान में वह शीघ्र-शीघ्र होने का कहा। इस प्रकार प्रकार गुणस्थान अनुसार मात्र काल के अन्तर की ही विशेषता है या अन्य भी कोई विशेषता अनुभव में है? तो कहते हैं कि परिणामों की लीनता में भी विशेषता है। स्वानुभव की जाति तो सभी गुणस्थानों में एक है। चैतन्य स्वभाव में ही सभी का उपयोग लगा हुआ है। परन्तु इसमें परिणामों की मग्नता गुणस्थान के अनुसार बढ़ती जाती है। सातवें गुणस्थान में स्वानुभव की जैसी लीनता है, वैसी तीव्र लीनता चौथे

---

१. पण्डितप्रवर टोडरमलजी की रहस्यपूर्ण चिट्ठी, पृ० ८ से उद्धृत।

गुणस्थान में नहीं है। इस प्रकार निर्विकल्पता दोनों के होने पर भी परिणाम की मग्नता में विशेष है। जैसे कोई दो पुरुष एक-सी क्रिया करते हों, भगवान का नाम लेते हों, स्नान करते हों या भोजनादि करते हों; दोनों के परिणाम उसमें लग रहे हों, फिर भी परिणाम की एकाग्रता में दोनों में फर्क होता है[1]।" वास्तव में परिणामों की मन्दता और तीव्रता ही सभी दशाओं में अन्तर ला देती है। सातवें गुणस्थान में अबुद्धिपूर्वक राग की बहुत मन्दता होती है, क्योंकि वहाँ संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ ही अवशिष्ट है; जबकि चौथे गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी को छोड़कर सभी विद्यमान हैं। इस गुणस्थान में केवल अनन्तानुबन्धी के चारित्र अंश को छोड़कर शेष सविकल्प है, राग रूप है। पाँचवें-छठे में जितना बुद्धि-अबुद्धि पूर्वक राग है, उतना चारित्र का परिणमन विकल्प रूप है। सातवें से दसवें गुणस्थान तक जितना अबुद्धि पूर्वक राग है, उतना चारित्र का परिणमन विकल्प रूप है। यथार्थ में स्वभाव से तो चारित्र भी निर्विकल्पक ही है और जितना मोक्षमार्ग रूप संवर-निर्जरा है, वह भी निर्विकल्पक है। किन्तु जितना राग-रूप परिणमन होता है, वह सविकल्पक है[2]।

जब उपयोग निज स्वरूप में एकाग्र हो तन्मय हो जाता है, तब निर्विकल्प दशा उपादेय कहलाती है। इसका यह अर्थ नहीं है कि निर्विकल्प अनुभव के समय में सरागी जीव के अबुद्धिपूर्वक विकल्प मौजूद नहीं है, किन्तु मौजूद होने पर भी उपयोग उसमें नहीं है; क्योंकि जब तक राग विद्यमान है, तब तक राग रूप विकल्प भी विद्यमान है। किन्तु वह इतना सूक्ष्म होता है कि उसका हमें अहसास तक नहीं होता।

वास्तव में स्वानुभव परम विज्ञान है। इसकी अलौकिक महिमा है। इसके सतत अभ्यास से केवलज्ञान रूपी सूर्य का उदय होता है। इसके प्रताप से क्षण भर में सभी आवरण विनष्ट हो जाते हैं। हजारों शास्त्रों के पढ़ने-लिखने का सार एक स्वात्मानुभव है। इस अनुभव के विज्ञान को अनुभवी परम गुरुओं ने बताया है। पं० बनारसीदासजी कहते हैं—हे भाई! जगत में रहते हुए भी केवल छह महीने के लिए इनसे उदासीन हो

---

१. अध्यात्म-सन्देश, पृ० ८१ से उद्धृत; तथा—अनुभवप्रकाश, पृ. ७४-७५

२. पं० सरनाम जैन : मासिक आर्षटीका पत्रिका, वर्ष १, अंक १२, पृ० ९८६

जाओ—यह मेरा उपदेश मान ले। विषय-कषायों को और अच्छे-बुरे विचारों को छोड़कर एकान्त में स्थिर हो मन एकाग्र कर। तुम्हारे मन रूपी सरोवर मे निर्मल कमल है। उस कमल के लिए तुम भ्रमर के समान हो। अतएव स्वभावरूप कमल द्रव्य की सुगन्ध को पहचान कर उसमें लीन हो कर विलास कर। अभी से ऐसा क्यों विचार करता है कि कुछ प्राप्त नहीं होगा; नियम से स्वरूप की प्राप्ति होगी और ज्ञान गुण प्रकट होगा। यही आत्म-सिद्धि का उपाय है[1]।

कोई यह प्रश्न कर सकता है कि छह महीने के लिए ही क्यो कहा है? सामान्य रूप से यह कहा गया है कि चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव के आत्मानुभूति अल्प समय तक रहती है और बहुत समय पश्चात् प्रकट होती है। किन्तु पाँचवें गुणस्थान वालों के कुछ अधिक समय रहती है और कुछ कम समय में हुआ करती है। छठे गुणस्थान वालों के नियम से अन्तर्मुहूर्त पश्चात् होती रहती है। सातवें गणस्थान में तो ज्ञानचेतना उपयोगरूप कही गई है।

आचार्य अमृतचन्द्र भव्य जीवो को जगाते हुए कहते है कि कहाँ अज्ञान की नींद मे गाफिल हो? पुण्य-पाप पदार्थों के सभी कोलाहलो को छोडकर एक सत्य को समझ ले। बस बहुत हो चुका। इस कोलाहल से विरत हो, अपने शान्त स्वभाव को छह महीने तक एकान्त में बैठकर देख। यह चैतन्य आत्म-पदार्थ पुद्गल (जड़) से भिन्न अपने ही भीतर अनुभव से उपलब्ध होता है। जो स्वानुभव का अभ्यास नही करते, उनको इसकी उपलब्धि नही होती[2]। यहाँ भी छह महीने के अभ्यास के लिए कहा गया है। इसका कारण यही प्रतीत होता है कि जैसे सभी पदार्थ कालादि लब्धि से सहित अनन्त शक्ति सयुक्त है, वैसे ही स्वयं परिणमनशील है। इस विषय में मान्य सिद्धान्त यह है कि अनन्तानुबन्धी का वासना-

---

१. समयसार नाटक अजीवद्वार, पद ३

२. विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन
स्वयमपि निभृतः सन् पश्य षण्मासमेकम्।
हृदयसरसि पुंसः पुद्गलाद्भिन्नधाम्नो
ननु किमनुपलब्धिर्भाति किं चोपलब्धिः॥ समयसारकलश, श्लो० ३४

काल छह माह से ऊपर है। अतः छह महीने के निरन्तर अभ्यास से नियम से अनन्तानुबन्धी के गलने से सम्यग्दर्शन होगा—यह सम्भव है। अतएव पता नहीं किस जीव की होनहार हो और छह महीने में वह कालादि लब्धि को प्राप्त कर अपना भला करने के लिए पुरुषार्थ कर ले। सन्त समझाते हुए कहते हैं कि तत्त्वों में से स्वात्म-तत्त्व का निर्णय कर अभ्यास करना ही प्राथमिक पुरुषार्थ है। स्वात्म-दर्शन हो जाने पर इस जीव की कर्म-प्रकृतियाँ स्वयमेव नष्ट हो जाती हैं[1]। स्वानुभव का अभ्यास करते-करते छह माह के भीतर एक बार आत्मानुभव या आत्मावलोकन हो सकता है। यह आगम की परिपाटी है। इसलिए आचार्य कहते हैं कि बाहर में ही नहीं, अपने भीतर में उठते हुए कोलाहल को समझिये—प्रतिसमय कितनी क्रिया-प्रतिक्रियाओं का संघर्ष चल रहा है, विकल्पों का ज्वार उठ रहा है, बेचैनी और कसमसाहट तन्त्री को झनझनाहट से भर रही है, मन चिड़-चिड़ा रहा है और तीव्रता के साथ क्षोभ का वेग उठ रहा है—जरा इसे पहचानिए और अपने से भिन्न समझकर इस कोलाहल से दूर हट जाइये। यदि इन सबसे भिन्न शुद्धात्म के एकत्व का चिन्तन भी छह महीने तक कर लिया, तो निश्चय से गृहस्थ अवस्था में ही स्वानुभव हो सकता है और शुद्धात्मा का आनन्द प्राप्त हो सकता है। पं० दीपचन्दजी कासलीवाल के शब्दों में "जु सम्यग्दृष्टि चौथे (गुणस्थान) का है तिसके तो स्व-अनुभव का काल लघु अन्तर्मुहूर्त ताई रहे है, अवरु बहुत काल पीछे होइ है। अवरु तिसतै देशव्रती का अनुभव रहने का काल अन्तर्मुहूर्त बड़ा है। अवरु थोरेई काल पीछे-पीछे होइ है[2]।" आत्म-प्रतीति होने पर आनन्द का अंश प्रकट हो जाता है। चैतन्य रस का मधुर स्रोत ही आत्मानुभव है। एक बार आनन्द के सागर में डुबकी लगाने पर फिर सदा उसका ध्यान बना रहता है। अन्तर में ज्ञान को एकाग्र करने के लिये समय लगता है, ज्ञान और वैराग्य की शक्ति से उसमें दृढ़ता आती है। विकल्पों में आत्मानुभूति नहीं होती; क्योंकि स्व में तन्मय हुए बिना ज्ञान स्व को नहीं जानता। अतः स्व-संवेदन से ही आनन्द की तरंगें निःसृत होने लगती हैं। स्वात्मा-

---

१. करि प्रतीति जे तत्त्व तनी जो, हनै कर्म की प्रकृति घनी जो।
सो सम्यकदर्शन तुम जानो, केवल आतमभाव प्रधानो।। जैनक्रियाकोष, पृ० १६२

२. आत्मावलोकन, पृ० १६५ से उद्धृत; तथा—पं० जयचन्द छावड़ा कृत "द्रव्यसंग्रह" गा० ४५ की भाषा-वचनिका।

नुभूति में अपूर्व ज्ञान-आनन्द की तरगें उछलने लगती हैं, मानो आनन्द का समुद्र ही उमड़ पडता है।

प्रश्न यह है कि निर्विकल्प अनुभूति में मन का सम्बन्ध रहता है या नहीं ? यदि मन का सम्बन्ध रहता है, तो इसे अतीन्द्रिय क्यों कहा जाता है और नही रहता है, तो मन कहाँ चला जाता है ? यह सच है कि निर्विकल्प अवस्था में मन का कोई आलम्बन नही रहता। उस समय मन का सम्बन्ध बिलकुल छूट जाता है; किन्तु मन का नाश नहीं हो जाता। इसलिये उस समय अबुद्धि पूर्वक रागादिक का जो परिणमन होता है उसमें मन का सम्बन्ध रहता ही है। भावमन में रागादिक की स्थिति बनी ही रहती है; किन्तु उपयोग वहाँ नही रहता। उपयोग स्व मे एकाग्र हो जाता है। विकल्पो की उत्पत्ति राग की भूमिका में बुद्धिपूर्वक होती है; चैतन्य की भूमिका में तो निर्विकल्प आनन्द की स्थिति है। विकल्प विकल्प में वर्तता है और ज्ञान ज्ञान में वर्तता है। विकल्प के समय में भी ज्ञानी का ज्ञान तो ज्ञान भाव रूप ही वर्तता है। ज्ञान भाव कभी विकल्प भाव रूप नहीं वर्तता है। अतः ज्ञानी अद्भुत ज्ञान-परिणति आनन्द के सागर चैतन्य भगवान को धारण करती है; विकल्प धारण नहीं करती[1]। इस प्रकार ज्ञानी की चैतन्य परिणति विकल्पों का स्पर्श नही करती। कहा भी है–

> अनुभव चिन्तामणि रतन, अनुभव है रसकूप।
> अनुभव मारग मोक्ष का, अनुभव मोक्ष स्वरूप।।
>
> समयसारनाटक, उत्थानिका, १८

स्वानुभव-ज्ञान का वर्णन

वास्तव में स्वानुभव-दशा अपूर्व है। वह ऐसी अपूर्व आनन्द की दशा है जो अनिर्वचनीय है। इसे ही ब्रह्मानन्द या परमानन्द की दशा कहते हैं। यह प्रत्यक्ष अनुभव की दशा है। इसे बताने के लिये किसी प्रमाण की आवश्यकता नही है। जो भी परम आनन्द का रस लेना चाहता है, वह स्वज्ञेय की ओर झुककर तल्लीन हो स्वयं वेदन कर सकता है। जिसने कभी मिश्री का स्वाद नही लिया, वह स्वयं मिश्री को चखकर उसका

---

१. आत्मधर्म, वर्ष २७, अंक ११-१२, पृ० १२

स्वाद ले सकता है। उस स्वाद को शब्दों में नहीं कहा जा सकता; केवल इतना ही कह सकते हैं कि मिश्री का स्वाद शक्कर जैसा होता है। उसी प्रकार स्वानुभव का वर्णन नहीं किया जा सकता; केवल इतना ही कह सकते हैं कि वह ब्रह्मानन्द जैसी दशा होती है। यह जो पहले कहा था कि आगम, अनुमानादिक परोक्ष ज्ञान से आत्मा का अनुभव होता है, सो अनुभव में भी आत्मा परोक्ष है, फिर अनुभव को प्रत्यक्ष कैसे कहते हैं? इसका समाधान करते हुए आचार्यकल्प पं० टोडरमलजी कहते हैं—"अनुभव में आत्मा तो परोक्ष ही है, कुछ आत्मा के प्रदेश आकार तो भासित होते नहीं हैं; परन्तु स्वरूप में परिणाम मग्न होने से जो स्वानुभव हुआ, वह स्वानुभव प्रत्यक्ष है। स्वानुभव का स्वाद कुछ आगम, अनुमानादिक परोक्ष प्रमाण द्वारा नहीं जानता है, आप ही अनुभव के रसस्वाद को वेदता है। जैसे कोई अन्धा पुरुष मिश्री को आस्वादता है, वहाँ मिश्री के आकारादि तो परोक्ष हैं, जो जिव्हा से स्वाद लिया है वह स्वाद प्रत्यक्ष है, वैसे स्वानुभव में आत्मा परोक्ष है, जो परिणाम से स्वाद आया वह स्वाद प्रत्यक्ष है—ऐसा जानना। अथवा जो प्रत्यक्ष की भाँति हो, उसे भी प्रत्यक्ष कहते हैं। जैसे लोक में कहते हैं कि "हमने स्वप्न में अथवा ध्यान में अमुक पुरुष को प्रत्यक्ष देखा"—वहाँ कुछ प्रत्यक्ष देखा नहीं है, परन्तु प्रत्यक्ष की ही भाँति प्रत्यक्षवत् यथार्थ देखा, इसलिये उसे प्रत्यक्ष कहा जाता है। उसी प्रकार अनुभव में आत्मा प्रत्यक्ष की भाँति यथार्थ प्रतिभासित होता है, इसलिये इस न्याय से आत्मा का भी प्रत्यक्ष जानना होता है, ऐसा कहें तो दोष नहीं है[1]।"

पं० रायमलजी ने 'चर्चा संग्रह' में मोक्ष का एकमात्र उपाय आत्मा का ध्यान करना बताया है। आत्मा के अभेद रूप से अवलोकन करने से वीतराग भाव प्रकट होता है। मोक्ष केवल वीतराग भाव से ही उपलब्ध हो सकता है। आत्मा का ध्यान करने से मोह गल जाता है और मोह गलने से वीतराग भाव प्रकाशित होता है। यहाँ कोई प्रश्न करता है कि यदि ध्यान करना हो, तो केवली भगवान सर्वज्ञ का ध्यान करें, निजात्मा का क्यों करें? इसका उत्तर यही है कि अध्यात्म में प्रत्यक्ष का

१. पण्डितप्रवर टोडरमलजी की रहस्यपूर्ण चिट्ठी, पृ० ७ से उद्धृत।

महत्त्व है; परोक्ष का नहीं। सर्वज्ञ परद्रव्य है व परोक्ष है; किन्तु निजात्मा स्वद्रव्य है और अनुभूतिगम्य होने से प्रत्यक्ष है। यह अपनी महिमा से विराजमान है। अपने ज्ञान, आनन्द का यह स्वयं भोग करने वाला है। अतएव निजात्मा का ध्यान करने से ही सिद्धत्व की सिद्धि प्राप्त होतीहै, स्वभाव की उपलब्धि होती है[1]। फिर, सच्चा प्रेम तो अपने से ही हो सकता है; पर से या पराये से कभी भी वास्तविक प्रेम नहीं हो सकता। क्योंकि पर का प्रेम सम्बन्ध तो टूट सकता है, किन्तु अपने से यह कभी वियुक्त नहीं हो सकता है। यथार्थ मे आत्मानुभूति के आनन्द को ज्ञानी ही जानता है। पं. दीपचन्दजी के शब्दों में–"जेता स्वरूप का निश्चय ठीक भावै, तेता स्वसंवेदन होय एक भये, तीनों की सिद्धि है। गुप्त शुद्ध शक्ति सिद्ध समान में परिणति प्रवेश करे। ज्यों-ज्यों शुद्धता की प्रतीति मे, परिणति थिर होय, त्यों-त्यों मोक्षमार्ग की शुद्धि होय। ज्यों कोई अधिक कोस चाले तब नगर नजीक आवे, त्यों शुद्ध स्वरूप की प्रतीति मे परिणति अवगाढ़ गाढ़ दृढ़ होय, मोक्ष नगर नजीक आवे। अपनी परिणति खेल आप करि आप भव-सिन्धु तैं पार होय। आप विभाव परिणति तै संसार विषम करि राख्या है। संसार-मोक्ष की करणहारी परिणति है। निजपरिणति मोक्ष, परपरिणति संसार। सो यह सत्संगतै अनुभवी जीवनि के निमित्त तैं निजपरिणति स्वरूप की होय, विषम मोह मिटै, परमानन्द भेटै। स्वरूप पायवे का राह संतों नै सोहिला (सरल) कीया है[2]।"

वास्तव मे शुद्ध आत्मा का अनुभव करना ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है। यही मोक्ष का मार्ग है, बाकी सब बकवास है[3]। निर्विकल्प स्वानुभव के समय विशिष्ट आनन्द ही प्राप्त होता है। कैसे प्राप्त होता है? स्वानुभव के वक्त ज्ञानोपयोग अपने शुद्धात्मा को ही स्वज्ञेय बनाके उसमें स्थिर हो गया है। पहले वह उपयोग बाह्य अनेक ज्ञेयों में व विकल्प मे भ्रमण करता था, वह मिटके अब वह उपयोग अपने स्वरूप के एक के ही जानने में

---

१. यदि मनसि गतस्ते सिद्धि-शुद्धान्तरंगो भवमृशमभवात्मध्यानशुद्धान्तरंगः।
सकलविमलबोधध्याननिर्धूतकर्मा प्रकृतिमुपलभस्व स्वात्मनो निष्कलंकः॥
—आत्मप्रबोध, श्लो० १३८

२. अनुभवप्रकाश, पृ० ३६-३७

३. शुद्धातम अनुभौ क्रिया शुद्धज्ञान दृग दौर।
मुकति पन्थ साधन यह वाग्जाल सब और॥
—समयसार नाटक, सर्वविशुद्धि द्वार, दोहा १२६

एकाग्र हुआ, एक तो यह विशेषता हुई। और दूसरी विशेषता यह हुई कि पहले सविकल्पदशा में अनेक प्रकार के राग-द्वेष, शुभाशुभ परिणाम होते थे, अब स्वानुभव के समय में शुद्धोपयोग होने पर बुद्धि पूर्वक समस्त रागादिक परिणाम छूट गए, केवल निज स्वरूप में ही परिणाम तन्मय हुए। ऐसी विशेषता होने से स्वानुभव-काल में सिद्ध भगवान जैसा जो अतीन्द्रिय स्वाभाविक आनन्द अनुभव में होता है, वह वचनातीत है। जगत के किसी भी पदार्थ में इस सुख का अंश भी नहीं है। इन्द्रियजनित सुखों से इस सुख की जाति ही अलग है। यह सुख तो आत्मजनित है, आत्मा के स्वभाव में से उत्पन्न हुआ है। यद्यपि जितनी वीतरागता हुई है, उतना आत्मिक सुख तो सविकल्प दशा के समय में भी धर्मी को वर्त ही रहा है; तथापि निर्विकल्प दशा के समय में उपयोग निज स्वरूप में तन्मय होकर जिस अतीन्द्रिय परम आनन्द का वेदन करता है, उसकी कोई खास विशेषता है। स्वानुभव का आनन्द क्या वस्तु है? आत्म-रस का पान करने वाले ही इसे जानते हैं। वास्तव में वह ऐसा अपूर्व स्वाद है कि एक बार रस चख लेने पर सदा उसमें ही मग्न रहना चाहता है। एक बार का स्वाद भी निरन्तर बना रहता है। उसका क्या कहना है? अनुभव दशा का वर्णन करते हुए पं० दीपचन्दजी कासलीवाल कहते हैं—"तू देख, यह स्व-अनुभव-दशा स्वसमय रूप स्व-सुख है, शान्त विश्राम है, स्थिर रूप है, कोई कल्याण है, चैन है, तृप्ति रूप है, समभाव है अरु मुख्य मोक्ष राह है, ऐसा है। अवरु यहु सम्यग् सविकल्प दशा (में) जद्यपि उपयोग निर्मल रहे हैं, हा! तथापि चारित्र परिणाम परावलम्ब अशुद्ध चंचल रूप होते संते, तिसतें सविकल्प दशा दुख है, तृष्णा तप्त करि चंचल है, पुण्य-पाप रूप कलाप है, उद्वेगता है, असन्तोष रूप है, ऐसें-ऐसें विलाप रूप है चारित्र परिणाम। सो ए दोनूं तैं (तू ने) अवस्था आपु विषें देखी है। तिस तैं भला यहु है—जु तूं स्व-अनुभव रूप का उद्यम राख्या करु, यह हमारा वचन व्यवहार करि उपदेश कथन है[1]।" इससे स्पष्ट है कि वास्तव में निर्विकल्प दशा ही स्वानुभव की सच्ची दशा है। स्वानुभव स्वसंवेदन का ज्ञान ज्ञान द्वारा होता है। स्वसंवेदन ज्ञान अतीन्द्रिय ज्ञान का विषय है। शुद्ध स्वानुभव के समय में कोई इन्द्रिय किसी भी प्रकार उपयोगी नहीं होती। इसलिये यह कहना ठीक नहीं है कि मैं ध्यान लगाकर देख रहा हूँ—सामने की ओर

१. आत्मावलोकन, १६६-६७ से उद्धृत।

लेम्प प्रकाशमान हो रहा है, अपने चारों ओर मुझे प्रकाश ही प्रकाश नजर आ रहा है। अपने भीतर में यह विचार करते ही मुझे निर्णय हो गया कि यह प्रकाश उस ज्योति का है, जिसे चर्म-चक्षुओं से देखना सम्भव नहीं है, जिससे आनन्द का स्वाद आता है। वास्तव में यह भ्रम है। प्रकाश का अर्थ कोई बिजली नही है। जो बाहरी पदार्थों में बल्ब, लेम्प आदि की कल्पना करते हैं, वह यथार्थ नहीं है। ऐसा समझना तो मिथ्यात्व है। शुद्धात्मा का ध्यान ही शुद्धात्मा का प्रकाश करने वाला है। ध्यान के अभ्यासी को योगी कहा गया है। मन के संकल्पों के रुके जाने पर तथा इन्द्रियों के विषयों के अवरूद्ध हो जाने पर आत्मा के ध्यान से योगी के भीतर परम ब्रह्म निज परमात्मा का स्वरूप प्रकट हो जाता है[1]। जो इस अपवित्र शरीर से भिन्न तथा अविनाशी सुख में लीन शुद्ध आत्मा का अनुभव करता है, वह सब शास्त्रों को जानता है[2]। आत्मज्ञानी सकल शास्त्रों का ज्ञाता है। शाश्वत सुख में लीन होने की वह भावना भाता है। जैसे सिद्ध भगवान मात्र चैतन्य हैं, उसी प्रकार मैं भी मात्र चैतन्य स्वभाव को ही अंगीकार करता हूँ। इस प्रकार सिद्ध भगवान के समान मात्र चैतन्य का अनुभव करने से सभी विकल्पों से रहित शाश्वत चैतन्य तत्त्व अनुभव में आता है।

यह पहले कहा जा चुका है कि निर्विकल्प स्वानुभव क्या है। अब प्रश्न यह है कि सम्यक्-श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र की अपेक्षा तीन प्रकार की निर्विकल्पता क्या है? विपरीत अभिनिवेश से रहित आगम से सम्यक् सुविज्ञात पूर्ण विज्ञानघन स्वरूप ज्ञान स्व-सन्मुख हो एकत्व निश्चय रूप उपलब्धि होती है। दर्शन की निर्विकल्पता यही है कि उसमें संकल्प-विकल्प रूप मिथ्यात्व का अभाव होता है। वास्तव में दर्शन, ज्ञान और चारित्र का भेद पर्याय में है; आत्मा तो अखण्ड है, अभेद रूप है। यद्यपि पर्याय द्रव्य में से उत्पन्न होती है और द्रव्य में ही विलीन हो जाती है; जैसे कि समुद्र की लहर समुद्र से उत्पन्न होती है और उसी में समा जाती है—यह व्यवहार का कथन है। परमार्थ से तो आत्मा त्रिकाली ध्रुव चिन्मय मात्र है। उसमें पर्याय न कही से आती है और न कहीं जाती है। किन्तु भेद करके समझाने के लिए ऐसा कहा जाता है कि पर्याय सत् रूप से स्वतन्त्र

---

१. थक्के मणसंकप्पे रुद्धे अक्खाण विसयवावारे।
पयडइ बंभसरूवं अप्पाझाणेण जोईणं।। तत्त्वसार. गा० २९

२. योगसार, गा० ९५

है। यदि पर्याय द्रव्य से उत्पन्न हो, तो सदा एक रूप रहनी चाहिए; क्योंकि द्रव्य शाश्वत एक-सा रहता है। परन्तु पर्याय अनेक रूप होती रहती है। पर्याय एक रूप कभी नहीं रहती। यहाँ पर यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि केवल समझाने के लिए ही नहीं, किन्तु दो भिन्न धर्मों को सिद्ध करने के लिए द्रव्य और पर्याय का स्वतन्त्र रूप से वर्णन किया गया है। अतएव पर्याय एक समय की कही गई है; किन्तु आत्मद्रव्य त्रिकाली ध्रुव है। उस अखण्ड, अभेद द्रव्य को स्व-ज्ञेय रूप लेने से निर्विकल्प दशा प्रकट होती है। अतएव ऐसे श्रद्धान को निर्विकल्प दर्शन कहते हैं।

ज्ञानगुण त्रिकाल एक रूप है। ज्ञानगुण में जो भी अवस्था वर्तती है, वह ज्ञान रूप ही होती है। जिस समय ऐसे स्पष्ट भावभासन सहित ज्ञान स्व-सन्मुख होता है और उतने समय तक बुद्धिगम्य विकल्पता रहित स्व में मग्नता होती है, वह ज्ञान की अपेक्षा निर्विकल्पता है। वास्तव में आत्म-प्रतीति के समय जो अनुभूति होती है, वह ज्ञान की अनुभूति ही है और उस समय मे कोई विकल्प नहीं है। इसलिये वह ज्ञानगुण की निर्विकल्पता कही जाती है। यह निर्विकल्पक दशा चौथे गुणस्थान में दीर्घकाल के अन्तराल से होती है, किन्तु आगे-आगे के गुणस्थानो में अपेक्षा कृत कम समय के अनन्तर होती है।

दर्शन और ज्ञान की भाँति चारित्र की निर्विकल्पता भी अनुभव में आती है। वस्तुतः वीतराग दशा का प्रकट होना ही चारित्र है। नित्य त्रिकाली ध्रुव आत्म द्रव्य के सन्मुख होने पर एकत्व निश्चय रूप जितने अंश में अराग परिणति होती है, उतने ही अंश में निरन्तर ज्ञान-धारा प्रवाहित होती रहती है, जिसका नाम चारित्र है और उसकी अपेक्षा से निर्विकल्पता है। चतुर्थ गुणस्थान में जघन्य अंश में अकषायता एवं स्वाश्रय निश्चय धर्म, स्वरूपाचरण चारित्र और आज्ञाविचय धर्म्यध्यान का उल्लेख मिलता है[1]।

आत्मा के दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये तीन भाव व्यवहार से कहे जाते हैं। वस्तुतः आत्मा तो चैतन्य मात्र है। उसके न तो ज्ञान है, न चारित्र है और न

१. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक,अ० ९, सूत्र ३६

दर्शन है। ज्ञानी एक शुद्ध ज्ञायक ही है[1]। दर्शन, ज्ञान और चारित्र के विकल्प रूप भेदों को तथा गुण-भेदों को इसलिए समझाया जाता है कि उनकी जानकारी के बिना वस्तु-स्वरूप समझ में नहीं आता। वस्तु तो अखण्ड, अभेद है। उस अभेद स्वरूप में दर्शन, ज्ञान और चारित्र का भेद कर विकल्प करता रहे, तो उस अखण्ड निर्विकल्प स्वरूप का कभी भी लक्ष्य नहीं होगा। निर्विकल्प अभेद की श्रद्धा होने पर एकाग्र अनुभूति के समय दर्शन, ज्ञान और चारित्र के विकल्प नही होते। यद्यपि ज्ञान, दर्शन, चारित्र का भेद अपनी पर्याय में है; किन्तु उसका लक्ष्य नहीं होता। भेद तो विकल्प का कारण है; धर्म का कारण नही। भेद कर के विचार करने पर चित्त का संग होता है; किन्तु आत्मा असग स्वरूप है, उस मे चित्त का संग नही है। अतः चित्त का संग छोड़ने से सम्यग्दर्शन होता है। एक आत्मा मे दर्शन-ज्ञान-चारित्र के भेद का विचार करने पर क्रम पड़ता है और उसमे मन की अपेक्षा आती है। ऐसे भेद द्वारा एकाकार गुण-दृष्टि का अनुभव नही होता और अन्तर मे अभेद एकाग्रता नही होती। फिर, सम्यग्दृष्टि के शुद्ध नय के विषय के आश्रित बोध होने से नित्य ज्ञान चेतना का स्वामित्व परिणमित होता रहता है। अज्ञान चेतना रूप उसका स्वामित्व परिणमन नही करता। यही विशिष्टता है। स्वरूप-सन्मुख अखण्ड नि शक रुचि धारावाही कार्य करती है। उसके स्वप्न मे भी विपरीत या असत्य श्रद्धान का आदर नही होता। राग का राग तो नही होता। किन्तु व्यवहार से उपादेय है—ऐसा राग ज्ञानी को भी आता है। अतएव विकल्प और निर्विकल्प की अपनी सीमा और स्थिति हैं। भेद-विज्ञान करने वाले उसे बराबर ज्यो-का-त्यो समझते है। इससे यह तो स्पष्ट है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र मे निर्विकल्पता अवश्यम्भावी है। वास्तव में मोक्षमार्ग में निर्विकल्पता का ही विशेष महत्त्व है।

समाधि : शुद्धोपयोग

यह पहले ही कहा जा चुका है कि निर्विकल्पता मोक्ष का कारण है। सब प्रकार के विकल्पो के रुक जाने पर जो कोई एक अविनाशी भाव प्रकट

---

१. ववहारेणुवदिस्सदि णाणिस्स चरित्त दंसणं णाणं।
ण वि णाणं ण चरित्तं ण दंसण जाणगो सुद्धो।। समयसार, गा० ७

होता है जो आत्मस्वभाव है, वही भाव मोक्ष का साधक है[1]। स्वानुभव में ही भेद रहित निर्विकल्प तत्त्व का प्रकाश प्रकाशित होता है। यह सभी शास्त्रों का सार है कि स्वानुभव रूप समाधि से सभी कर्म-क्लेशों से मुक्ति हो जाती है। इसलिए यही सच्चा मोक्ष का उपाय है।

चिन्तानिरोध और एकाग्रता से समाधि होती है। साम्य, स्वास्थ्य, समाधि और शुद्धोपयोग ये सब एकार्थवाचक शब्द हैं[2]। राग आदि विकल्पों से रहित स्वरूप में निर्विघ्न स्थिरता के साथ स्वात्म-रस के आस्वाद से स्व-संवेदन ज्ञान द्वारा स्वात्मानुभव होना समाधि कहा जाता है। पं दीपचन्दजी कासलीवाल के शब्दो में--"स्वानुभव होतै निर्विकल्प सम्यक्ता उपजै। स्वानुभव कौं कहौ वा कोई, निर्विकल्प दशा कहौ, वा आत्मसन्मुख उपयोग कहौ, वा भावमति भावश्रुत कहौ, वा स्वसंवेदनभाव-वस्तु-मगन भाव वा स्व-आचरण कहौ, थिरता कहौ, विश्राम कहौ, स्व-सुख कहौ, इन्द्रीमनातीत भाव, शुद्धोपयोग स्वरूप मगन वा निश्चय भाव, स्वरस साम्यभाव, समाधि-भाव, वीतराग भाव, अद्वैतावलम्बी भाव, चित्तनिरोध भाव, निजधर्मभाव, यथास्वाद रूप यौ करि स्वानुभव के वहुत नाम है। तथापि एक स्व-स्वाद रूप अनुभव दशा मुख्य नाम जानना[3]।

समाधि का सामान्य अर्थ ब्रह्म (आत्मा) मे स्थिरता है। जव हमारा उपयोग परमानन्द दशा में स्थिर हो जाता है, तो उसे ही समाधि कहते है। यह समरसता को स्थिति है। वस्तुत. समाधि का अर्थ यही है; किन्तु कुछ लोग इसका वर्णन अन्य तरह से करते है। कोई कहता है कि समाधि में मन लय को प्राप्त हो जाता है, कोई कहता है कि मन को शून्य कर देना समाधि है, किसी के अनुसार बौद्धिक मस्तिष्क को शिथिल एवं निष्क्रिय करने का नाम समाधि है। इस प्रकार इसके विषय मे आजकल योग के नाम पर तरह-तरह की वातें कही जाती है। यह भी कहा जाता है कि इससे अतीन्द्रिय क्षमताओं का विकास किया जाता है। विज्ञान की सामान्य धारणा यह है कि यह

---

१. सयलवियप्पे थक्के उप्पज्जइ कोवि सासओ भावो।
जो अप्पणो सहावो मोक्खस्स य कारणं सो हु॥ तत्त्वसार, गा० ६१

२. साम्यं स्वास्थ्यं योगश्चेतोनिरोधनम्।
शुद्धोपयोग इत्येते भवन्त्येकार्थवाचकाः॥ पद्मनन्दिपंचविंशतिका, एकत्व सप्तति, ६४

३. अनुभवप्रकाश, पृ० ७४; तथा--आत्मावलोकन, पृ० १६४

एक मस्तिष्कीय विद्या है, जिसमें मानसिक सन्तुलन कर अचेतन मन को नियन्त्रित किया जाता है। चेतन मस्तिष्क की सक्रियता अचेतन की शक्ति तरंगों को प्रवाहित नही होने देती। इसलिए समाधि की अवस्था में अचेतन मन का केन्द्र जाग्रत हो जाता है। अतएव इससे दूर-दर्शन, दूर-दृष्टि, विचार-प्रेरणा, भविष्य-ज्ञान तथा अदृश्य का प्रत्यक्ष आदि अनेक विशेष प्रक्रियाओं का जन्म होता है। ये सभी मन के चमत्कार हैं। अध्यात्म में इन चमत्कारों का कोई महत्त्व नहीं है; क्योंकि यह सभी यौगिक किंवा पौद्गलिक शक्ति का विकास है। अतएव जो इस भ्रम-विडम्बना में उलझ जाता है, वह आत्म-हित नही कर सकता है।

कुछ लोग पूरक, कुम्भक और रेचक को समाधि के आवश्यक अंग मानते हैं। उनके अनुसार इनसे मन की जय होती है और मन की जय करने से राग-द्वेष-मोह मिटते हैं और राग-द्वेष-मोह मिटने से समाधि लगती है—यथार्थ में वे भी परमार्थ को नहीं समझते हैं; क्योंकि प्राण-साधना अध्यात्म से भिन्न है[1]। आचार्य देवसेन का कथन है : रागादि विभावों को तथा बाहरी-भीतरी सभी प्रकार के विकल्पों को छोड़कर मन को एकाग्र कर अपनी शुद्ध निरंजन आत्मा का ध्यान करना चाहिए। यही ध्यान की विधि है[2]।

समाधि ध्यान की ही विशिष्ट अवस्था है। यद्यपि हमारा एक भी क्षण ऐसा नहीं बीतता, जिसमें हम किसी का ध्यान नही करते हो। किन्तु यहाँ पर ध्यान से हमारा अभिप्राय इन्द्रियज्ञान और अन्तःकरणज्ञान से निवृत्त हो कर ज्ञानानन्द स्वरूपी त्रिकाली आत्मा का आलंबन ले कर स्व-संवेदन रूप आत्म-परिणति से है। निर्विकल्प समाधि में मन स्थिर हो जाता है, मोह गल जाता है[3]।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि जहाँ-जहाँ स्वानुभूति है, वहा-वहां स्वरूपाचरण चारित्र रूप समाधि नियम से है। स्वानुभूति, निर्विकल्प धर्मध्यान, समाधि ये सभी पर्यायवाची नाम हैं। शुद्धोपयोग की अपेक्षा एक होने पर भी इनकी विशिष्टता को ध्यान मे रख कर अलग-अलग कथन किया गया है। मिथ्यादृष्टि के तो सदा परानुभूति ही होती है; किन्तु चौथे गुण-स्थान से ले कर सातवें गुणस्थान तक धर्मध्यान की मुख्यता कही गई है।

---

१. पढ ग्रन्थहि जो ज्ञान बखानै, पवन साध परमारथ मानै।
परमतत्त्व के होहि न मरमी, कह गोरख सो महाअधर्मी ।।—बनारसी विलास पृ १३४

२. रायदिया विभावा बहिरंतरउहवियप्प मुत्तूणं।
एयग्गमणो झायहि णिरंजणं णियअप्पाणं ।। तत्त्वसार, गा० १८

३. परमात्मप्रकाश अ० २, दोहा १६२

यह धर्मध्यान सविकल्प और निर्विकल्प दोनों प्रकार का होता है। श्रेणी-आरोहण की दशा में सविकल्प तथा निर्विकल्प दोनों की स्थिरता बहुत अधिक बताई गई है। उसे उत्कृष्ट स्थिति कहा गया है। शुक्लध्यान में तो केवल शुद्धोपयोग रूप दशा रहती है। अतएव उपयोग में ठहरने की दृष्टि से इनमें अन्तर किया जाता है; किन्तु सामान्यतः सभी समान हैं। इसी प्रकार सामान्य रूप से अनन्तानुबन्धी कषाय स्वरूपाचरण का घात करती है, किन्तु साथ ही सम्यग्दर्शन के प्रकट होते ही स्वानुभूति के आविर्भाव होने का नियम है और स्वानुभूति में स्वरूपाचरण चरित्र अन्तर्लीन है।

समाधि में मनोविकारों का विलय होना ही साध्य है। परमागम में स्वरूप-समाधि का वर्णन किया गया है। स्वरूप-समाधि परमसमाधि में मोह विलीन हो जाता है, केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है[1]। मुनियों के ही यह बताई गई है। पं० दीपचन्दजी कासलीवाल के शब्दों में—"समाधि तो प्रथम ध्यान भये होय है। सो ध्यान चिन्तानिरोध एकाग्र भये होय है। सो चिन्तानिरोध राग-द्वेष के मिटें होय है। सो राग-द्वेष इष्ट-अनिष्ट समाज मिटे, मिटे है। तातैं जीव जे समाधिवांछक है, ते इष्ट-अनिष्ट का समागम मेटि राग-द्वेष त्यागि चिंता मेटि ध्यान में मन धरि थिरत्व स्वरूप में समाधि लगाई निजानन्द भेटो, स्वरूप में वीतरागता में ज्ञानभाव होय, तब समाधि उपजै। वह अपने स्वरूप में मन लीन करे। द्रव्य, गुण, पर्याय में परिणाम लीन लय समाधि ऐसी होय है[2]।" समाधि के तेरह भेदों का वर्णन किया गया है, जिन में से प्रथम लय समाधि है। तेरह प्रकार की समाधि के नाम हैं—लय, संप्रज्ञात, वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत, अस्मिदानुगत, निर्वितर्कानुगत, निर्विचारानुगत, निरानन्दानुगत, निरस्मिदानुगत, विवेक-ख्याति, धर्ममेघ और असंप्रज्ञात। इनमें से असंप्रज्ञात के दो भद हैं: एक प्रकृति-लय और दूसरा पुरुषलय[3]।

प्रथम लय समाधि में निज ज्ञानोपयोग रूप परिणति में शब्द और अर्थ दोनों का लय हो जाता है। इस समाधि-दशा में शब्द, अर्थ और ज्ञान तीनों में ऐसी संलीनता हो जाती है कि इनमें कोई भेद नहीं रह जाता। शब्दागम से अर्थागम और अर्थागम से ज्ञानागम—ऐसा जिनागम में कहा

१. परमात्मप्रकाश, अ० २, दोहा १६३
२. अनुभवप्रकाश, पृ० १०३
३. चिद्विलास, पृ० १४२

गया है। पं० दीपचन्दजी कासलीवाल के शब्दों में—"जहाँ द्रव्य, गुण, पर्याय के विचार से वस्तु में लीन होना, ज्ञान में परिणाम आया, उसी में लीन हुआ, दर्शन में आया, उसी में लीन हुआ। निज में विश्राम, आचरण, स्थिरता और ज्ञायकता द्वारा लय समाधि के विकल्प-भेद को नष्ट करके निज में वर्तते हैं। जिन-जिन इन्द्रिय विषयक परिणामों ने इन्द्रियोपयोग नाम धारण किया था और संकल्प-विकल्प रूप जिस मन ने उपयोग नाम पाया था, उन दोनों प्रकार के उपयोगों के छूटने पर बुद्धि द्वारा ज्ञानोपयोग उत्पन्न होता है। वह जानपना बुद्धि से पृथक् है। ज्ञान ज्ञानरूप परिणति द्वारा ज्ञान का वेदन करता है, आनन्द प्राप्त करता है और स्वरूप मे लीन होकर तादात्म्य रूप हो जाता है[1]।" यथार्थ में वीतराग, परमानन्द-समरसी भाव स्व-संवेदन सुख को समाधि कहते हैं। लय समाधि में जहाँ अन्तर्लीनता होती है, वही संप्रज्ञात समाधि मे ज्ञानशक्ति विशेष रूप से जानने में आती है। संप्रज्ञात का अर्थ सम्यग्ज्ञान भाव है। पं० दीपचन्दजी के ही शब्दो में—"सप्रज्ञात समाधि में दुःखादि वेदना प्रत्यक्ष भये हू न वेदै। विधान स्वरूप वेदने का है। मन-विकार विलय जेते अश करि गया तेती समाधि भई। सम्यग्ज्ञान करि जेता भेद वस्तु का गणनकरि जान्या तेता सुख आनन्द वढ़या। विश्राम भये स्वरूप थिरता पाय समाधि लागी, ज्ञान-धारा निरावरण होय ज्यों-ज्यों निज-तत्त्व जाने, त्यौ-त्यौ विशुद्धता केवल करि ज्ञान परिणति परमपुरुष सौ मिली, निज महिमा प्रगट करे। तहां अपूर्व आनन्द भाव का लखाव होय, तव समाधि स्वरूप की कहिये[2]।" वितर्कानुगत समाधि में स्वरूपानन्द की प्राप्ति होती है। पं० दीपचन्दजी कासलीवाल के शब्दों मे—"वितर्क कहिये—द्रव्य का शब्द ताका अर्थ भावना भावश्रुत श्रुत मे स्वरूप अनुभवकरण कह्या। परमातम उपादेय कह्या। ताहो रूप भाव मो भावश्रुत रस पीव। अमरपद समाधितै है। विचार अनादि भव-भावन का नाश चिदानन्द द्रव्य, गुण, पर्याय का विचार न्यारा जानि दर्शन, ज्ञान वानिगी को पिछानि, चेतन में मग्न होता। ज्यों-ज्यो उपयोग स्वरूप लक्षण कों लक्ष्य रसस्वाद पीवै, सो स्व-पर भेद विचारते सार पद पाय समाधि लागी। अपार महिमा जाकी परमपद सो पाया। अनादि पर-इद्रियजनित आनन्द माने था, सो मेट्या। ज्ञानानन्द में समाधि भई वस्तु वेदी आनन्द

१. चिद्विलास, पृ० १४३

२. अनुभवप्रकाश, पृ० १०४, १०५

भया। गुण वेदि आनन्द भया। परिणति विश्राम स्वरूप में लीया, तब आनन्द भया। एकदेश स्वरूपानन्द ऐसा है[1]।" विचारानुगत समाधि के तीन भेद है—विचार शब्द, ध्येय वस्तु रूप विचार का अर्थ तथा ध्येय वस्तु को विचार से जानने रूप ज्ञान है अथवा जो विचार में आवे, उस उपयोग में परिणाम की स्थिरता ध्यान ही है। उससे उत्पन्न हुआ जो आनन्द उसमें लीनता वीतराग निर्विकल्प समाधि है, उसी का नाम विचारानुगत समाधि है[2]। समाधि का पाँचवाँ भेद आनन्दानुगत है। ज्ञान के द्वारा निज स्वरूप को जानते समय जो आनन्द होता है, उसे ज्ञानानन्द कहते हैं। दर्शन, ज्ञान में जब स्व-परिणति रहती है, तब आनन्द की स्थिति रहती है। वेदन करने वाले का भी जो वेदन होता है, वह चेतना-प्रकाश का आनन्द है।

"मैं चैतन्य हूँ" ऐसा भाव रह जाने पर स्वपद की प्रतीति रूप स्थिति को अस्मिदानुगत समाधि कहते हैं। अभेद निश्चल स्वरूपभाव, द्रव्य या गुण में, जहाँ वितर्कणा नहीं—ऐसी निश्चलता में निर्विकल्प निर्भेद भावना है तथा एकाग्र स्वस्थिर स्वपद में लीनता है, वहाँ निर्वितर्क समाधि होती है[3]। निर्विकल्पदशा में अर्थ से अर्थान्तर, शब्द से शब्दान्तर और योग से योगान्तर का विचार समाप्त होते ही भेद-विचार विकल्प-नय छूट जाते हैं और परमात्मदशा के निकट पहुँच जाते हैं, इसे निर्विचार समाधि कहते हैं। कहा भी है—"सम्पूर्ण सांसारिक आनन्द छूटा, इन्द्रियजनित विषय-वल्लभ दशा दूर हुई, विकल्प-विचार से होने वाला आनन्द मिथ्या जाना, परमिश्रित आनन्द जो आता था सो गया, सहजानन्द प्रकट हुआ, परम पदवी की समीप भूमिका पर आरूढ़ हुआ—जहाँ विभाव मिटा, वहाँ ऐसा जाना कि यह मुक्ति के द्वार का प्रवेश समीप है, मुक्ति रूपी वधू से निर्विघ्न सम्बन्ध समीप है तथा अतीन्द्रिय भोग होने वाला है, ऐसा, जाना,यह निरानन्दानुगत समाधि है[4]।" दसवीं समाधि मे सुख की कल्लोल उठती है, दुःख रूपी उपाधि मिट चुकी होती है, आनन्द रूपी घर में पहुँच कर राज्य करना भर रह जाता है, केवल ज्ञान रूपी मुकुट धारण करने का समय निकट आ जाता है, इसे निरस्मिदा-

---

१. अनुभवप्रकाश, पृ० १०६ से उद्धृत

२ चिद्विलास, पृ० १४८, १४९

३. चिद्विलास, पृ० १५१, १५२

४. चिदविलास, पृ० १५२-५३ से उद्धृत

नुगत समाधि कहते है। ग्यारहवीं समाधि की अवस्था में अल्प काल में ही परमात्मा होने वाला होता है। जैसे समुद्र मे उत्पन्न होने वाली तरंग समुद्र-भाव को सूचित करती है, वैसे ही यह परिणति स्वरूप का ज्ञान कराती है। सकल सर्वस्व परिणति का अर्थ प्रकृति है और पुरुष का अर्थ परमात्मा है—इन दोनों का पृथक्-पृथक् भेद जान कर भेद मिटाने का नाम ही विवेकख्याति समाधि है। बारहवें गुणस्थान में चारित्र तो शुद्ध है, परन्तु केवलज्ञान नहीं है। वहाँ अन्तरात्मा है, साधक है, उसे धर्ममेघ समाधि कहते हैं[1]। 'असंप्रज्ञात' का अर्थ है—पर का वेदन नहीं, निज का ही वेदन करे। जिसके पर का विस्मरण है और निज का अवलोकन है, ऐसे बारहवें गुणस्थानवर्ती के अन्तिम समय तक तो चारित्र के द्वारा पर की वेदना मिटी; क्योंकि मोह का अभाव हुआ। तेरहवे गुणस्थान मे ज्ञान केवल अद्वैत ज्ञान हुआ। केवलज्ञान में निश्चय से पर का जानपना नही, व्यवहार मे लोकालोक प्रतिविम्बित होते है, इसलिये ऐसा कहते है कि सर्वज्ञ सब को जानते है[2]। इस प्रकार केवलज्ञान सर्वज्ञ की स्थिति परमसमाधि की दशा है। समाधि की दशा मे भेदभाव अमृत-रस का पान करता है। सहज धारावाही ज्ञान सतत प्रकाशित रहता है। जिनागम मे समाधि की ऐसी महिमा बताई गई है कि इससे सभी मन के विकार मिट जाते है और मोह के अभाव होने से संसार-परिभ्रमण मिट जाता है[3]। समाधि भाव मे तिष्ठ कर जो ज्ञानस्वरूप आत्मा का अनुभव नहीं करता, वह ध्यानहीन मोही है[4]।

बन्ध और मुक्ति

बन्ध शब्द का अर्थ है—बन्धन मात्र। कैसा बन्धन ? अपने स्वभाव को उपलब्ध न होने का अवरोधक कारण। जो अपने स्वभाव मे जाने देने की रोक है, उसे बन्ध कहते है। वास्तव मे आत्मोपादान रागादिक भाव और कर्म का बन्ध ही सम्बन्ध है। परभाव का होना बन्ध है और परम पारिणामिक

---

१ चिद्विलास, पृ० १५५ २. वही, पृ० १५५-५६

३. देव जिनेन्द मुनीन्द सबै अनुभौरस पीयकै आनद पायो।
केवलज्ञान विराजत है निति सो अनुभौरस सिद्ध लखायौ ॥
एक निरजन ज्ञायकरूप अनूप अखण्ड स्व-स्वाद सुहायो।
ते धन्य हैं जगमांहि सदैव सदा अनुभौ निज आपको भायौ ॥१॥ अनुभवप्रकाश, पृ. ११८

४. समाधिस्थेन यद्यात्मा बोधात्मा नानुभूयते।
तथा न तस्य तद्ध्यानं मूर्छावान्मोह एवं सः ॥ —तत्त्वानुशासन, श्लोक १६९

भाव होना मुक्ति है। बन्ध से अतीत शुद्धात्मोपलब्धि रूप भावना से च्युत (अशुद्ध निश्चयनय से) जीव का कर्म के प्रदेशों के साथ परस्पर मेल का नाम बन्ध है[1]। यह निश्चित है कि बिना सम्बन्ध के बन्ध नहीं होता। किन्तु प्रश्न यह है कि जीव और कर्म-प्रदेशों का सम्बन्ध कैसा होता है? क्योंकि जीव अमूर्तिक है और कर्म-परमाणु मूर्तिक हैं, ये परस्पर कैसे बंधते हैं? इस सम्बन्ध मे यह ध्यान देने योग्य है कि श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव के अनुसार आत्मा के जिस विकारी भाव से कर्म बंधते है वह भावबन्ध है। और भाव-बन्ध के निमित्त से आत्मप्रदेश तथा कर्मपरमाणुओं का परस्पर सम्बद्ध होना द्रव्यबन्ध है[2]। बन्ध की इस परिभाषा में यह बताया गया है कि आत्मा से नहीं, आत्मा के औपाधिक भाव से कर्म बंधता है। आत्मा के शुद्ध भाव तो स्वभाव-रूप हैं, किन्तु सभी प्रकार के शुभ-अशुभ भाव आस्रव वन्ध के कारण हैं। अत: 'भाव' से यहां अभिप्राय शुभ-अशुभ भाव से ही है। यद्यपि अशुद्ध निश्चय-नय से चेतन के परिणाम को भाव कहते हैं, किन्तु यथार्थ में शुद्ध चैतन्य का शुद्ध भाव ही भाव है। क्योंकि शुभाशुभ भाव कर्म के उदय के निमित्त से जीव मे होने वाले औपाधिक किंवा विकारी भाव हैं। शुद्ध आत्मा के स्वभाव में रागादिक भाव नही पाए जाते। अतएव शुद्ध निश्चयनय से न तो आत्मा के साथ कर्म बंधते है और न उन कर्मो की बन्ध-मुक्ति होती है। मुनि योगीन्द्र-देव कहते है—यह जीव न उत्पन्न होता है, न मरता है और न इसके बन्ध तथा मोक्ष होता है—इस प्रकार जिनेन्द्रदेव ने परमार्थ से जैसा देखा है, वैसा कहा जाता है[3]। जिस प्रकार कर्म-परमाणु शुद्ध पुद्गल द्रव्य है, वैसे ही आत्मा भी शुद्ध चैतन्य द्रव्य है। न तो कर्म-परमाणु में रागादि भाव है और न शुद्ध जीव में रागादि पाए जाते हैं। फिर, रागादि भाव क्या हैं? ये तो जीव के और कर्म के परस्पर संयोगज-अवस्था में होने वाले अपने-अपने द्रव्य के विकार-भाव है। ये शुद्ध जीव के स्वभाव में नहीं पाए जाते हैं, इसलिये

---

१. "बन्धातीतशुद्धात्मतत्त्वोपलम्भभावनाच्युतजीवस्य कर्मप्रदेशैः सह संश्लेषो बन्धः।
—बृहद्द्रव्यसंग्रह, गा. २८ की टीका

२. बज्झदि कम्मं जेण दु चेदणभावेण भावबंधो सो।
कम्मादपदेसाणं अण्णोण्णपवेसणं इदरो॥ —द्रव्यसंग्रह, गा. ३२

३. ण वि उप्पज्जइ ण वि मरइ बंधु ण मोक्खु करेइ।
जिउ परमत्थें जोइया जिणवरु एउं भणेइ॥ —परमात्मप्रकाश, गा. ६८

इनको चैतन्य का भाव नही कह कर पुद्गल कहा जाता है। वास्तव में रागादि भाव चैतन्य के भाव से भिन्न भाव है। यद्यपि वर्तमान अशुद्ध आत्म-दशा में इनका सद्भाव है; किन्तु ज्ञानात्मक नही होने से इन को परभाव ही कहा गया है। आचार्य अमृतचन्द्र तो यहाँ तक कहते हैं कि ये रागादि भाव जीव में ऊपर ही ऊपर तैरते हैं, भीतर में इनका प्रवेश नहीं है। अतः यह स्पष्ट है कि दोनों भिन्न है। वास्तव में वस्तु-स्थिति यह है कि जीव के रागादि परिणामों की उत्पत्ति मे कर्म के उदय का निमित्त होने पर भी उनको जीवकृत व्यवहार से कहा जाता है। यथार्थ में कर्म-रूप जो परिणमन करते है अथवा कर्मोदय म आते है, वे कार्मण-वर्गणा रूप पुद्गल हैं। आचार्य अमृतचन्द्र का कथन है—जीव के द्वारा किए गए परिणाम को निमित्त मात्र कर उससे भिन्न पुद्गल स्वयं कर्म रूप से परिणम जाते है[1]। यदि कोई यह कहे कि आती हुई पुद्गल कार्मण-वर्गणाएँ स्वयं कर्म रूप बन जाती हैं, तो संसार के अनन्त परमाणु स्वतः कर्म रूप परिणत क्यों नहीं हो जाते? इसका समाधान यह है कि संसार अवस्था में आत्मप्रदेशों में कम्पन-व्यापार होने पर ही क्रिया होती है जो आस्रव की जननी है। इस क्रिया का जनक राग का योग है जो सम्बन्ध स्थापित करता है। अतएव रागादि भाव किए बिना बन्ध नहीं हो सकता। यह निश्चित है कि कर्म के योग्य पुद्गल परमाणु स्वयं आते हैं, किन्तु यह भी निश्चित है कि कषाय के योग से जीव उनको ग्रहण करता है और उसे ही बन्ध कहा जाता है[2]। ज्ञानी यदि ज्ञान भाव मे स्थित रहे तो बन्ध को प्राप्त नही होगा; क्योंकि ज्ञान बन्ध का कारण नही है। रागादि अज्ञानजनित भाव कहे जाते हैं। अतः पुद्गल परमाणु तब तक बन्ध-दशा को प्राप्त नही होते; जब तक अज्ञानी जीव रागादि भाव से उनको ग्रहण नहीं करता, अपनाता नही है। उनको ग्रहण करने में, अपनाने मे राग भाव ही क्रिया-शील होता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि राग ही बन्ध रूप है, बन्ध का कारण है[3]। जो जीव रागादि भाव करता है, वह अपराधी है और आत्म-स्वभाव से च्युत होकर राग-द्वेष की ओर जाना अपराध है। यह पहले ही कहा

---

१. जीवकृतं परिणाम निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन॥ —पुरुषार्थसिद्धि-उपाय, श्लो. १२

२. सकषायत्वाज्जीव: कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः। —तत्त्वार्थसूत्र, अ. ८, सू. २

३. समयसारकलश, श्लो. १६७

जा चुका है कि यथार्थ में जीव भाव ही कर सकता है, किसी भी द्रव्य का—यहाँ तक कि स्वात्मद्रव्य का—कुछ बना-बिगाड़ नहीं सकता। इसलिये यह किसी द्रव्य के आने से वास्तव में नहीं बँधता है, वरन् अज्ञान जनित भाव से ही बन्ध-दशा को प्राप्त होता है। यह केवल आगम में प्रतिपादित तथ्य ही नहीं है, अपितु सत्य भी है। विज्ञान की दृष्टि से भी विचार करने पर यही निष्कर्ष प्राप्त होता है।

जैनदर्शन और आधुनिक विज्ञान दोनों ही यह मानते हैं कि संसार का प्रत्येक द्रव्य अनादि, अनिधन, अविनाशी तथा नित्य है : वस्तु प्रत्येक अवस्था में अपने मौलिक रूप में वही रहती है जो स्वयं होती है। विज्ञान का यह प्राचीन तथा सर्वमान्य सिद्धान्त है कि द्रव्य का स्वत: न निर्माण किया जा सकता है और न उसका विनाश होता है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक डाल्टन के अनुसार परमाणु न तो उत्पन्न किए जा सकते हैं और न किसी स्थिति में उनका विनाश होता है। रासायनिक परिवर्तन के बीच विभाजन करने के पूर्व तथा पश्चात् परमाणुओं की संख्या तथा द्रव्य वही रहता है, किसी सम्बन्ध के कारण उनमें कोई अन्तर नही होता[1]। यद्यपि पहले के वैज्ञानिकों ने पदार्थ और ऊर्जा को पृथक्-पृथक् रूप से अविनाशी माना था, किन्तु आइन्स्टीन ने अपनी खोज में यह बताया कि पदार्थ का ऊर्जा मे और ऊर्जा का पदार्थ में संक्रमण होता है। उनके ऊर्जा और प्रकाश के वेग के माप से भी हमें यही ज्ञात होता है कि पदार्थ और ऊर्जा दोनो सयुक्त रूप से अविनाशी हैं। वास्तव में भौतिक जगत् में अपघटित होने वाले परिवर्तन द्वन्द्वात्मक दशा को सूचित करने वाले हैं; क्योंकि जगत् की सभी वस्तुएँ परिवर्तनशील हैं। प्रत्येक द्रव्य में सतत कोई-न-कोई क्रिया होती रहती है। यह क्रिया वस्तु में अपने से अपने में होती है और परवस्तु के संयोग से पर में भी होती है। वस्तु की अपनी क्रिया को परिणमन कहा जाता है। संयोग दशा में भी प्रत्येक द्रव्य का परिणमन स्वतन्त्र होता है। परिणमन की इस स्वतन्त्रता के साथ द्रव्य के मूल रूप में या तत्त्व में कोई

---

1. "Since, according to Dalton, atoms can not be created, destroyed or sub-divided during a chemical change, the total number of atoms and their mass before and after a relation remains the same." —Bahl & Tuli: Essentials of Physical Chemisty, DELHI, 1970, 18th edition, p. 6.

परिवर्तन नहीं होता। परिवर्तन सब मूल तत्त्व की सतह से बाहर या ऊपरी होते हैं। इसे हम परमाणुके उदाहरणसे समझ सकते हैं। वैज्ञानिकों की धारणा के अनुसार किसी भी द्रव्य का मूलतत्त्व एक सूक्ष्म कण होता है। यह सूक्ष्म कण इतना छोटा होता है कि इसका विभाजन नही किया जा सकता। परमाणु अच्छेद्य तथा अभेद होता है। अतः इस कण को डेमोक्रिटस ने 'ए-टम' कहा था, जिसका अर्थ है--अ-भेद्य। इन दो या दो से अधिक कणों से मिल कर स्कन्ध बनते हैं। यथार्थ में जैन दर्शन में वर्णित पुद्गल द्रव्य मूल में अणु रूप है, जिसका विभाजन नही किया जा सकता। अणु प्रदेशहीन माना गया है। अधुनातन विज्ञान जैनधर्म के परमाणु के मूल तक अभी नही पहुँच सका है। क्योंकि जैनदर्शन के अनुसार परमाणु सर्वातिसूक्ष्म होता है, इसलिए वह अपने प्रदेश में अन्य परमाणु को आने से रोकता नही है। यही कारण है कि एक प्रदेश में अनन्त परमाणु समा जाते है। आकाश के जितने स्थान को एक अविभागी पुद्गल परमाणु रोकता है, उसे प्रदेश कहते है। प्रदेश को समझे बिना हम परमाणु की कल्पना तक नही कर सकते। रासायनिक प्रक्रियाओं में सम्पूर्ण रूप से परमाणु सक्रिय होता है। किन्तु उसकी आन्तरिक रचना में प्रायः कोई परिवर्तन नही होता।

जैन दर्शन में भेद से, सघात से अर्थात् पृथक्-पृथक् द्रव्यो के एकत्व से तथा भेद-संघात दोनों से अर्थात् खण्ड होने के साथ एकत्व को प्राप्त होने से स्कन्ध कहे जाते हैं[1]। सर्वातिसूक्ष्म पुद्गल द्रव्य परमाणु कहा गया है। पुद्गल द्रव्य के स्कन्ध, एकस्कन्ध, स्कन्धप्रदेश और परमाणु इन चार भेदो का वर्णन उपलब्ध होता है। स्कन्ध के छह भेद बताये गए है–(१) स्थूल-स्थूल (इन्द्रिय-ग्राह्य पदार्थ; जैसे कि-लकड़ी, पत्थर आदि), (२) स्थूल (द्रव पदार्थ; जैसे कि-पानी, घी-तेल आदि), (३) स्थूल-सूक्ष्म (आकारवान पर्यायें; जैसे कि– प्रकाश-अन्धकार, छाया आदि ऊर्जाएं), (४) सूक्ष्म-स्थूल (वायु आदि गैस), (५) सूक्ष्म (कार्मण-वर्गणाएं), (६) सूक्ष्म-सूक्ष्म (द्व्यणुक स्कन्ध)। इन छह स्कन्धो से तीन लोक की रचना हुई है[2]। शब्द स्कन्धजन्य है। इसी प्रकार अन्य दृश्यमान पौद्गलिक पदार्थ स्कन्धजन्य है। स्कन्ध-रचना परमाणुओ के संयोग तथा अन्य बन्ध से होती है। परमाणुओं का परस्पर

---

१. भेदसघातेभ्य उत्पद्यन्ते। भेदादणु.। —तत्त्वार्थसूत्र, अ. ५, सू. २६-२७
२. पंचास्तिकाय, गा. ७५–७६

संयोग अपनी-अपनी विद्युत्-प्रकृति के अनुसार होता है। परमाणुओं के बन्ध का मूल कारण उनकी विषम विद्युत्-प्रकृति कही गई है। भौतिक विज्ञान के अनुसार परमाणुओं में जो बन्ध देखा जाता है, उसका कारण इलेक्ट्रान है। किन्तु उनमें से सभी बन्ध नहीं करते हैं; केवल बाहरी कक्ष वाले ही बन्ध करते हैं।

अधुनातन स्थिति में विज्ञान की यह मान्यता है कि द्रव्य के मूल परमाणु-कण कम से कम दो अंशों से मिलकर बनते हैं। इनमें से एक केन्द्रक होता है, जिसके इर्द-गिर्द इलेक्ट्रान सतत गतिशील रहते हैं। इलेक्ट्रानों की संचरणशील गति ही सम्भवतः धाराप्रवाही प्रवाह बन जाता है। परमाणु तीन अंशों से निर्मित कहा जाता है—इलेक्ट्रान, प्रोटान और न्यूट्रान। परमाणु के अन्तःकरण को केन्द्रक (nucleus) कहते हैं। इसका दूसरा नाम नाभिक भी है। नाभिक वह बिन्दु है जो सदा स्थिर रहता है, जिसमें कठोर स्थिति में ही कोई परिवर्तन होता है। नाभिक के इस केन्द्रक से न्यूट्रान आवद्ध होता है। इस नाभि-संस्थान से पृथक् दूर स्थित इलेक्ट्रान नामक कणों का समुच्चय वाह्य प्रावरण कहा जाता है। नाभिक में प्रोटान भी विद्यमान रहते हैं, जिनमें स्वभाव से धनावेश पाया जाता है। इलेक्ट्रान में ऋणावेश होता है; जबकि न्यूट्रान में ऋण और धन किसी भी प्रकार का विद्युत् का आवेश नहीं होता। प्रसिद्ध वैज्ञानिक नील्स बोर के अनुसार परमाणु केन्द्र अथवा नाभि रूप में स्थिर रहता है। किन्तु इलेक्ट्रान उस केन्द्र-बिन्दु के इर्द-गिर्द वृत्ताकार (अण्डाकार) परिधियों में निरन्तर परिक्रमा करते रहते हैं[1]। उनकी गति का अध्ययन करने से पता चलता है कि केवल विद्युत् वल के प्रभाव के कारण ये परिक्रमा करते रहते हैं। किन्तु इनमें जो आवेश पाया जाता है, वह स्वाभाविक होता है। कभी-कभी प्रकृति अपने आप कणों में आवेश उत्पन्न कर देती है। उदाहरण के लिए, एक न्यूट्रान प्रोटान और इलेक्ट्रान में परिवर्तित हो जाता है। परिवर्तित प्रोटान और इलेक्ट्रान में सम तथा विरुद्ध आवेश होता है। आवेश उत्पन्न होने के पूर्व तथा पश्चात् सम्पूर्ण आवेश शून्य ही होता है[2]। इस प्रकार विज्ञान

---

१. विश्व के महान वैज्ञानिक, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, १९६६, पृ. १४३

२. फिजिक्स, डी. सी. हीथ एण्ड कं., बोस्टन, इंडियन एडिशन, द्वितीय संस्करण, १९६६, पृ. ४८२

में प्रतिपादित इन नियमों को हम ऊर्जा की अविश्नवरता का नियम, द्रव्य-मान की अविनश्वरता का नियम और आवेश की अविनश्वरता का नियम इत्यादि रूप में जानते हैं। वैज्ञानिक नियम द्रव्य की भौतिक उत्पत्ति और विनाश (पर्यायान्तर) के सम्बन्ध में विश्लेषण पूर्वक जहाँ उसकी भौतिक इकाई का वर्णन करते हैं, वहीं पदार्थ की अविनश्वरता को भी सिद्ध करते हैं। पदार्थ की अविनश्वरता का सिद्धान्त यह है कि रासायनिक परिवर्तनों के घटित होने पर भी पदार्थ मूल रूप में जैसे का तैसा रहता है। इस परीक्षण से कि रासायनिक परिवर्तन के अपघटित होने पर भी पदार्थ का परिमाण अपरिवर्तित अवशिप्ट रहता है, प्रबलता से इस मान्यता की पुष्टि हो जाती है कि रासायनिक परिवर्तन घटक अवयवों के पुनःस्थापन की विधि है। इस प्रक्रिया में न तो किसी अवयव की हानि होती है और न किसी की प्राप्ति। इसलिये पदार्थ की कोई हानि या लाभ नहीं है[1]।

आज का रसायन-विज्ञान भी क्या है? यह द्रव्य (सार-पदार्थ) का विज्ञान है। जो वैज्ञानिक विशुद्ध रसायन-विज्ञान के क्षेत्र में कार्य कर रहे है, वे इसमें रुचि लेते है कि सर्व प्रथम यह खोज की जाए, वैज्ञानिक प्रयोग-शाला में यह विश्लेषण किया जाए, जिससे यह पता लग सके कि द्रव्य किन रासायनिक तत्त्वो से और किस मात्रा में सबद्ध होते है, जिनसे उनका निर्माण कहा जाता है[2]। वास्तव में रसायन-विज्ञान की भांति जैनदर्शन भी तत्त्व-विश्लेषण से प्रारम्भ होता है। तत्त्व का विश्लेषण वही कर सकता है जिसे वस्तु-स्वरूप का ज्ञान हो, जो यह जानता हो कि भौतिक जगत् में किस प्रकार से विभिन्न पदार्थों का बंधना और बिछुड़ना होता है। जैसे प्रकृति के क्षेत्र में निरन्तर बन्ध और मोक्ष की क्रिया चलती रहती है, वैसे ही

---

1. "The observation that chemical chages leave the quantity of matter unchanged strongly suggests that the chamical change is a process of rearranging component parts. No parts are lost and non gained, so there is no loss or gain of matter."
–Physics, D. C. Heath & Co. Boston, second Indian edition, 1966, p. 104

2. Science and Discovery, International Graphic society, Englewood Cliffs, New Jersey, 1960, p. 10

विभिन्न पदार्थों में भी भौतिक और रासायनिक परिवर्तनों के साथ बन्ध और मुक्ति की प्रक्रिया घटित होती रहती है।

प्रश्न यह है कि जीव और कर्म का तथा विभिन्न तत्त्वों का रासायनिक संयोग होकर बन्ध कैसे होता है? बन्ध सदा दो वस्तुओं के बीच में होता है। अत: कौन किस को बाँधता है? बन्ध की प्रक्रिया क्या है?

यह पहले ही कहा जा चुका है कि जीव और पुद्‌गल में विभाव और स्वभाव रूप परिणमन करने वाली एक शक्ति है, जिससे जीव संसारी दशा में विभाव रूप परिणमन करता है। इस शक्ति का नाम वैभाविक शक्ति कहा गया है। शुद्ध अवस्था में इस शक्ति का स्वभाव रूप परिणमन होता है। अतएव शक्ति एक ही है, किन्तु दो विभिन्न अवस्थाओं की ज्ञापक होने से दो भिन्न नामो से कही जाती है। वास्तव में कर्म का उदय बन्ध का कारण नही है, न कर्मरूप पुद्‌गल परमाणुओं का आत्म-प्रदेशों में आना बन्ध का कारण है; राग-द्वेष, मोह भाव रूप विकार से हो बन्ध होता है[1]। जीव स्वयं पुद्‌गल-वर्गणाओं को कही से खींचकर लाता नहीं, पुद्‌गल-परमाणुओं को अपने जैसा बनाता नही और न परमाणु मात्र का निर्माण ही करना पड़ता है। इस लोक में चारों ओर सब प्रकार के सूक्ष्म और स्थूल जीव भरे हुए है। इसी प्रकार द्रव्यकर्म रूप परिणमने योग्य और कर्म-बन्ध रूप न होने योग्य पुद्‌गल-वर्गणा भी लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश में ठसाठस भरी हुई है। अतएव विस्रसोपचय रूप से स्थित कर्म-वर्गणाएँ ही द्रव्यबन्ध को प्राप्त होती हैं। न तो जीव-परमार्थ से कर्म को बाँधता है और न कर्म जीव को बाँधता है; क्योंकि जीव अमूर्तिक है वह मूर्तिक कर्म से बंध नही सकता है। वास्तव में कर्म-बन्ध का कारण अशुद्ध उपयोग है[2]। बन्ध सदा मूर्तिक का मूर्तिक से ही होता है। आचार्य अकलंकदेव कहते हैं कि द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से

---

१. उदयागतविधि नियत रूप से जिनवर के खिर जाता है।
मोह रोष या रागभाव से जीव बन्ध कर पाता है॥
—आचार्य ज्ञानसागर, प्रवचनसार, गा. ४३ का पद्यानुवाद

सुहुमेहिं बादरेहिं य अप्पाओग्गेहिं जोग्गेहिं॥—प्रवचनसार, गा. १६८

२. समयसार नाटक, बन्धद्वार, पद ४

सामान्य का कथन होने से एक प्रकृतिबन्ध ही होता है, यह बताने के लिए सूत्र में "आद्य" शब्द का एक वचन में प्रयोग किया है[1]।

सूक्ष्म तथा स्थूल रूप में परिणत हुए नाना आकारों को धारण करने वाले द्व्यणुकादि स्कन्ध अपने-अपने परिणमन के अनुसार पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि के रूप में विविध परिवर्तनों को प्राप्त होते हैं। इनमें से कितने ही कर्मरूप में परिणमने योग्य होते हैं और कितने ही कर्मरूप परिणमन नहीं कर पाते। जो द्रव्यकर्म रूप परिणमने वाले परमाणु पुद्गल होते है, उन्हें ही कार्मण-वर्गणा कहते है। सामान्यतः वर्गणा धूल से भी अनन्त गुनी सूक्ष्म कणों मे विभाजित रहती है। इससे भी अधिक सूक्ष्म विद्युन्मय कार्मणवर्गणा (परमाणु) होती है। जिस प्रकार परमाणु के नाभिक के चारों ओर हल्के तथा ऋण विद्युन्मय कण होते है जिन्हें इलेक्ट्रान कहते है, उसी प्रकार कार्मणवर्गणा होती है। जैसे प्रत्येक परमाणु में इलेक्ट्रान होते है जो नाभिक के चारो ओर चक्कर लगाते रहते है, वैसे ही जीव की संयोगावस्था में सब ओर सूक्ष्म तथा स्थूल कार्मणवर्गणाएँ सतरण करती रहती हैं। इलेक्ट्रान आकर्षण शक्ति के कारण परमाणु से जुड़ा रहता है। वह अपनी कक्षा में गतिशीलता से तथा अपने अक्ष पर चक्रण के कारण चुम्बक की भांति कार्य करता है। इसी प्रकार जब जीव राग, द्वेष, मोह के भाव करता है, तब कार्मण-वर्गणा स्वयं क्रियाशील हो आतमप्रदेशो मे प्रवेश करती है तथा वन्ध को प्राप्त होती है। इस दशा में परमाणु पर परिणामी चुम्बकीय प्रभाव होता है। इलेक्ट्रान एक स्वतन्त्र कण है, जिसे बहुत पहले जान्स्टन स्टोनी ने विद्युत्-परमाणु रूप माना था। विद्युत् दो प्रकार की होती है—धनविद्युत् (Positive electricity) ऋणविद्युत् (Negative electricity)। एक ही प्रकार के विद्युत् आवेश क दूसरे को आकर्षित करते है और विपरीत प्रकार के आवेश एक दूसरे को विकर्षित करते है। आकर्षित दशा के विद्युत् आवेश को हम राग कह सकते है और विकर्षित दशा के विद्युत् आवेश को द्वेष कहा जा सकता है। इसे ही जिनागम में इस प्रकार कहा गया है कि

---

१. "द्रव्यार्थिकनयविषयस्य सामान्यस्य विवक्षातः प्रकृतिबन्ध एक इत्याद्यशब्दादेकवचनप्रयोगः।" —तत्त्वार्थवार्तिक, ८, ४

स्निग्धता और रूक्षता से बन्ध होता है[1]। दोनों में ही अन्तरंग और बहिरंग दोनों कारण हैं। स्नेह का दो अधिक गुण वाले स्नेह से या रूक्ष से, रूक्ष का दो अधिक गुण वाले रूक्ष से या स्नेह से बन्ध होता है। जघन्य गुण का किसी भी तरह बन्ध नहीं होता[2]। बन्ध का वर्णन कई प्रकार से मिलता है। आचार्य अकलंकदेव ने सर्व प्रथम प्रायोगिक और वैस्रसिक (स्वाभाविक) के भेद से दो प्रकार कहा है। स्वाभाविक बन्ध भी आदिमान् और अनादिमान् के भेद से दो प्रकार का होता है। स्निग्ध-रूक्ष गुणों के निमित्त से बिजली, उल्का, जल-धारा, इन्द्रधनुष आदि रूप पुद्गल बन्ध आदिमान् है। अनादि स्वाभाविक बन्ध नौ प्रकार का है। जो प्रयोगजन्य है उसे प्रायोगिक कहते हैं। यह दो प्रकार का है—एक अजीवविषयक और दूसरा जीव तथा अजीवविषयक[3]। इनकी विशेष व्याख्या आधुनिक रसायन-विज्ञान के आधार पर की जा सकती है। यहाँ केवल इतना ही समझ लेना पर्याप्त है कि स्निग्ध और रूक्ष से अभिप्राय विद्युत् की विषम आवेशमय दशा से है। प्रश्न यह है कि विद्युत् में आकर्षण-विकर्षण क्यों होता है? जीव में रागादि भाव क्यों उत्पन्न होते हैं? भौतिक विज्ञान मे यह बताया जाता है कि यदि दो आवेशित पिण्डों को एक दूसरे से निश्चित दूरी पर लटका दिया जाए, तो उनमे परस्पर आकर्षण या विकर्षण होता है। पिण्डों का आवेश बढ़ा देने पर उनका पारस्परिक आकर्षण या विकर्षण भी बढ जाता है[4]। क्योंकि दो असमान आवेश जब किसी निश्चित दूरी पर घटित होते हैं, तो उनमें बल उत्पन्न होता है। यदि पिण्डों का आकार उनके बीच की दूरी की अपेक्षा अत्यन्त छोटा हो, तो उन्हें बिन्दु आवेश माना जा सकता है। इस प्रकार विद्युत्-क्षेत्र में अपघटित होने वाली क्रियाओं के आधार पर यह निश्चित होता है कि निकट सम्पर्क मे आने वाली दो वस्तुओं में उत्पन्न होने वाली विद्युत्-आवेश का कारण विद्युत्-बल है। इस विद्युत्-बल को कारण भूत विभवान्तर (Potential difference) को जिनागम में वैभाविक

---

१. स्निग्धरूक्षत्वाद् बन्धः।—तत्त्वार्थसूत्र, अ. ५, सू. ३३
२. द्वयधिकादिगुणानां तु ॥ —वही ५, ३६
३. तत्त्वार्थवार्तिक, ५, २४
४. विद्युत और चुम्बकत्व, खण्ड १, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय. १९६५, पृ. ११

शक्ति कहा गया है। यह एक प्रकार की शक्ति ही है, जिससे सतत आकर्षण होता रहता है। आधुनिक विज्ञान के अनुसार यह पृथ्वी और ग्रह इसीलिए टिके हुए हैं कि इनमें आकर्षण शक्ति है। इसी प्रकार जीव और कर्म दोनों में तैजस और कार्मण काययोग होने से सतत आकर्षण होता रहता है। परिणामत: जीव कर्म से बद्ध होता है और कर्म जीव से बद्ध होता है[1]। जीव में जैसी स्वाभाविक शक्ति वास्तविक तथा नित्य है, वैसी ही तथाकथित वैभाविक शक्ति भी वास्तविक और नित्य है। वास्तव में पदार्थ शक्तियों का समूह है। यदि विभाव शक्ति को नित्य नहीं माना जाए, तो क्रमशः शक्तियों के ह्रास से पदार्थ का नाश हो जाएगा, अंश के नाश से अंशी का नाश हो जाएगा। अत: एक ही शक्ति के स्वभाव तथा विभाव रूप दो प्रकार के परिणमन होते हैं। परन्तु ये दोनों अवस्थाएँ किसी भी पदार्थ में एक समय में एक साथ नहीं पाई जाती। वस्तुत: सभी शक्तियाँ स्वत: सिद्ध स्वभाव से ही परिणमनशील हैं। जिस प्रकार चुम्बक पत्थर में आकर्षण की शक्ति निरन्तर रहती है, किन्तु निमित्त कारण सुई के मिलते ही वह सुई को अपनी ओर आकर्षित कर लेता है[2]। उन दोनों में ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। अतएव जिनका परस्पर कार्य-कारण सम्बन्ध होता है, उनमे ही बन्ध होता है; प्रतिकूल का बन्ध नहीं होता। अत: राग बन्ध का कारण है।

भौतिक विज्ञान के अनुसार परमाणु में इलेक्ट्रानों की गति एक विशिष्ट प्रकार की तरंगों से निर्देशित होती है। परमाणु-संरचना के आधुनिक सिद्धान्त इलेक्ट्रान की द्वैध (तरग-कणिक) प्रकृति पर आधारित है[3]। परमाणु के नाभिक के चारो ओर कक्ष की केवल एक ही परिधि नहीं होती, किन्तु विभिन्न कक्षाओं मे परिक्रमा करने वाले इलेक्ट्रान प्रतिगामी दिशाओ में संचरणशील रहते हैं, जिससे उनमें संघर्ष नहीं होता तथा उनसे सहवर्ती

---

१. जीवकर्मोभयोबन्धः स्यान्मिथः साभिलाषुकः।
जीव. कर्मनिबद्धो हि जीवबद्ध हि कर्म तत्॥—पंचाध्यायी, २, १०४

२. अयस्कान्तोपलाकृष्टसूचीवत्तद्द्वयो. पृथक्।
अस्ति शक्तिर्विभावाख्या मिथो बन्धाधिकारिणी॥ —वही, २, ४५

३. पुरुषोत्तमभट्ट चक्रवर्ती. परमाणु संरचना. मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल १९७३, पृ. ५५

अप्रगामी तरंग (Stationary wave) सम्बद्ध रहती है। जिस प्रकार भौतिक जगत् में योग-संयोग का कारण वैद्युत्-आकर्षण कहा जाता है, वैसे ही आध्यात्मिक जगत् में राग-द्वेष, मोह रूप परिणाम बन्ध के कारण कहे गए हैं। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि अज्ञानादि अध्यवसाय रागादि रूप होने से बन्ध का कारण है। जीवों को मारो या मत मारो, कर्मबन्ध तो अध्यवसान से ही होता है। यह निश्चयनय से जीवों के बन्ध का संक्षेप है[1]। वास्तव में रागादि भावमय अध्यवसान होने से वैभाविक परिणमन होता है। चक्रण क्वान्टम संख्या के अनुसार चुम्बकीय क्षेत्र में इलेक्ट्रान का व्यवहार इस तरह का होता है जैसे कि वह अपने अक्ष पर तेजी से चक्रण कर रहा हो। इससे यही सिद्ध होता है कि इलेक्ट्रान स्वयं एक सूक्ष्म चुम्बक होता है। इसका चुम्बकीय-क्षेत्र, अपने अक्ष पर दिष्ट-चक्रण (Apperent spin) के कारण होता है तथा इलेक्ट्रान की अपनी कक्षा म गति तथा सहावस्थिति से भी होता है[2]। यह पहले ही कहा जा चुका है कि भौतिक क्रियाशीलता का कारण तरंगे हैं। तरंग निर्वात (Vaccume) में भी होकर जाती हैं। उन तरंगों को विद्युत् चुम्बकीय तरगें कहते है। उनमें विद्युत् और चुम्बकीय क्षेत्र एक दूसरे के अभिलम्बवत् होते हैं[3]। इलेक्ट्रान के चक्रण के कारण उनमें एक जन्मजात चुम्बकीय घूर्ण (magnetie moment) होता है। उस घूर्ण या कम्पन की दिशा (ms) वेक्टर (Vector) की दिशा के संपाती (Coincide) होती है। अतएव जब भी दो विपरीत मान वाले इलेक्ट्रान समीप होते हैं, उनके चुम्बकीय घूर्ण विरोधी होने के कारण एक-दूसरे को निरस्त कर देते हैं। किन्तु जो इलेक्ट्रान अन्य इलेक्ट्रान से समान मान के कारण अपना घूर्ण निरस्त नहीं कर पाता, वह परमाणु या अणु के चुम्बकत्व का कारण कहा जाता है, जिसमें चुम्बकत्व विद्यमान रहता है। साथ ही परमाणु या अणु के चुम्बकीय घूर्ण का परिणाम उसमें विद्यमान अयुग्म (Unpaired) इलेक्ट्रानों की संख्या के समानुपाती होता

---

१. अज्झवसिदेण बंधो सत्ते मारेउ मा व मारेउ।
एसो बंधसमासो जीवाणं णिच्छयणयस्स॥ —समयसार, गा. २६२

२. पुरुषोत्तम भट्ट चक्रवर्ती : परमाणु संरचना, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल १९७३, पृ. ७५-७६

३. विद्युत और चुम्बकत्व, खण्ड २, काशी हिन्दू वि. वि., वाराणसी, १९६५, पृ. ४६३

है[1]। इस प्रकार भौतिक जगत् में प्रत्येक समय में वैद्युत-आकर्षण से अपघटित होने वाला चुम्बक की भाँति अक्ष-चक्रण बन्ध का समानुपाती कहा जा सकता है, वैसे ही रागादि भावों से आत्म-प्रदेशों में परिस्पन्दन रूप कार्मणवर्गणाओं का आकर्षण होकर क्रियाशील होना ही द्रव्यकर्म का बन्ध कहा जाता है। इसी प्रकार जब परमाणु में इलेक्ट्रानों के चक्रण परस्पर उदासीन हो जाते है, तो परमाणु में चुम्बकत्व समाप्त हो जाता है; इसे ही हम यों कह सकते हैं कि जब आत्म-प्रदेशों से चम्बकत्व रूप रागादि भाव निकल जाते हैं, तब आत्म-प्रदेश स्पन्दनहीन हो कर्म-बन्ध से उदासीन हो जाते है। इस प्रकार जैनदर्शन तथा आधुनिक विज्ञान में कर्म-बन्ध एवं स्कन्ध-रचना व बन्ध की प्रक्रिया समान है। आधुनिक भौतिक रसायन-विज्ञान के अनुशीलन से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है।

आधुनिक विज्ञान के अनुसार सामान्यतः पदार्थ में तीन प्रकार के परिवर्तन देखे जाते हैं—भौतिक, रासायनिक और पारमाण्विक। बाह्य भौतिक जगत् में लक्षित होने वाले पदार्थ विभिन्न रूपों मे समय-समय पर दृष्टि-गोचर होते है। उनमे से कुछ पदार्थ रासायनिक यौगिक होते है, कुछ भौतिक मिश्रण होते है और कुछ शुद्ध तत्त्व रूप में होते है। मनुष्य भोजन मे सदा से ग्रहण किए जाने वाले नमक को एक ही मानता चला आ रहा है। किन्तु विज्ञान की प्रयोग-शाला में विश्लेषण करके कोई भी देख सकता है कि नमक दो तत्त्वों से मिलकर बना है। विश्लेषित करने पर सोडियम और क्लोरीन दोनो पृथक्-पृथक् जाने जा सकते है। सोडियम के सब से छोटे कण को अणु कहते है। अणु परमाणुओं से मिलकर बनता है। हाइड्रोजन का अणु दो परमाणुओं से मिलकर बना है, किन्तु सोडियम का अणु एक ही परमाणु से निर्मित होता है। नमक की भाँति पानी भी दो यौगिक तत्त्वों से मिलकर बनता है। भौतिक परिवर्तन सदा सादा होता है; जैसे कि दूध-पानी मिलकर एकमेक हो जाते है। वस्तुतः भौतिक परिवर्तन असंख्य होते है और निरन्तर होते रहते है।

रासायनिक परिवर्तन दो वस्तुओं की सर्वदेशीय प्रक्रिया में घटित होने वाला सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है। क्योंकि रासायनिक

---

१. पुरुषोत्तम भट्ट चक्रवर्ती : परमाणु संरचना, म. प्र. हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल १९७३, पृ. ७७ से उद्धृत

परिवर्तन में दोनों वस्तुएँ अपने-अपने गुण-धर्म को बदल देती हैं। उनका एक रस से रसान्तर को प्राप्त हो जाना ही रासायनिक परिवर्तन कहा जाता है। उदाहरण के लिए दूध से दही बन जाने पर दूध के गुण-धर्म बदल जाते हैं। वस्तुतः इसे गुण का विकार कहा जाता है। विकारी अवस्था में जीव स्वयं अमूर्त होने पर भी मूर्त कहा जाता है। किन्तु चैतन्य के अपने गुण-धर्म किसी भी अवस्था में बदल नहीं सकते हैं। इसे समझने के लिए वैज्ञानिकों का यह कथन मननीय है कि रासायनिक परिवर्तनों में भाग लेने वाले परमाणु जैसे के तैसे रहते हैं। इसे एक उदाहरण से और अच्छी तरह समझा जा सकता है। लकड़ी में कार्बन पाया जाता है। साधारणतः कार्बनिक पदार्थों में कार्बन के साथ हाइड्रोजन भी रहता है, किसी-किसी में हाइड्रोजन के अतिरिक्त ऑक्सीजन भी निहित रहता है। लकड़ी में रहने वाला कार्बन हर हालत में कार्बन ही रहता है। लकड़ी के जल जाने पर हमें लगता है कि लकड़ी का नाश हो गया। भौतिक जगत् में भी यह माना जाता है कि पदार्थ बदल गया। किन्तु कार्बन के साथ विद्यमान उड़नशील तथा वाष्पीय कणों के उड़ जाने तथा वाष्प रूप में आकाश-मण्डल में फैल जाने से यह कहा जाता है कि गुण-धर्म बदल गये। वास्तव मे लकड़ी जब लकड़ी थी, लकड़ी जब कोयला बनी, कोयला जब राख बना और राख जब वायु-मण्डल में उड़ कर फैल गई—इन सभी दशाओं में मूल वस्तु कार्बन का नाश नहीं होता।

जिस काल में जीव पूर्व कर्मोदय में रागादिक रूप परिणमन करता है, उसी काल मे उन रागादिकों के निमित्त से कार्मण-वर्गणाएँ उसी काल में आत्मा से सम्बद्ध हो जाती है। अतः एक समय मे जितनी कार्मण-वर्गणाओं का आस्रव (आगमन) होता है, उतना ही बन्ध होता है। गुणस्थानों का कारण योग और मोह के मिले-जुले जीव के भाव होते हैं। उसमें योग की अविभागी प्रतिच्छेद राशि जघन्य से उत्कृष्ट तक होती है। वास्तव में जीव जिस भाव से विषयागत पदार्थ को देखता है, जानता है, ,उसी से विकार भाव को प्राप्त होता है और उसी से कर्म बंधता है—यह जिनेन्द्रदेव का उपदेश है[1]।

---

१. भावेण जेण जीवो पेच्छदि जाणदि आगदं विसये।
रज्जदि तेणेव पुणो वज्झदि कम्म त्ति उवदेसो॥—प्रवचनसार. गा. १७६

अतएव जीव कर्म करता है और उसका फल भोगता है—यह व्यवहार का कथन है। यथार्थ में तो रागादि भाव से पुद्गल रूप द्रव्यकर्म बँधता है।

यह निश्चित है कि परमाणु-रचना के आधार पर वस्तुओं में होने वाला आवेश समझा जा सकता है। क्योंकि दो वस्तुओं के निकट सम्पर्क से उत्पन्न होने वाला धन और ऋण आवेश माध्यम की विकृति से उत्पन्न होता है। ऊर्जा वस्तुतः माध्यम में होती है। वास्तविकता यह है कि प्रत्येक वस्तु स्वयं विद्युन्मय होती है। इलेक्ट्रान ऋण विद्युन्मय, प्रोटान धन विद्युन्मय और न्यूट्रान उदासीन होता है। इलेक्ट्रान मे तरंग तथा कण दोनों के गुण पाए जाते हैं। प्रकाश में भी ये दोनों गुणधर्म पाए जाते है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि नाभिक अचल व स्थिर है। उसमें किसी से भी किसी भी प्रकार का बन्ध नही होता। स्वभाव की स्थिरता में बन्ध सम्भव नहीं है। रदरफोर्ड के अनुसार परमाणु नाभिक के मध्य में सूर्य की भाँति स्थित है। उसकी परिक्रमा विभिन्न कक्षाओं में स्थित ग्रहों की भाँति विभिन्न इलेक्ट्रान करते रहते हैं[1]। जब दो विपरीत दिशाओ से सचरण करते हुए इलेक्ट्रान इतने सन्निकट होते है कि एक-दूसरे के ऊपर छा जाते हैं, तो उस दशा मे बादल की भाँति नाभिक के आस-पास भ्रमणशील रहते हे। उनकी उस समानान्तर निकटता को पायबन्ध (Pibond) कहा जाता है। यह उसी दशा में होता है, जबकि इलेक्ट्रान में ऊर्जा की कमी होती है। जिनमे ऊर्जा अधिक होती है, वे इलेक्ट्रान बन्ध नही करते है। बन्ध की दशा में उनमे ऊर्जा की कमी हो जाती है। इस प्रकार इलेक्ट्रान-अभ्र का निर्माण एक ऐसा चित्र प्रस्तुत करता है; जैसे इलेक्ट्रान नाभिक के इर्द-गिर्द आकाश मे धूमिल हो गया हो तथा इलेक्ट्रान ठोस कण न होकर विसरित -अभ्र (diffuse cloud) हो[2]। इसी से मिलता-जुलता उदाहरण जिनागम में दिया गया है। जिस प्रकार सूर्य के सामने बादलों के छा जाने से चारों ओर अन्धकार छा जाता है, सूर्य की ऊर्जा का अवरोध हो जाता है, वैसे ही आत्म-प्रदेशो के

---

१. डॉ. बालगोविन्द जायसवाल : प्रारम्भिक भौतिक रसायन, म. प्र. हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, १९७३, पृ. १४७

२. पुरुषोत्तम भट्ट चक्रवर्ती : परमाणु सरचना, म. प्र. हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, १९७३, पृ. ६५

ऊपर कर्म-पुद्गल परमाणुओं के छा जाने से स्वाभाविक शक्ति का प्रकाश अवरुद्ध हो जाता है। वास्तव में मेघ जिस तरह सूर्य में कोई विकार उत्पन्न नहीं करते; वैसे ही कर्म जीव के साथ बन्ध करते हैं। यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि सजातीय पौद्गलिक किंवा भौतिक पदार्थों का तो रासायनिक बन्ध हो जाता है, किन्तु आत्मा का कर्म के साथ संयोग सम्बन्ध होने से रासायनिक बन्ध कहा जाता है; वास्तव में होता नहीं है।

भौतिक तथा रसायन-विज्ञान की पुस्तकों के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि भौतिक, रासायनिक तथा पारमाण्विक किसी भी रूप में बन्ध क्यों न हों; वे निश्चित दिशा में अपने गुण-धर्मों के निश्चित नियम के अनुसार होते हैं। नाभिक कणों के महत्त्वपूर्ण गुण माने जाते हैं–आवेश (Charge), द्रव्यमान (Mass) तथा चक्रण (Spin)। जैनदर्शन की भाँति भौतिकीय वस्तुओं में भी सामान्य तथा असाधारण कई प्रकार के गुण पाए जाते हैं, किन्तु उनकी व्याख्या भौतिकीय तथा रासायनिक रूप में की जाती है। धर्म की व्याख्या जहाँ आध्यात्मिक है, वहीं विज्ञान की व्याख्या भौतिक है–यही इन दोनों में अन्तर है। भौतिकीय विज्ञान में प्रतिपादित वैद्युत संयोजक बन्ध, सह संयोजक बन्ध और उपसह संयोजक बन्ध इन तीनों में एक से अधिक बार संयुक्त होने वाले परमाणु कभी संक्रमित होते हैं, कभी वे इलेक्ट्रानों के सहभाजन होते हैं और कभी विशिष्ट दशा को प्राप्त हो उसे ऊर्जस्वित बनाते है, जिससे अणु में कुछ ध्रुवता आ जाती है। भौतिक जगत् में यह देखा जाता है कि दो वस्तुओं के जुड़ने का गुण चुम्बकत्व है। आकर्षण शक्ति के कारण एक-दूसरे से संयुक्त रहते है। यह आकर्षण विद्युत् के आवेश से उत्पन्न होता है। विद्युत् ही ऊर्जा, यान्त्रिक, रासायनिक, ऊष्मीय तथा प्रकाशकीय ऊर्जा में परिवर्तित हो जाती है।

संसार के समस्त प्राणी राग-द्वेष के आवेश के कारण निरन्तर भ्रमणशील रहते हैं। राग-द्वेष के आवेश का कारण भौतिक पर-पदार्थों के विषयों का संग व सम्बन्ध है। राग-द्वेष, मोहजन्य भावों के कारण संसारी जीव प्रत्येक समय में कर्म के साथ बन्ध कर रहा है। यह बन्ध तीन प्रकार से घटित हो रहा है:—(१) पुद्गल का पुद्गल के साथ, (२) जीव का जीव के साथ और (३) जीव का पौद्गलिक कर्म के साथ। पुद्गल का पुद्गल के साथ जो

सम्बन्ध होता है, उसका कारण स्निग्धत्व और रूक्षत्व स्पर्श है। एक पुद्गल का दूसरे पुद्गल के साथ संस्पर्शात्मक सम्बन्ध होता है। जीव का जीव के साथ केवल राग-द्वेषमय मोहभाव के द्वारा सम्भवनात्मक सम्बन्ध होता है। यह पति-पत्नी, पिता-पुत्र, भाई-बहिन आदि के रूप में अनेक प्रकार का होता है। जीव के साथ कार्मण-वर्गणाओं का परस्पर उपश्लेषात्मक एक क्षेत्रावगाह रूप सम्बन्ध होता है। इसी को दूसरे शब्दों में द्रव्य-बन्ध, भावबन्ध और उभयबन्ध कहा गया है। कहा भी है कि स्पर्शों के साथ पुद्गलों का बन्ध होता है, रागादि के साथ जीव का बन्ध होता है और अन्योन्य अवगाह रूप पुद्गल-जीवात्मक बन्ध कहा गया है[1]। वास्तव में जीव और कर्म-पुद्गल एक-दूसरे के परिणाम में निमित्त मात्र होते हैं। क्योंकि प्रत्येक द्रव्य का परिणमन स्वतन्त्र होता है, किसी के अधीन नहीं है। अतः परिणाम में निमित्त मात्र होने से उन दोनों के एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध को उभयबन्ध कहा जाता है। वस्तुतः द्रव्यबन्ध का हेतु भावबन्ध है। बिना भावबन्ध के जीव और कर्मपुद्गल का बन्ध नही हो सकता। क्योंकि हमारी आत्मा लोकाकाश के समान असंख्य प्रदेशी होने से सप्रदेश है। इसके इन प्रदेशो में कायवर्गणा, वचनवर्गणा और मनोवर्गणा का कम्पन जैसा होता है, वैसे ही कर्मपुद्गल स्वयं परिस्पन्दित होकर प्रवेश करते रहते है और इनसे निकलते रहते है। उस समय में यदि जीव के राग-द्वेष मोह रूप भाव होते हैं, तो बंधते है; अन्यथा नही[2]। इससे यह सिद्ध होता है कि राग का परिणमन मात्र भावबन्ध है और वही द्रव्यबन्ध का हेतु होने से निश्चय से बन्ध स्वरूप है। कहा भी है—रागी आत्मा कर्म बाँधता है और रागरहित आत्मा कर्मो से मुक्त होता है। यह जीवों के बन्ध का सक्षेप निश्चय से जानें[3]। वास्तव में परमाणु रूप अनन्त पुद्गल द्रव्यों से उत्पन्न होने वाले कार्य का नाम द्रव्यकर्म है तथा मोह के निमित्त से अशुद्ध भाव से

---

१. फासेहिं पुग्गलाणं बंधो जीवस्स रागमादीहिं।
अण्णोण्णमवगाहो पुग्गलजीवप्पगो भणिदो॥ —प्रवचनसार, गा. १७७

२. सपदेसो सो अप्पा तेसु पदेसेसु पुग्गला काया।
पविसंति जहाजोग्गं चिट्ठंति य जंति बज्झंति॥ —वही, गा. १७८

३. रत्तो बंधदि कम्मं मुच्चदि कम्मेहि रागरहिदप्पा।
एसो बंधसमासो जीवाणं जाण णिच्छयदो॥ —वही, गा. १७९

उत्पन्न हुए क्रोधादि रूप जीव का परिणाम भावकर्म है। भावों की तीव्र, मन्द अशुद्ध तरतमता के अनुसार तीव्र, मन्द बन्ध होता है। यथार्थ में परद्रव्य बन्ध का कारण नहीं है; पर वस्तुओं में, परभावों में मिथ्यात्व-अज्ञान-ममत्व-कर्तृत्व आदि भावों का होना ही, उनमें एकत्व बुद्धि स्थापित करना ही बन्ध का कारण कहा जाता है। वस्तुतः आत्मा रूपी पदार्थ को जैसे देखता है, जानता है, वैसे उसके साथ तन्मय होकर बद्ध भी होता है। ज्ञान की स्वच्छता में पदार्थ का प्रतिबिम्ब सहज होता है। आत्मा का सम्बन्ध तो उन ज्ञेयाकारों से है; न कि पदार्थों से। परन्तु उन ज्ञेयाकारों के होने में पदार्थ कारण होने से आत्मा उन रूपी पदार्थों को जानता है; यह व्यवहार से कहा जाता है। इसी प्रकार आत्मा का सम्बन्ध परद्रव्य की एकत्व बुद्धि से उत्पन्न राग-द्वेष-मोह रूप उपयोग से होने के कारण और उसमें पर-पदार्थ का निमित्त मात्र होने से ऐसा कहने में आता है कि कर्म का आत्मा के साथ बन्धन है। तत्त्वतः परद्रव्य के साथ आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि कार्य-कारण भाव भी स्वद्रव्य का स्वद्रव्य के आश्रित ही है[1]। इसलिए राग-द्वेष-मोह रूप उपयोग के साथ ही आत्मा का सम्बन्ध है। इस प्रकार निश्चित है कि पर-पदार्थ बन्ध के कारण नहीं है; किन्तु मिथ्यात्व, अज्ञान, अव्रत और योग रूप अध्यवसान ही बन्ध का कारण है।

"कर्म" शब्द का सामान्य अर्थ है—कार्य। किन्तु कर्म-बन्ध के प्रसंग में जीव के मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग में से क्रमशः यथासम्भव पाँचों, चार, तीन, दो या एक को निमित्त कर कार्मण-वर्गणाओं का जो ज्ञानावरणादि रूप परिणमन होता है उसे "कर्म" कहते हैं। कर्म का बन्ध जिनागम में चार प्रकार का कहा गया है। प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध। यह निश्चित है कि तेईस प्रकार की पुद्गल वर्गणाओं में से सत् स्वरूप सभी वर्गणाओं से ज्ञानावरणादि कर्मों का निर्माण नहीं होता; किन्तु कार्मण-वर्गणाएँ ही कर्मभाव को प्राप्त होती हैं। योग से प्रकृतिबन्ध तथा प्रदेशबन्ध होता है और कषायों से स्थिति तथा अनुभाग-बन्ध होता है[2]। निश्चयनय से क्रिया रहित शुद्ध आत्मा के प्रदेश हैं। व्यवहार-

---

१. समयसारकलश, २१९

२. जोगा पयडि पएसा ठिदि अणुभागा कसायदो कुणदि।
अपरिणदुच्छिण्णेसु य बंधट्ठिदिकारणं णत्थि॥ —सर्वार्थसिद्धि, ८, ३

नय से उन आत्मप्रदेशों के परिस्पन्दन का जो कारण है, उसे योग कहते हैं। पट (वस्त्र, पर्दा), द्वारपाल, तलवार, मद्य, बेड़ी, चित्रकार, कुम्भकार और भण्डारी इन आठों का जैसा स्वभाव है, वैसा ही क्रम से ज्ञानावरणादि आठ कर्मों का स्वभाव जानना चाहिए[1]। बकरी, गाय, भैंस आदि के दूध में जैसे दोपहर आदि समय तक अपने मधुर रस में रहने की मर्यादा है; वैसे ही जीव के प्रदेशों के साथ जितने काल तक कर्म-सम्बन्ध की स्थिति है, उतने समय को स्थितिबन्ध कहा जाता है। जैसे उन बकरी-गाय-भैंस आदि के दूध में तारतम्य रूप में कम व अधिक मीठा-चिकनापन शक्ति रूप अनुभाग कहा जाता है; वैसे ही जीव-प्रदेशों में स्थित कर्मों के प्रदेश में भी हीनाधिक सुख-दु:ख देने की समर्थ शक्ति विशेष को अनुभागबन्ध कहा गया है। एक-एक आत्मा के प्रदेश में सिद्धो के अनन्तवें भाग और अभव्य राशि से अनन्त गुने अनन्तानन्त परमाणु प्रत्येक क्षण में बन्ध को प्राप्त होते है, जिसे प्रदेशबन्ध कहा जाता है। ज्ञानगुण का त्रिकाल सद्भाव होने पर भी संसार अवस्था में उक्त प्रकार से कर्म-बन्ध जीव में कहा जाता है। उस दशा में ज्ञान-गुण का परिणमन ही बन्ध का कारण कहा जाता है; क्योंकि ज्ञान ही वेदक है। ज्ञान गुण का जब तक जघन्यपना है, तब तक वह यथाख्यात चारित्र के पूर्व अन्तर्मुहूर्त में पुन:-पुन: परिणमन करने व रागका सद्भाव होने से बन्ध का कारण कहा गया है[2]।

परमार्थ से यह निश्चित है कि कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्य को न तो फल दे सकता है और न किसी अन्य द्रव्य के पास से फल प्राप्त कर भोग सकता है। वास्तव में जीव अपने ही भाव का भोक्ता है। अन्य का भोग करता है—यह उपचार का कथन है। इस प्रकार जो परद्रव्य का ग्रहण करता है, रागादिक भाव करता है, उसके कर्म-बन्ध भी होता है। किन्तु जो पुरुष परद्रव्य तथा अपने भावो का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध जानकर आत्म-पुरुषार्थ के बल से परद्रव्य की सन्तति व परिपाटी को दूर कर अतिशय

---

१. पडपडिहारसिमज्जाहलि-चित्त-कुलाल-भंडयारीणं।
जह एदेसि भावा तहवि य कम्मा मुणेयव्वा॥ —गोम्मटहार, कर्मकाण्ड, गा. २१

२. जम्हा दु जहण्णादो णाणगुणादो पुणो वि परिणमदि।
अण्णत्तं णाणगुणो तेण दु सो बधगो भणिदो॥ —समयसार, गा. १७१

धाराप्रवाही स्व-संवेदन कर अपने पूर्ण ज्ञान को प्राप्त होता है, वही समस्त कर्म-बन्धनों से मुक्त हो जाता है।

यह सुनिश्चित है कि जो बन्धन के स्वभाव को जानता है, बन्धन का शोक भी करता है, कर्म की चिन्ता भी करता है, शुभ भाव भी करता रहता है; किन्तु कर्म के उच्छेद का प्रयत्न व पुरुषार्थ नहीं करता, वह कभी मुक्ति को प्राप्त नहीं होता। क्योंकि बन्ध के स्वरूप का ज्ञान मात्र मोक्ष का कारण नहीं है। इसी प्रकार बन्ध सम्बन्धी विचार-परम्परा भी मोक्ष का कारण नहीं है। तब फिर, मोक्ष का कारण क्या है? जिस पुरुष ने ऐसा निश्चय किया है कि निर्विकार, चैतन्य-चमत्कार मात्र आत्म-स्वरूप है; इसमें विकार उत्पन्न करने वाला बन्ध का स्वभाव है। इन दोनो के स्वरूप को जो भलीभाँति जानकर बन्ध से विरक्त होता है, वही कर्मों से छूटता है। इन दोनों को पृथक्-पृथक् करना ही मुक्ति का कारण है[1]। इनका पृथक्करण भेद-विज्ञान से ही होता है। भेद-विज्ञानपूर्वक शुद्धात्मा-नुभूति को उपलब्ध होना ही एकमात्र संवर तत्त्व है। भेद-विज्ञानी शुद्ध आत्मतत्त्व को स्वीकार करता है। उसके पूर्व में बंधे हुए कर्म अपने नियत स्वभाव से उदय को प्राप्त होते है, किन्तु उदय में प्राप्त फल में राग-द्वेष का अभाव होने से वे कर्म निर्जीर्ण होकर नया बन्ध किए बिना बिखर जाते हैं, जिसे द्रव्यकर्म की निर्जरा कहते है। कर्म के उदय के काल में सुख-दुःखादि होते अवश्य है; किन्तु ज्ञानी उनमें राग-द्वेष भाव नही करता है इसलिये रागादि का अभाव होने से उसे भावनिर्जरा कहा जाता है। निर्जरा के घटित होने पर आत्मा तथा कर्म-बन्ध को प्रत्यक्ष रूप से पृथक् करना मुक्ति कहा जाता है। मुक्ति कोई दशा नहीं है और न किसी स्थान का नाम है। किन्तु यह वह अवस्थिति है, जिसमें समस्त कर्म-कलंकों से रहित निर्विकार निरंजन, शुद्ध आत्मा अपने ज्ञानभाव में तन्मय हो ज्ञान-चेतना रूप से अविचल स्थित रहता है। मुक्ति की स्थिति शुद्ध ज्ञान-तत्त्व में लीनता तथा विशुद्ध आनन्दमयी परमानन्द की उपलब्धि है।

---

१. बंधाणं च सहावं वियाणिओ अप्पणो सहावं च।
बंधेसु जो विरज्जदि सो कम्मविमोक्खणं कुणई॥ —समयसार, गा. २९३

उक्त अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि कर्म-बन्ध संयोगी दशा का नाम है। संयोगी का अर्थ जीव और कार्मण-वर्गणा दोनों का मिलकर एक परिणति रूप रागादि भाव होना नहीं है; किन्तु एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध—एक साथ रहना है। यह सुनिश्चित है कि कर्म-बन्ध का मूल कारण रागादि भाव हैं। राग से बन्ध होता है; ज्ञान से बन्ध नहीं होता। ज्ञान को रागादि से भिन्न कर लेने पर नया बन्ध रुक जाता है। रागादि से भिन्न ज्ञानादि स्वरूप आत्मा की अनुभूति ही स्वानुभूति है जो सम्यग्दर्शन की मूल प्रवृत्ति है। सम्यग्दर्शन ही मोक्ष का सोपान है। यहाँ प्रश्न यह है कि "मै शुद्धात्मा हूँ" ऐसा अनुभव करने मात्र से क्या मुक्ति हो सकती है? उत्तर यह है कि शुद्धात्मा की भावना ही हमे आत्मा की शुद्धता तक ले जाती है। स्वानुभूति के काल में न कोई नय है, न निक्षेप है और न प्रमाण है—केवल शुद्धात्म-स्वरूप का आलम्बन है। मुक्ति की प्राप्ति कर्मसहित किसी भी अवस्था में नही हो सकती। अत: सभी प्रकार के शुभाशुभ विकल्पों तथा क्रियाओं को छोड़कर एकमात्र चैतन्य की क्रिया के आश्रय से हो मुक्ति की प्राप्ति हो सकती है? तब प्रश्न यह है कि जिनागम में तपस्या करने से कर्म-निर्जरा कही गई है। ज्ञानी नये कर्मो का आना भेद-ज्ञान के बल से रोक देता है, किन्तु पूर्वबद्ध कर्मो की मुक्ति कैसे होती है? इसका समाधान यह है कि वस्तुत: आत्मा का अपने स्वरूप मे लीन होना ही सच्चा तप है। शुद्ध आत्मस्वरूप परिणमन मात्र का नाम ही मोक्ष है। परमार्थ मे राग-द्वेष-मोह से रहित आत्म-स्वरूप में अविचल प्रकाशित होना ही तप है। परम सुखरस में लीन निर्विकार स्वसंवेदन रूप परमकला का अनुभव जिस स्थिति में उपलब्ध होता है, वही श्रमण की शुद्धोपयोग की अवस्था कही जाती है जो साक्षात् केवलज्ञान की जनक है। शुद्धोपयोग की दशा में ही केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। अतएव जिस तप से कर्म-निर्जरा होती है, वह "स्वरूपाविश्रान्त निस्तरंग चैतन्य प्रतप" है जो समभावी श्रमण के ही होता है। जो अन्तरंग तप को साधता है, उसके बहिरंग क्रियाओ मे शुद्धता सहज ही होती है। रागादि रूप अशुद्धता को दूर कर शुद्धता की उपलब्धि होना ही वीतराग धर्म का उद्देश्य है। अतएव इस प्रकार की शुद्धता के साधनभूत सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही मोक्षमार्ग में प्रधान है। इन तीनों की एकता व

समन्वय में ही मुक्ति की उपलब्धि होती है। बाह्य तप अन्तरंग तप का साधन मात्र है। निर्जरा तो अन्तरंग तप से ही होती है। अचल चैतन्य का अवलम्बन करने वाले के कर्म स्वयं गल जाते हैं। कहा भी है—सकल कर्म के संन्यास की भावना करने वाला कहता है कि कर्मरूपी विषवृक्ष का फल मेरे बिना भोगे ही खिर जावे। मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा में लीन हो कर उसको देखने, जानने वाला हूँ। देशविरत व प्रमत्तसंयमी दशा में तो ऐसा ज्ञान-श्रद्धान ही प्रधान है, पर अप्रमत्त होकर जब श्रेणी पर आरोहण करता है, तब अनुभव साक्षात् होता है[1]। ऐसे अनुभव की विधि से परम उज्ज्वल भाव का प्रकट होना मुक्ति है।

वीतरागता क्यों और कैसे ?

संसार का प्रत्येक प्राणी दुःख से घबराता है, सुख चाहता है, किन्तु दुःख क्या है ? इसका उसे पता नहीं है। सामान्य रूप से आकुलता को दुःख कहते हैं। आकुलता का कारण इच्छा पैदा होना है। यदि इच्छा पैदा न हो, तो दुःख भी न हो। संसार के सब प्राणी इच्छाओं के वश में हैं। इच्छा से प्रेरित होकर ही कोई-न-कोई काम करते रहते हैं। इच्छा के अनुसार ही उनकी प्रवृत्ति देखी जाती है। कब क्या इच्छा होगी ? इसका स्वयं को भी पता नहीं है। तब क्या यही मानें कि इच्छा सदा से है और सदैव बनी रहेगी। हम इच्छाओं के गुलाम हैं और गुलाम हो बने रहेंगे। तब हमारा पुरुषार्थ क्या है ? हम क्या होना चाहते हैं, कहाँ जाना चाहते हैं और क्या कर रहे हैं ? अनेक प्रश्न एक साथ उठते हैं।

क्या सचमुच हमने इस पर विचार किया है कि इच्छा पैदा क्यों होती है ? इसके पैदा होने का मूल कारण क्या है ? संसार के सभी तरह के सुख-दुःखों और इच्छाओं के पैदा होने का मूल कारण मोह है। मोह क्या है ? भ्रम से, अज्ञान से पर-वस्तु को अपनी मानना। वस्तु के स्वरूप को यथार्थ न समझकर कुछ-का-कुछ समझना मोह का ही कार्य है। मोह के कारण ही हम वस्तु, विषय तथा व्यक्ति में इष्ट या अनिष्ट रूप कल्पना करते हैं। इन्द्रियाँ तो जानती, देखती नहीं है। हम राग-द्वेष, मोह के कारण उनके माध्यम से राग की बातें सुनना चाहते हैं, रंग-रूप

---

१. विगलन्तु कर्मविषतरुफलानि मम भुक्तिमन्तरेणैव।
संचेतयेऽहमचलं चैतन्यात्मानमात्मानम्॥ —समयसारकलश, श्लो. २३०

देखना चाहते है, मधुरता का स्वाद लेना चाहते हैं, सुगन्ध ग्रहण करना चाहते हैं और कोमलता का सदा स्पर्श चाहते हैं। इस प्रकार की इच्छा का नाम ही विषय है। मोह के कारण ही इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों मे प्रवृत्ति करती हैं। प्रेरक हम स्वयं बनते हैं। इसी प्रकार बुरा करने की, हीन करने की, सुख-दु:ख पहुँचाने की, मारने-नष्ट करने की तरह-तरह की इच्छाएँ समय-समय में उत्पन्न होती रहती हैं। जब तक हमारी इच्छा पूरी नही होती है, तब तक आकुलता-व्याकुलता बनी रहती है। इस तरह की इच्छा को कषाय कहते हैं। ऐसी भी इच्छा होती है कि जलन हो रही है, यह मिट जावे--शीतलता उत्पन्न हो जाए। रोग से, पीड़ा से, भूख-प्यास से व्याकुलता होने पर उनको अनिष्ट संयोग मानकर दूर करना चाहता है। इस प्रकार जिसे अपने मन के अनकूल समझता है, उसे अपनाता है और जिसे विपरीत समझता है, उसे दूर करना चाहता है— दोनों ही अवस्थाओं में व्याकुलता है। इस प्रकार इन तीन प्रकार की इच्छा होने पर सभी दु:ख मानते है, सो दु:ख ही है। संक्षेप में, विषय से, कषाय से, पाप के उदय से इन तीनों प्रकार की इच्छाओं के होने पर उनके दूर होने तक नियम से दु:ख ही होता है। इन इच्छाओं के अनुसार प्राणी मात्र की प्रवृत्ति की इच्छा होती है। वास्तव में इच्छाएँ अनन्त हैं। इसलिये सभी इच्छाओं को पूर्ण करना किसी के लिए भी सम्भव नहीं है। जो इच्छा पूरी करके सुख प्राप्त करना चाहते है, वे भ्रम मे ही है। क्योंकि जब तक इच्छा बनी रहने वाली है, तब तक दु:ख भी बना रहेगा; और इस तरह प्राणी को कभी सुख मिलने वाला नही है।

सब जानते है कि जिस घर मे आकर जन्म लिया है, वह घर हमारा नही है, यह धन-वैभव, शरीर, यौवन, जीवन आदि कभी हमारे होकर नही रहे। न जाने कितनी बार हमने इनको पाया, पर ये सदा हमारे साथ नही रहे। यह जानते हुए भी कि चांदनी चार दिन ही टिकती है--बार-बार उसकी प्राप्ति की आशा में मोहित होकर अपने आपको भी दाँव पर लगा देते है। वास्तव मे मोह के कारण ही हमें वस्तु-स्थिति की अनुभूति नही होती। मोह भी कैसा है? यथार्थ में अपने आप की ही भूल है। हमने संसार की वस्तुओं के सम्पर्क में आने पर उनमें अपनापन मान लिया है। वास्तव में दुनिया खयालों की है। जिसने जैसा मान लिया है, वह उसे ही सच मान

रहा है और यह समझ रहा है कि मैंने जो समझा है, वही सत्य है। वास्तव में वस्तु को हम अपनी दृष्टि से समझने का प्रयत्न करते हैं। वस्तु को वस्तुतत्त्व की दृष्टि से कभी नहीं समझा। वस्तुतत्त्व की दृष्टि क्या है? यही कि प्रत्येक वस्तु में अनन्त धर्म पाए जाते हैं। धर्म के भेद से वस्तु का कथन करना–यही नय का आदेश है। जो धर्म वस्तु में है, उसी की दृष्टि से कथन करना वस्तुतत्त्व की दृष्टि है। वस्तु का सत् ही वास्तविक सत्य है, उसका प्रतिपादन जिन वचनों से किया जाता है वे सत्य वचन हैं और उसे सत्य मानना सत्य की दृष्टि है। सत् को मानना, अपनाना व्यवहारसत्य है। वास्तव में वस्तु की सत्ता ही सत्य है।

मोह के तीन भेद कहे गए हैं–दर्शनमोह, राग और द्वेष। संसार मे भटकने का कारण मोह है। मोह ही नए कर्म-बन्ध का कारण है। दर्शन-मोह में जीव के मिथ्या श्रद्धान रूप क्रोध, मान, माया और लोभ के भाव होते है। दर्शनमोह के कारण ही यह जीव वस्तु का जैसा स्वरूप है, वैसा नही मानता है और जैसा नही है, वैसा मानता है। प्रत्येक वस्तु की पर्याय मे यह "मै हूँ" ऐसा समझ कर विभावों को, परभावों को अपना स्वरूप मानता है। उनमें अहंबुद्धि, ममत्वबुद्धि, एकत्व और भोक्तृत्व बुद्धि स्थापित करता है। उनसे अपने आप को किसी प्रकार भिन्न नही समझता। जिस प्रकार राग-द्वेष के कारण परवस्तुओं में से किसी को अच्छी या किसी को बुरी समझता है, उसी प्रकार दर्शनमोह के कारण विकारी भावों को आत्मा समझकर उन में तन्मय हो जाता है। उनसे पृथक् अपने अस्तित्व का इसे कभी भान ही नहीं होता।

वास्तव में इच्छा मात्र मोह का परिणाम है। चाहे शुभ की इच्छा हो, चाहे अशुभ की–वह रागादि भावों की जननी है। रागादि भाव ससार को ही देने वाले है। जो प्रकट रूप से दु:ख देने वाले हैं, उन को सुख का कारण मानना महान् भूल व अज्ञानता है। यह जीव अनादि काल से जैसे अपने को और शरीर को एक मानता रहा है, वैसे ही रागादि भावों को सुख-कारक समझता रहा है। पण्डितप्रवर दौलतरामजी कहते हैं–राग-द्वेष और मोह प्रकट रूप से दु:ख देने वाले हैं, किन्तु उनको दु:खदायी न मान कर उनका सेवन करता है और उनसे सुख की प्राप्ति मानता है। वास्तव में

सुख तो जहाँ है, वहीं मिल सकता है। यदि हम चिकनाई के कारण तेल को घी मानें, तो क्या तेल में से घी मिल सकता है ? इसी प्रकार से राग-द्वेष, मोह के भाव करके पर-पदार्थों से या या रागादि भावों से सुख-मिल सकता है--यह मानें तो क्या यह मान्यता सत्य है ? संसार के किसी भी पदार्थ में सुख नहीं है। सुख तो केवल चैतन्य आत्मा में सहज, स्वाभाविक रूप से विलमित हो रहा है। ज्ञानस्वभावी चैतन्य आत्मा आनन्द का कन्द है। अतएव सुख आत्मस्वभाव होने से आत्म-दर्शन-ज्ञान-ध्यान की एकता से ही उपलब्ध हो सकता है। और यह तभी हो सकता है, जब पर को अपना मानना छोड़ें।

आचार्य पूज्यपाद का कथन है कि संसार के दुःखों का मूल शरीर में ही आत्मबुद्धि है। पर को अपनाने का भाव ऐसी जड़ जमा कर बैठा है कि बड़े-बड़े संकटों को उठाते हुए भी हम अपनी भूल को नही समझ पाते। छोटे-छोटे प्राणी ही नही, बड़े-बड़े युगपुरुष भी मोह के कारण तरह-तरह की विपत्तियों मे उलझते रहे। सती सीता ने स्वर्णमृग के मोह मे पड़कर एक नए सकट को जन्म दिया था; रामचन्द्रजी सीता के मोह में दुःखी होकर वन-वन मे भटकते फिरे थे और सीता मे मोहित हो जाने के कारण ही रावण को अपनी सोने की लंका से ही नही, अपने जीवन से भी हाथ धोना पडा था। यह सब मोह की ही लीला है कि हम शरीराश्रित सभी क्रियाओं को अपनी मान रहे है और धन कमाने की, परिवार बढ़ाने की तथा भौतिकता के विस्तार के लिए तथाकथित धार्मिक क्रियाओं की माला फेरकर अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ रहे है। पता नही, यह विश्वास कैसे घर कर गया है कि हम तो कुछ कर नही सकते है, इसलिए हमें सब कुछ देने वाले भगवान है। इसी प्रकार जो भगवान वीतराग हैं; वे तो कुछ देते नही हैं, पर उनके सेवक हमारी प्रार्थनाओ को सुनकर दे देंगे ? इससे बढकर अज्ञानता और क्या हो सकती है ? जो स्वयं दुखी है, वे हमें सुखी कैसे कर सकते हैं ? फिर, सब का सुख अपने-अपने में है। जहाँ सुख का स्रोत है, वही से सुख मिल सकता है, अन्य कही से प्राप्त नही हो सकता।

मोह सहित ज्ञान ही अज्ञान भाव कहा गया है। क्योंकि दर्शन मोह के उदय में आत्मा का अनुभव नही हो सकता। आचार्य शुभचन्द्र कहते हैं कि जिसे आत्मस्वरूप का निश्चय नही है, वह परमात्मा को नहीं जानता

है। जो आत्मा के स्वरूप को नहीं समझता है, वह इन्द्रियों के विषयों में सुख जानता है, यही बड़ी भूल है। ये रागादिक भाव मन को कभी मूढ़ करते हैं, कभी भ्रम रूप करते हैं, कभी भयभीत करते हैं, कभी रोगों से चलायमान करते हैं, कभी शंकित करते हैं, कभी क्लेश रूप करते हैं। इस प्रकार आत्मस्वभाव की स्थिरता से चलायमान कर देते हैं[1]। इससे स्पष्ट है कि आत्मस्वरूप को भूलने में हमारा मोह भाव ही कारण है। क्योंकि आत्म-स्वभाव से च्युत हुआ जीव अपने से भिन्न पर-पदार्थों में अहंबुद्धि करके अपने को बाँधता है और रागादि से भिन्न शुद्ध चैतन्य तत्त्व में आत्मबुद्धि करके उन पर-पदार्थों से मुक्त हो जाता है। रागादि में तो पर की अपेक्षा रहती है; किन्तु वीतराग निरपेक्ष होता है। जहाँ पर की अपेक्षा है, वहाँ स्व की उपेक्षा हो जाती है।

शुद्ध निश्चय की दृष्टि में तो न कोई बँधा हुआ है और न कुछ छूटता ही है। जो अपना है ही नही, उसके ग्रहण व त्याग का प्रश्न ही नही है। वास्तव में सभी द्रव्य स्वतन्त्र है। जो स्वतन्त्र है, उसके बन्धन का प्रश्न नहीं है। केवल हमारी मिथ्यात्व मान्यता बताने के लिए और संसारी दशा समझाने के लिए अशुद्धनय से आत्मा के रागादि भाव का परिग्रह बताया जाता है। इस दृष्टि को समझे बिना वास्तविकता समझ में नहीं आ सकती; क्योंकि संसार के रंगमंच पर अविवेक का ही नाटक हो रहा है। पुण्य-पाप अभिनय कर रहे है। जीव दर्शक है। सारा नाच-गान पुद्गल ही कर रहे हैं। रागादि भाव पुद्गल के विकार हैं। उनको अपना मान कर अज्ञानी जीव तो तरह-तरह से सुख-दुःख का अनुभव करता है और ज्ञाता-द्रष्टा आतमराम उन सब से अपने को भिन्न समझ कर निज अखण्ड चैतन्य स्वरूप में लीन रहता है; अपने स्वभाव से हटता नही है।

वास्तव में शुद्ध आत्मा राग-द्वेषादि के कोई वस्त्र पहने हुए नहीं है, जिनका त्याग करना पड़े। जैसे आकाश वस्त्रहीन है; दिशा कभी कोई वस्त्र पहनती ही नहीं है, पर हम व्यवहार मे उसका आरोप कर देते हैं, उसी प्रकार आत्मा भी सब उपाधियों से रहित शुद्ध ही है। आत्मद्रव्य में कोई अशुद्धता नहीं है, किसी प्रकार के राग-द्वेष, मोह आदि का प्रवेश नहीं है। ज्ञान तो दर्पण के समान है। जिस प्रकार दर्पण में प्रतिबिम्बित

१. क्वचिन्मूढं क्वचिद्भ्रान्तं क्वचिद्भीतं क्वचिद्रतम्।
शंकितं च क्वचित्क्लिष्टं रागाद्यैः क्रियते मनः॥ ज्ञानार्णव, २३, ७

होने वाली वस्तुएँ दर्पण में प्रविष्ट नहीं होतीं, उसी प्रकार ज्ञेय पदार्थ ज्ञान में नहीं समा जाते। दर्पण में वस्तु का जो आकार दिखलाई पड़ता है, वह दर्पण की स्वच्छता का ही परिणमन है। व्यवहार में यह कहने में आता है कि अमुक वस्तु दर्पण में दिखलाई पड़ रही है। वह दर्पण में ही इस समय दिख रही है; किन्तु आँखें घुमा-फिरा कर देख चुके; कहीं दिखती नही है। लोक-व्यवहार में इसे सत्य माना जाता है; परन्तु वास्तव मे ज्ञान और ज्ञेय, दर्पण और उसमे झलकने वाले पदार्थ सदा भिन्न ही देखे जाते हैं। दुनिया में ऐसा कौन मूर्ख होगा, जो यह कहे कि हमारा मुख दर्पण में चला जाता है। यदि मुख का अंश मात्र भी दर्पण में चला जाए, तो एक दिन हमारे मुख का ही अभाव हो जाएगा। वास्तव में न कोई वस्तु जाती है, न आती है, हम केवल भ्रमवश ऐसा समझते है कि ज्ञान ज्ञेय मे चला जाता है, नहीं तो वह ससार की वस्तुओं को जानता कैसे है[1] ? इसका कारण यही है कि ज्ञान स्व-परप्रकाशक है। ज्ञान स्वयं ज्ञान है और स्वज्ञेय रूप भी है। इसलिये ज्ञान अपने को प्रकाशित करता है और पर को भी प्रकाशित करता है। ज्ञान की यही विशेषता है कि यह अपने साथ ही अन्य वस्तुओं को भी प्रकाशित करता रहता है। इस ज्ञान के उदित होने पर ही मोह भाव वैसे ही विलीन हो जाता है, जैसे सूर्य के उदित होने पर अन्धकार तिरोहित हो जाता है।

यह भलीभाँति समझ लेने पर कि राग-द्वेष, मोह ही बन्ध का कारण है और वीतरागता मुक्ति का सच्चा उपाय है—यह प्रश्न उठे विना नही रहता कि इनके दूर होने का उपाय क्या है ?

यह निश्चित है कि जिसने अनेक शास्त्र पढ़ लिये है, जो विद्वान् है; पर किसी भी प्रकार मोह को नहीं छोड़ता है, वह न तो ज्ञानी है और न वीतरागता को प्राप्त कर सकता है। आचार्य शुभचन्द्र कहते हैं—अनेक शास्त्रों का जानकार होने पर भी जो शरीर को ही आत्मा समझता है, वह कर्मों से मुक्त नहीं हो सकता। किन्तु जो शास्त्र के ज्ञान से शून्य है; परन्तु आत्मा में ही आत्मा मानता, जानता है, वह कर्म-मुक्त हो जाता है। क्योंकि शास्त्र-ज्ञान आत्म-ज्ञान के लिए है। वास्तव में आत्मज्ञान

---

१. समयसारकलश, २१६

ही ज्ञान है। शास्त्रों के पढ़ डालने पर भी यह ज्ञान नहीं हुआ, तो पढ़ने से भी क्या लाभ[1] ?

यथार्थ में ज्ञान जब तक अपने शुद्ध स्वरूप में नही होता, तब तक रागादि भावों की उत्पत्ति होती रहती है। अज्ञान भाव रहने पर ही जीव में राग-द्वेष के परिणाम उठते हैं। अज्ञान भाव के दूर होते ही ज्ञान शुद्धज्ञान मात्र परिणमन करता है। निज में पर की एकता रूप जो भ्रम अज्ञान है, वही दुःख का कारण है। इस अज्ञान के दूर होने पर राग-द्वेष का उत्पन्न होना दूर हो जाता है। और राग-द्वेष के दूर हो जाने पर शुद्ध चैतन्य स्वभावी आत्मा अपने पूर्ण स्वभाव अनन्त ज्ञानादि रूप में प्रकट हो जाता है[2]। इस प्रकार राग-द्वेष के अभाव का उपाय बताते हुए आचार्य कहते हैं—जब ज्ञान अज्ञान भाव रूप रूप परिणत होता है, तब आत्मा में मिथ्यात्व-परिणाम के कारण राग-द्वेष रूप परिणाम होता है। यदि जीव नाम की वस्तु को उसकी वस्तुतत्त्व की दृष्टि से देखा जाए, तो वे रागादि भाव कुछ भी नहीं हैं; क्योंकि वे अज्ञान दशा में क्रम से प्रकट होने वाले हैं। इसलिये सम्यग्दृष्टि जीव अपनी तत्त्वदृष्टि से निश्चित ही उनका क्षय करता है, जिससे सम्पूर्ण किरणों से युक्त अविचल केवलज्ञान-ज्योति प्रकाशमान होती है[3]। जिस प्रकार पानी में हरी काई छा जाती है, जिससे पानी की स्वच्छता प्रकट नहीं होती है, उसी प्रकार रागादि भाव आत्मा में होते हैं। यह भी निश्चित है कि रागादि भाव आत्मा को छोड़ कर अन्य कही पैदा नहीं होते; जैसे कि काई पानी को छोड़ कर अन्य कहीं पैदा नही होती। फिर भी, जैसे वह पानी से भिन्न पानी का स्वभाव नहीं है, वैसे ही रागादि भाव आत्मा से भिन्न कदापि आत्मा के स्वभाव नहीं

---

१. मुच्येताधीतशास्त्रोऽपि नात्मेति कल्पयन्वपुः।
आत्मान्यात्मानमन्विष्यन् श्रुतशून्योऽपि मुच्यते ॥—ज्ञानार्णव, ३२,१००
तथा-भावपाहुड, गा. ५३

२. रागद्वेषमुदयते तावदेतन्न यावत्
ज्ञानं ज्ञानं भवति न पुनर्बोध्यतां याति बोध्यम्।
ज्ञानं ज्ञानं भवतु तदिदं न्यक्कृताज्ञानभावं
भावाभावौ भवति तिरयन् येन पूर्णस्वभावः ॥ —समयसारकलश, २१७

३. वही, समयसारकलश, २१८-१९; तथा—समयसारनाटक, सर्वविशुद्धिद्वार, पद ६०

से महत्त्व नहीं है। लोक में भले ही हम उसके महत्त्व की चर्चा करते रहें? यह सुनिश्चित है कि अन्तरंग परिग्रह के त्याग के साथ ही बाहरी परिग्रह का त्याग नियम से होता है। आचार्य तो यहाँ तक कहते हैं कि भावलिंग के बिना द्रव्यलिंग से मुनिलिंग नामधारी भी नहीं होता। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि भावलिंग ही धारण करने योग्य है[1]। जैन पुराणों में ऐसे कई मुनियों की कथाएँ मिलती हैं जो द्रव्यलिंगी थे, जिनके राग-द्वेष रूप विषय-कषाय परिणाम वर्तते थे, इसलिये तपस्वी होने पर भी भाव-मिथ्यात्व के कारण दुर्गति को प्राप्त हुए। मुनि द्वैपायन, मुनि बाहु आदि के ऐसे ही दृष्टान्त हैं, जिन्होंने अशुभ तैजस समुद्घात में नगर भस्म कर दिया था। ऐसे मुनियों को मुनि तो कहा जाता था, परन्तु वास्तव में वे मुनि नहीं थे; और जो ऐसा हो तो वह जिनागम के अनुसार मुनि नहीं है। आचार्य समन्तभद्र तो यहाँ तक कहते हैं कि जिसके दर्शनमोह रूप मिथ्यात्व नहीं है ऐसा गृहस्थ, गृहरहित मोहवान मुनि से श्रेष्ठ है। पं० सदासुख जी के शब्दों में "जाके दर्शनमोह नाहीं ऐसा गृहस्थ है सो मोक्षमार्ग में तिष्ठे है अर मोहवान ऐसा अनगार कहिये गृहरहित मुनि सो मोक्षमार्गी नाहीं है। याही ते मोहवान जो मुनि तातें दर्शनमोहरहित गृहस्थ है सो श्रेयान् कहिए सर्वोत्कृष्ट है[2]। मुनियों की जो भी चर्या है, वह सब राग-द्वेष के परित्याग के लिए है। राग-द्वेष भाव सदा दूर रहे—यही मुनि का संयम है। विषयों की आशाओं से सदा विरक्त आत्म-स्वभाव में लीन रहें—यही तप है। गृहस्थ भी यदि उपवास करता हुआ मोहवश आरम्भ करता है, तो एक ओर तो वह कायक्लेश को भोगता है और दूसरी ओर उसके कर्म-निर्जरा भी नहीं होती;[3] क्योंकि जिस मोह को, विषय-कषाय को छोड़ना था, उसे नहीं छोड़ा। वास्तव में ऊपर से बर्तन चाहे जितना साफ किया जाए, जब तक वह

---

१. भावेण होइ लिंगी ण हु लिंगी होइ दव्वमित्तेण।
तम्हा कुणिज्ज भावं किं कीरइ दव्वलिंगेण॥ —वही, गा. ४८

२. गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान्।
अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः॥—रत्नकरण्डश्रावकाचार, श्लो. ३३

३. उववासं कुव्वाणो आरंभं जो करेदि मोहादो।
तस्स किलेसो अवरं कम्माणं णेव णिज्जरणं॥ —कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गा. ४४२

भीतर से गन्दा है, तब तक उस में जो भी रखा जाएगा, वह शुद्ध होने पर भी अशुद्ध हो जाएगा। इसलिये हमें अन्तरंग शुद्धि पर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए। अन्तरंग शुद्धि तभी प्रकट हो सकती है, जब मोह की लीला को हम भलीभांति पहचान कर रागादि भाव छोड़ने का प्रयत्न करें। आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज कहते हैं—"जो मनुष्य अपने विश्वास को जैनागम के अनुकूल बना लेता है, वह भूल-रहित हो जाता है। जो सुमार्ग में लगना चाहता हो, उसे चाहिए कि वह जैनागम का अभ्यास करे। जो गृहस्थाश्रम त्याग कर साधु भी बन गया हो, किन्तु जिसे पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का श्रद्धान न हो सका हो, तो वह धर्मात्मा कहलाने का अधिकारी नहीं है[1]।"

अज्ञान से मोहित बुद्धि वाला ही ऐसा मानता है कि मैं बँधा हुआ हूँ, जेल में हूँ। वास्तव में शरीर जेल नहीं है, आत्मा के लिए तो मोह ही जेल है। जब तक यह मोह के रस में भीगा हुआ है, तब तक लौकिक ज्ञान-विज्ञानों से भी इसका लाभ नहीं होने वाला है। किन्तु मोह की दृष्टि छूटते ही सभी ज्ञान-विज्ञान वीतराग आत्मा की साधना में साधन बन जाते हैं। जीव किसी भी गति, किसी भी स्थिति और किसी भी काल मे रहे; यदि उसके भीतर मोह है, तो स्वर्गादिक पद पाने पर भी वहाँ अन्य इन्द्र-अहमिन्द्रों के वैभव को देख कर झूरता रहेगा, मनुष्य गति में महाव्रतों को धारण कर मुनि हो जंगल में चले जाने पर भी मोह भाव के कारण आश्रम बना लेगा, तरह-तरह के मन्त्र-तन्त्रों का प्रचार करेगा, अपनी शिष्य-परम्परा बढ़ाने में रस लेगा और अपनी नामवरी, प्रतिष्ठा के लिए तरह-तरह के उपाय करेगा। जिनागम में ऐसे ही मुनियों की निन्दा की गई है जो जिनलिंग धारण करके मोहवश लौकिक कार्यों में रुचि लेते हैं[2]।

वास्तव में मैं 'पर' का कुछ कर सकता हूँ या 'पर' मेरा कुछ कर सकता है—यह मिथ्या मान्यता ही अहंकार का मूल है। यह जीव या तो राग भाव में स्थित हो जाता है या फिर द्वेष भाव में चला जाता है,

---

१. प्रवचनसार, पृ. ६४

२. त्रिलोकसार, गा. १२२-१२४

जो राग की ही तीव्र प्रतिक्रिया स्वरूप उत्पन्न होता है। समता भाव में यह किसी भी क्षण स्थित नहीं होता। इस मे द्रव्यकर्म का कोई अपराध नहीं है। क्योंकि वह तो जानता नहीं है कि आप क्या कर रहे हैं और क्या नहीं कर रहे हैं ? यह जीव स्वयं अपने स्वभाव से हट कर परिणाम रूप अपराध करता है और स्वयं उससे बँधता है। शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के भाव करना बन्धन हैं। हमें यदि अशुभ बन्धन स्वीकार नहीं है, तो शुभ का बन्धन स्वीकार करें। यदि आत्म-पुरुषार्थ से वह स्थिति भी ला सकते हे, जिस में दोनों बन्धन छूट सकते हैं, तो वीतराग भाव स्वीकार कीजिए। वीतराग भाग की स्वीकृति के बिना वीतरागता की कदापि परिणति नहीं हो सकती।

परमात्मा स्वयं वीतरागस्वरूप है। उनका उपदेश यही है कि कोई किसी का कर्ता-धर्ता-हर्ता-विधाता नही है। हम स्वयं अपने विधाता है। किन्तु अपने में विधाता का कर्तृत्व भाव भी मिथ्या है। केवल ऐसा मान लेने से हम विधाता नहीं हो सकते; किन्तु शुद्धात्म रूप परिणति से ही विधाता कहे जा सकते है। जिसे अभी अपना ही विश्वास न हो, भला वह दूसरे का विश्वास क्या कर सकता है ? बाहर से करता भी हो, किन्तु अवचेतन मन मे यह भाव अवश्य छिपा रहता है कि यह क्या करेगा ? जो भी यह करेगा, वह सब मुझे खुश करने के लिए करेगा और वह सब बाहरी या भौतिक होगा। ऐसा करने-धरने से जो भी होगा, वह सब अचेतन-जगत् में होगा; चेतन का इससे क्या बनाव बनेगा ?

यथार्थ में वीतरागी बनने के लिए सर्वप्रथम वीतरागता के सन्मुख होना पड़ेगा। वीतरागता के सन्मुख होने का अर्थ है—वीतरागस्वभावी शुद्धात्मा की ओर दृष्टि करना। हमने अनादि काल से आज तक सब कुछ किया, कर रहे हैं और करते चले जायंगे; किन्तु जब तक दृष्टि मे परिवर्तन नही होगा, तब तक इन बाहरी क्रियाओं से आत्मा का हित नहीं हो सकता। क्योंकि दृष्टि बदलते ही सृष्टि बदल सकती है। शुद्ध चैतन्य द्रव्य की ओर दृष्टि करने की इसलिये आवश्यकता है कि निर्मलता द्रव्य में है। निर्मल द्रव्य की दृष्टि बनाने से पर्याय में भी निर्मलता

प्रकट हो सकती है। यदि पूर्व की भाँति आज भी हमारी दृष्टि में रागादि विकार बना रहा, तो जिस कारण यह संसार और कर्म-बन्ध है, वह तो ज्यों का त्यों बना ही रहेगा। फिर, हमने आत्मा के हित के लिए किया ही क्या ? स्वयं अपने से ही अपना निर्णय करके जो आत्म-स्वरूप के सन्मुख होता है, वही अपने निजरूप को भ्रमरहित हो कर जानता है। परमतत्त्व स्वरूप निजात्मा को जानना, देखना, अनुभवना ही परम विज्ञान है और उस रूप परिणति करना ही चारित्र है[1]।

वीतरागता की आराधना का उपाय

परमार्थ में आराधना स्वयं वीतरागता है। आराधना का अर्थ है—शुद्ध आत्मा में सदा वर्तन करना। आराधना करने वाले को यह भाव भासित होता है कि जो शुद्ध आत्मा है, वही मैं हूँ। संसिद्धि, राध, सिद्ध, साधित और आराधित ये सब एकार्थवाची शब्द हैं। जो आत्मा आराधना नहीं करती है, वह अपराधी है। जो निरपराध होता है, वही निःशंक होता है। अतः निरन्तर आराधना में वर्तन करना चाहिए[2]। आत्म-स्वभाव की आराधना नहीं करना ही वीतरागता की उपेक्षा है जो अपराध है। पर-पदार्थों की ओर निरन्तर दृष्टि होने से हमारी हानि यही हो रही है कि आत्मा के शुद्ध स्वभाव को सदा उपेक्षित कर रहे हैं। ज्ञानानन्द शुद्ध स्वभावी निजात्मा को हम ऐसे भूले हुए हैं कि इस के विषय में सुनने पर आश्चर्य होता है। कभी हमें यह भी अहसास नहीं होता कि शरीर, मन, वाणी तथा विभाव भावों से हम भिन्न हैं। जहाँ भिन्नता तथा भेद-विज्ञान का निश्चय होता है, वहीं अपने अस्तित्व की प्रतीति होने लगती है। अपने अस्तित्व की प्रतीति ही हमें द्रव्य के स्वभाव की ओर उन्मुख करती है। वर्तमान पर्याय में

---

१. जानाति यः स्वयं स्वस्मिन्स्वरूपं गतभ्रमः।
तदेव तस्य विज्ञानं तद्वृत्तं तच्च दर्शनम्॥ —ज्ञानार्णव, १८, २७

२. संसिद्धिराधसिद्धं साधियमाराधियं च एयट्ठं।
अवगयराधो जो खलु चेया सो होइ अवराधो॥
जो पुण णिरावराधो चेया णिस्संकिओ उ सो होइ।
आराहणाए णिच्चं वट्टेइ अहं ति जाणंतो॥ —समयसार, गा. ३०४-३०५

द्रव्य के विकारी होने पर भी वह अपने स्वभाव को कभी नहीं छोड़ता है। वस्तुत: वस्तु के स्वभाव से ही वस्तु का अस्तित्व है। यदि संसार की अवस्था में, राग-दशा में हमारे द्रव्य का स्वभाव ज्यों का त्यों वर्तमान न हो, तो रागदशा मिट जाने पर स्वभाव फिर कहाँ से आता है? वास्तव में विकारी दशा में भी वस्तु अपने स्वभाव को नहीं छोड़ती। इसलिये आज भी हम चाहें, तो वस्तु-स्वभाव का भान कर सकते हैं, अपने स्वभाव की ओर दृष्टि कर सकते हैं। कहा भी है--ज्ञानस्वरूप आत्मा ही जब ध्रुव तथा अचल रूप सत्स्वरूप प्रतिभासित होता है, तो वही मोक्ष का मूल कारण है; क्योंकि ज्ञानस्वरूप आत्मा स्वयं शिव है। उसमे भिन्न जो कुछ है, वह सब बन्ध का कारण है; क्योंकि वह स्वयं बन्धस्वरूप है। अतएव ज्ञानस्वरूप आत्मा की परिणति ही निश्चय से अनुभूति है, जैसा कि आगम में कहा गया है[1]।

व्यवहारनय की दृष्टि में शरीर और आत्मा की एकता है। किन्तु निश्चयनय में आत्मा भिन्न है और शरीर भिन्न है। व्यवहारनय मे शरीरादि की स्तुति जीव की स्तुति मानी जाती है, किन्तु परमार्थ मे ऐसी स्तुति मिथ्या है। वास्तव मे जो जीव तत्त्व है, वही भगवान है और जो भगवान है वह जीव तत्त्व है[2]। जब तक तत्त्व-श्रद्धान पूर्वक अपनी पहचान नही होती है, तब तक वीतरागता स्वरूप मोक्ष का मार्ग प्रकट नही होता है। जब आत्मा अपनी शक्ति को सम्हालता है और ज्ञान-नेत्रों से अपने यथार्थ स्वरूप का अवलोकन करता है, तभी सच्चे सुखरूप, विमल, अविनाशी, जगत-शिरोमणि शुद्ध चैतन्य के स्वभाव का अनुभव करके तल्लीन हो जाता है और सम्पूर्ण कर्मों को उन्मुक्त कर देता है। इस उपाय से मोक्ष का मार्ग सिद्ध होता है और निराकुल आनन्द निकट आता है[3]। जो

---

१. यदेतत् ज्ञानात्मा ध्रुवमचलमाभाति भवन।
शिवस्याय हेतुः स्वयमपि यतस्तच्छिव इति ।।
अतोऽन्यद् बन्धस्य स्वयमपि यतो बन्ध इति तत्।
ततो ज्ञानात्मत्वं भवनमनुभूतिर्हि विहितम् ।। —समयसारकलश, १०५

२. पं. बनारसीदास: समयसार नाटक, १, ३०

३. वही, २, ५

मन विषय-कषाय में वर्तता है, वह चंचल रहता है और जो आत्मस्वरूप का चिन्तवन करता है, वह स्थिर हो जाता है। चिन्ता विषयों की चंचलता है और चिन्तवन आत्मस्वरूप की स्थिरता की भावना है। चिन्ता सदा पर की होती है और चिन्तवन अपना, वस्तुस्वरूप का होता है। चिन्ता में भय व उद्वेग होता है, किन्तु चिन्तवन में निराकुलता का अहसास होता है। पहले दृष्टि में निराकुलता का भाव भासित हो, फिर, *वह अनुभूति का विषय बने, तभी चारित्र रूप परिणति होगी।*

वीतराग क्या है? इसे जानने के पूर्व चेतन तथा जड़-बन्ध को समझ लेना आवश्यक है। यद्यपि पहले बन्ध और मुक्ति का वर्णन किया जा चुका है, किन्तु प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशबन्ध पुद्गल कर्मों के विपाक से होने वाला कर्मबन्ध है। कर्मबन्ध में कार्मण-वर्गणा का आत्मा के सन्निकट आ कर उस वर्गणा की कर्म-रूप अवस्था हो जाना है। बन्ध की अवस्था में आत्म-प्रदेश के साथ कर्म एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं। अतएव कर्म की प्रकृति को आत्मा की प्रकृति समझना महान भूल है। कर्म को प्रकृति कर्मरूप ही रहती है और चेतन की प्रकृति चेतनरूप होती है। जीव के प्रकृतिबन्ध अशुद्ध निश्चयनय से ही कहा जाता है। वास्तव में चेतन के कोई बन्ध नहीं है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं—जीव के प्रकृतिबन्धस्थान, स्थितिबन्धस्थान, अनुभागबन्ध-स्थान और प्रदेशबन्धस्थान एवं उदय-स्थान नहीं हैं[1]। क्योंकि ये तो सब कर्म के साथ बन्ध को प्राप्त होने वाले कर्मबन्ध-स्थान हैं। शुद्ध निश्चयनय से शुद्ध आत्मद्रव्य के साथ कर्म का किसी भी प्रकार का बन्ध नहीं है। फिर, *यह जीव संसार में या संसार स्वरूप राग-द्वेष, मोह की दशा में क्यों है?* इसका समाधान यही है कि यह जीव स्वयं विकारी दशा को प्राप्त हो रहा है। आत्मा में अनन्त गुण हैं। वे सहज, स्वभाविक हैं। किन्तु उन अनन्त गुणों में से तीन गुण विकारी अवस्था को प्राप्त हो रहे हैं, जिसे चेतनबन्ध कहा जाता है। श्रद्धा गुण की विकारी अवस्था मिथ्यादर्शन है ज्ञानगुण की विकारी अवस्था अज्ञान है और चारित्र गुण की विकारी अवस्था कषाय है। जीव

---

१. णो ठिदिबंधट्ठाणा पयडिट्ठाणा पदेसठाणा वा :
णो अणुभागट्ठाणा जीवस्स ण उदयठाणा वा ।। —नियमसार, गा. ४०

अपनी अज्ञानता से रागादि भाव करता है। राग-द्वेष आत्मा के स्वाभाविक भाव नहीं हैं। किन्तु परिमणन करना वस्तु का स्वभाव है। जैसे कि आम में स्वभाव से रस पाया जाता है, किसी अन्य वस्तु के कारण रस उस में उत्पन्न नही होता; किन्तु खट्टा-मीठा आदि रूप परिणमन परनिमित्त से हो जाता है। इसी प्रकार जीव का परिणमन स्वयं अपनी योग्यता से होता है, किन्तु परनिमित्त से यह विभाव रूप परिणमन करता है। प्रश्न यह है कि परनिमित्त का सम्बन्ध भी क्यों है ? उत्तर यह है कि संसारी जीव अनादि काल से निमित्ताधीन दृष्टि वनाये हुए है। ऐसी दृष्टि बनाने के लिए कोई इसे प्रेरित नहीं करता। किन्तु यह स्वयं पर-पदार्थों में विषय-सुख मान कर उनकी ओर आकर्षित होता है, मोहित होता है। अतएव इन से छूटने का उपाय यही है कि सर्वप्रथम श्रद्धा गुण की पर्याय सम्यग्दर्शन को निर्मल वनाये।

ऐसा समझना और ऐसी श्रद्धा बनाना उचित नही है कि राग-द्वेष को पैदा करने वाली कर्म-प्रकृतियाँ है। वास्तव में जो कर्ता है, वही भोक्ता होता है। अत: अपराध कर्म-प्रकृतियाँ करती है, तो वे ही कर्म का फल भोगेगी। ऐसा मानने पर जीव रागादि भाव का अकर्ता तथा फल का भोक्ता भी न होगा, तब सांख्यमत का प्रसंग उत्पन्न होगा। अतएव अशुद्ध निश्चयनय से यही मान्य है कि रागादि भावों का कर्ता स्वयं-आत्मा है और वही फल का भोक्ता भी है। इस संसारी जीव में राग-द्वेष की उत्पत्ति में अन्य का तनिक भी दोष नहीं है। सारा अपराध स्वयं इस प्राणी का ही है। इस कार्य की उत्पत्ति में स्वयं अज्ञान भाव ही प्रसार को प्राप्त होता है। अत: यह मेरा अज्ञान भाव स्वयं अस्त हो जाए, क्योंकि मैं तो ज्ञानस्वरूपी हूं[1]। इतना निश्चय होने पर भी यह समझ होना आवश्यक है कि राग-द्वेष के उत्पन्न होने में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध अवश्य है; किन्तु वे पर से उत्पन्न नहीं होते। आचार्य अमृतचन्द्र कहते है कि तत्त्वदृष्टि से देखा जाए, तो राग-द्वेष को उत्पन्न

---

१. यदिह भवति रागद्वेषदोषप्रसूतिः
कतरदपि परेषां दूषणं नास्ति तत्र।
स्वयमयमपराधी तत्र सर्पत्यबोधो
भवतु विदितमस्तं यात्वबोधोऽस्मि बोधः॥ —समयसारकलश, २२०

करने वाला आत्मा से भिन्न कोई अन्य द्रव्य लक्षित नहीं होता है; क्योंकि सभी द्रव्यों की उत्पत्ति अपने स्वभाव से प्रकाशित है[1]।

वास्तव में यह आत्मा अलख, अमूर्तिक, अरूपी, नित्य, अजन्मा, निजाधार, ज्ञानी, निर्विकार तथा अखंड है। अनेक शरीर के धारण करने पर भी उन शरीरों के किसी अंश रूप भी यह नहीं होता। यह तो सदा चेतन प्रदेशों को धारण किए हुए चैतन्य का पिण्ड ही है। जैनदर्शन का यह बड़ा भारी विज्ञान है कि जीव शरीर आदि से मोह करता है, तो मोही हो जाता है और जब अन्य वस्तुओं में राग करता है, तब तन्मय हो जाता है। वस्तुतः आत्मा न शरीर रूप है, न अन्य वस्तुरूप। यह तो वीतरागी कर्म-बन्ध से रहित चिदानन्द स्वरूप तेरे घट में विराजमान है। इसके सिवाय अन्य सब जंजाल है[2]। इसकी प्रतीति भेद-विज्ञान पूर्वक होती है। जब तक हमें स्वभाव-विभाव की पहचान नहीं है. तब तक श्रद्धा गुण की सहज पर्याय रूप सम्यग्दर्शन प्रकट नही होता। भेद-विज्ञान सम्यग्दर्शन का कारण है। भेद-विज्ञान कारण है और सम्यग्दर्शन कार्य है। भेद-विज्ञान तभी तक कार्यकारी है, जब तक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नही हुई। भेद-विज्ञान की यही महिमा है कि इससे आत्मा उज्ज्वल होता है। सम्यग्दृष्टि रूपी धोबी भेद-विज्ञान रूपी साबुन तथा समता रूप निर्मल जल से आत्मगुण रूपी वस्त्र की निर्मलता प्रकट करते हैं[3]। भेद-विज्ञान से यह आस्रव का मूल कारण मिथ्यात्व का निरोध कर सम्यक्त्व रूप सवर को प्राप्त करता है। भेद-विज्ञान आत्मा के और परद्रव्यों के गुणों को स्पष्ट जानता है। उस ज्ञान के बल पर ही यह परद्रव्यों से अपनत्व बुद्धि हटा कर शुद्ध अनुभव में स्थिर होता है और उसका अभ्यास करके-संवर को प्रकट करता है। भेद-विज्ञान से ही आस्रव-द्वार का निग्रह, कर्मजनित महान अन्धकार का विनाश तथा विभाव-भावों का

---

१. रागद्वेषोत्पादकं तत्त्वदृष्ट्या नान्यद् द्रव्यं वीक्ष्यते किंचनापि।
सर्वद्रव्योत्पत्तिरन्तश्चकास्ति व्यक्तात्यन्तं स्वस्वभावेन यस्मात्॥ —वही, २१९

२. समयसार नाटक, बन्धद्वार, ५४

३. भेदग्यान साबू भयो, समरस निरमल नीर।
धोबी अंतर आतमा, धोवै निजगुन चीर॥ —समयसार नाटक, संवर द्वार, ९

क्षय कर समता भाव को ग्रहण करता हुआ निर्विकल्प निज पद प्राप्त करता है, जिससे निर्मल, अतीन्द्रिय, शुद्ध, अनन्त, अचल एवं परम सुख की शाश्वत उपलब्धि होती है[1]।

इन्द्रियों के विषयों के पर्वत पर खड़ा हो कर तरह-तरह के भोगोपभोगों की लालसा से भरा हुआ प्राणी सच्चे सुख की कल्पना तक नहीं कर सकता। क्योंकि इसकी कल्पना की उड़ान बुद्धिगत विषय-वासनाओं तक सीमित है। इसके जानने, देखने व समझने के मापदण्ड भौतिक हैं। यन्त्रों की व पर-शक्ति की सहायता से जानकारी प्राप्त करना भी भौतिकता है। भौतिक जगत और पर-पदार्थ अपने मे सत्य होने पर भी अध्यात्म की दृष्टि में प्रयोजनीय न होने से असत्य माने जाते है। अध्यात्म में केवल परम 'सत्' ही उपादेय है। निर्विकल्प आत्मानुभूति के द्वारा जो तत्त्व अनुभव में आता है, वहां मै हूं; अन्य सभी से भिन्न हूं—यही श्रद्धा सत्य का अवलोकन कराती है। इस सत्य की ओर जो झुकता है, केवल सत्य का आश्रय लेता है, वही पवित्रता के साम्राज्य में विलास करता है, आत्मज्ञानी बनता है और सच्चा सुख प्राप्त करता है।

कोई यह पूछे कि सच्चा सुख प्राप्त करने का उपाय क्या है? उत्तर है—वीतरागता। वीतरागता किसे कहते हे? रागादिक भावों का त्याग हो जाना ही वीतरागता है। भेद-विज्ञान होने पर भी जितने अंशों में रागादिक का अनुभव करता है, उतने अंशो में भेद-विज्ञान भी बंधता है[2]। वास्तव में निज आत्मानुभव को प्राप्त होना ही भेद-विज्ञान का फल है। यह किसी को बताने की आवश्यकता नही पडती कि मिश्री कैसी होती है। बताने से भी मिश्री की मिठास नही आती। जो स्वयं मिश्री का स्वाद लेता है, वही अनुभव कर सकता है कि वास्तव में मिश्री कैसी होती है। जिसने आज तक अपने सहजानन्द ज्ञानस्वभावी स्वरूप को नही समझा, वह यह भी नही जानता कि ज्ञान क्या होता है? ज्ञान

---

१. वही, ११

२. "अन्य. कोऽपि रागादिभेदविज्ञाने जातेऽपि यावतांशेन रागादिकमनुभवति तावतांशेन सोऽपि बध्यत एव, तस्यापि रागादिभेदविज्ञानफलं नास्ति।"

—बृहद्द्रव्यसंग्रह, गा. ३६ की टीका

तो स्वतः स्व-संवेदन रूप है। ज्ञान रागादि विकार से रहित है। राग-द्वेष से रहित जो शुद्ध ज्ञान है, वही मैं हूं। वर्तमान में ज्ञान के साथ जो रागादि विकार हैं, वे कर्म के निमित्त से उत्पन्न मेरे स्वरूप से सर्वथा भिन्न हैं। इस प्रकार भेद-विज्ञान पूर्वक ज्ञान मात्र के आस्वादन को ज्ञान की अनुभूति कहते हैं जो आत्मा की अनुभूति है। अनुभूति ज्ञान गुण की पर्याय है। आत्मा सब ओर से ज्ञानघन स्वभावी है। अतएव उसकी एकरूपता से उपासना कर उस में निश्चल हो जाना ही आत्मानुभूति कहा जाता है। शुद्ध स्वात्मानुभूति सम्यग्दर्शन है और भेद-विज्ञान उसका मूल है। आत्मा को विकारों से रहित शुद्ध चैतन्य स्वरूप उपलब्ध करने का एक मात्र अमोघ उपाय भेद-विज्ञान है। अनुभूति कैसी है ? आचार्य अमृतचन्द्र उसका स्वाद बताते हुए कहते हैं—सर्वांग में भरपूर चैतन्यरस स्वरूप का मैं स्वयं सचेतन कर रहा हूं। मोह से उत्पन्न होने वाले भाव मेरे कोई नहीं है। मैं तो शुद्ध चैतन्य तेज की निधि हूं, शुद्ध चैतन्य रस का अथवा समुद्र हूं[1]। इस प्रकार सच्चिदानन्द ज्ञाता, द्रष्टा, ज्ञानस्वभावी स्वानुभूतिस्वरूप सत्य का अनुभव करने वाला ही उस अतीन्द्रिय, अलौकिक, निर्विकल्प परम सुख को उपलब्ध होता है जो बिना किसी रुकावट के सहज ही अन्तर मे प्रकट होता है। चैतन्य रस से भरपूर, परम शुद्ध ज्ञान-ज्योति के प्रकाश में उस परमात्मा के साक्षात् दर्शन होते हैं जो सभी दोषों से रहित, निर्लेप, निरंजन, निराकार, परम ज्योतिस्वरूप है और जिसका अवलोकन इन्द्रियों तथा राग-द्वेषादि भावों से परे है। जो भी उसका अवलोकन करता है, वही परमान्दमयी स्थायी भावों से भर जाता है, उसकी ज्ञान-कला विकसित हो जाती है और उसके चैतन्य-समुद्र में शुद्ध ज्ञान-संवेदन की लहरें स्वयं उत्ताल तरंगों की भांति ज्ञानानन्द रूप उछलने लगती हैं। उस समय सभी प्रकार के भावों से हट कर अपने स्वभाव में रस-मग्न हो जाता है, जिसे निर्विकल्प समाधि की अवस्था कहते है। इस ज्ञान की रस-धारा को न तो कोई मिटा सकता

---

१. सर्वतः स्वरसनिर्भरभावं
चेतये स्वयमहं स्वमिहैकम्।
नास्ति नास्ति मम कश्चन मोहः
शुद्धचिद्घनमहोनिधिरस्मि ॥—समयसारकलश, ३०

है और न कोई पराश्रय से उत्पन्न कर सकता है। यह सभी प्रकार के साधन, भेद, उपाधि, विकार तथा परनिमित्तों से भिन्न स्वाश्रय की प्रवृत्ति से ही स्व-संवेद्यमान शुद्धात्मानुभूति की अवस्था है, जिसे सच्चा सुख कहा जाता है। यह सच्चा सुख मोह की काली रात बीत जाने पर ज्ञान रूपी सूरज के निकलने पर प्रकट होता है। मोह का अन्धकार कैसे दूर होता है ? भेद-विज्ञान के द्वारा वस्तु-स्वरूप की पहचान कर परमात्मा स्वरूप स्वात्मानुभूति को प्राप्त करता है और उसी समय से वीतराग-दशा प्रारम्भ होती है।

जिनागम में वीतरागता दो प्रकार से मानी गई है--रागक्रिया-रहित और रागोदयरहित। सम्यक्त्व के जो तीन भेद (औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक) किए जाते है, वे दर्शनमोह की अपेक्षा हैं। जहाँ दर्शनमोह की सत्ता तो पाई जाए, किन्तु उदय न हो उसे उपशम कहते है। उपशम सम्यक्त्व का काल अन्तर्मुहूर्त कहा गया है, पश्चात् दर्शनमोह का उदय हो जाता है। पण्डितप्रवर टोडरमलजी के शब्दों में "दर्शनमोह की तीन प्रकृतियों में जो मिथ्यात्व का अनुभाग है, उसके अनन्तवें भाग मिश्रमोहनीय का है, उसके अनन्तवें भाग सम्यक्त्व-मोहनीय का है। इन मे सम्यक्त्वमोहनीय प्रकृति देशघाती है; इसका उदय होने पर भी सम्यक्त्व का घात नहीं होता। किंचित् मलिनता करे, मूल घात न कर सके, उसी का नाम देशघाती है। सो जहाँ मिथ्यात्व व मिश्रमिथ्यात्व के वर्तमान काल में उदय आने योग्य निषेकों का उदय हुए बिना ही निर्जरा होती है, वह तो क्षय जानना और इन्ही के आगामी काल में उदय आने योग्य निषेकों की सत्ता पाई जाए, वही उपशम है और सम्यक्त्वमोहनीय का उदय पाया जाता है--ऐसी दशा जहाँ है सो क्षयोपशम है। इसलिये समलतत्त्वार्थश्रद्धान हो, वह क्षयोपशम सम्यक्त्व है"[1]।

प्रश्न यह है कि जीव के मिथ्यात्व भाव निश्चय से कौन करता है ? समाधान यह है कि यदि मिथ्यात्व नाम की मोह प्रकृति आत्मा को मिथ्यादृष्टि बना दे, तो सम्यक्त्व नाम की मोह प्रकृति सम्यग्दृष्टि बना

---

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, नवम अधिकार, पृ. ३३४

सकती है। किन्तु वास्तव में कोई कर्म-प्रकृति जीव में कुछ नहीं करती है। क्योंकि सिद्धान्त यह है कि जो कर्ता होता है, वही भोक्ता होता है। यदि जीव और कर्म-प्रकृति दोनों मिल कर पुद्गल द्रव्य को मिथ्यात्व रूप करते हैं, तो किए हुए का फल भी दोनों को मिलना चाहिए? यदि यह माना जाए कि पुद्गल द्रव्य को मिथ्यात्व रूप न तो कर्म-प्रकृति करती है और न जीव करता है, तो फिर पुद्गल द्रव्य स्वयं मिथ्यात्व रूप होता है—यह कहना भी भूल से भरा हुआ है। जैनदर्शन में पर के प्रति उससे भिन्न पदार्थ में जो निमित्तता स्वीकार की गई है, वह कहीं ज्ञान के प्रति ज्ञापक निमित्त रूप से स्वीकार की गई है और कहीं क्रिया के प्रति निमित्त होने से कारक रूप में स्वीकार की गई है। विचार कर देखा जाए, तो परमार्थ से अन्य में निमित्तता है ही नहीं; यह तो विवक्षित कार्य की सूचक होने से स्वीकार की गई है या ज्ञान की अपेक्षा उसका नियत विषय होने से स्वीकार की गई है। अविनाभाव सम्बन्ध वश कार्य-काल में पर द्रव्य में निमित्तता को स्वीकार करना अन्य बात है, पर इतने मात्र से उसे जिनागम के अनुसार कर्ता या प्रेरक कारण मानना अन्य बात है। ये दोनों एक नहीं हैं, दो हैं। वास्तव में निमित्तता अन्य दृष्टि से स्वीकार की गई है और कर्तृत्व अन्य दृष्टि से स्वीकार किया गया है[1]। वस्तुतः नियत कार्य के प्रति निमित्तता स्वीकार करने की दृष्टि भिन्न है और पर को कर्ता मान कर परमार्थ रूप से उसे स्वीकार करना भिन्न है। इन दोनों का अन्तर समझे बिना मिथ्यात्व की दृष्टि बनी रहती है; इस में कोई संशय नहीं है। अतएव चारों अनुयोगों से भिन्न-भिन्न समझ कर हमें इसी यथार्थ को समझना है कि परमार्थ से वस्तु का स्वरूप क्या है। जीव स्वयं ही अपने आप से अपने आप को साधता है। इसकी सिद्धि अन्य किसी आधार से नहीं है। जो स्वभावगत है, वही सत्य है और वही शाश्वत व नित्य है। द्रव्य में कार्य अपनी ही योग्यता से होता है। प्रत्येक द्रव्य में जैसी योग्यता होती है, उसी के अनुसार उस में कार्य की उत्पत्ति देखी जाती है। अतएव द्रव्य की अपनी क्रिया के कारण जो परिणमन होता है, उसे ही स्वभाव या सहज योग्यता कहते हैं; आत्मद्रव्य की सहज परिणति ज्ञान-दर्शनमूलक है।

---

१. जैनतत्त्व-मीमांसा, द्वितीय संस्करण, पृ. ४

यथार्थ में वस्तु का अपना परिणमन कर्म-बन्ध का कारण नहीं है, किन्तु राग द्वेष-मोह रूप परिणमन करना ही बन्ध का कारण है। यह सुनिश्चित है कि जीव के स्वभाव में रागादिक भाव नहीं हैं। परन्तु यह जीव रागादिक के साथ अपने उपयोग का जुड़ान कर उन से युक्त हो जाता है—यही राग की क्रिया कही जाती है। जहाँ-जहाँ राग की क्रिया है, वहाँ-वहाँ धर्म नहीं है। इस प्रकार जीव की दो प्रकार की क्रियाओं का निर्देश किया जाता है—रागादि भावरूप विकारी क्रिया और रागादि भाव रहित शुद्ध या अविकारी क्रिया। राग भाव रूप परिणमन करने से नवीन द्रव्यकर्म का बन्ध होता है और वीतरागभाव से मुक्ति की अवस्था प्राप्त होती है[1]। आगम की परिपाटी में राग की क्रिया से रहित अवस्था सातवें गुणस्थान से दसवें गुणस्थान तक मानी जाती है। जब तक राग की दशा है, तब तक चारित्र नहीं होता; क्योंकि स्वचारित्र ही सच्चा चारित्र है। आचार्य कहते हैं कि स्वचारित्र से भ्रष्ट कौन है? जो शुभभावरूप पुण्य तथा अशुभ भावरूप पाप में प्रवृत्तिमान है, वह अपने चारित्र से भ्रष्ट है[2]। यह निश्चित है कि वास्तविक चारित्र प्रकट होने पर ही वीतरागता प्रकट होती है।

यथार्थ मे जिस गुणस्थान में जिनके जितना रागादि विकारी भावों का अभाव है, वे उतने अंश में ज्ञान म वढ़ते है। जो जितने-जितने अंश में ज्ञानी है, उतने-उतने अश मे निरास्रव है। रागादि भाव से सर्वथा रहित ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थानवर्ती जीव पूर्णतया ज्ञान भाव रूप म परिणमते हैं। अतः उनके बुद्धि व अबुद्धिपूर्वक रागादि भाव सर्वथा दूर हो जाते है। वे ही पूर्णतया निरास्रव है[3]।

---

१. रागभाव परिनमे जे अन्धे, नूतन दरब करम ते बाधे।
वीतरागपद जो भवि परसे, ताको मुक्त अवस्था भरसे ॥
—कवि वृन्दावन . प्रवचनसार, जोवाधिकार, ८५

२. यतः संपद्यते पुण्यं पाप वा परिणामतः।
वर्तमानो यततस्तत्र भ्रष्टोऽस्ति स्वचरित्रत. ॥—योगसार-प्राभृत, अ० ३, श्लोक ३२

३. अध्यात्म-अमृत-कलश, पृ. १३५

यह निश्चय है कि शुद्ध निश्चयनय सिद्धों की पर्याय में घटता है, किन्तु यह कथन परिणति की अपेक्षा है। दृष्टि की अपेक्षा सम्यक्त्व की ओर झुकने वाला गृहस्थ शुद्ध निश्चय की श्रद्धा प्राप्त कर सकता है। आत्म-स्वभाव की भावना से निजतत्त्व की श्रद्धा का जन्म होता है और आत्म-स्वभाव की स्थिरता का नाम चारित्र है। जो शुद्धनय को अर्थात् शुद्धात्मा की भावना को प्राप्त होकर अपने शुद्ध स्वरूप में स्थिर रहते हैं, वे रागादि विकारी भावों से रहित होकर समयसार रूपी अपनी आत्मा का निर्बन्ध होकर अवलोकन करते हैं[1]। आगम में ध्यान में लवलीन अप्रमत्तादि गुणस्थानवर्ती वीतराग चारित्र को उपलब्ध सम्यग्दृष्टि जीवों का ही यह वर्णन समझना चाहिए। क्योंकि आगम के अनुसार ग्यारहवें से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक एक सातावेदनीय प्रकृति अवश्य बंधती है। केवल चौदहवें गुणस्थान में किसी भी प्रकृति का बन्ध नहीं है। बन्ध के मुख्य रूप से पाँच कारण कहे गए हैं। उनमें से मिथ्यात्व का चौथे गुण-स्थान में, अविरति का छठे में, प्रमाद का सातवें में, कषाय का दसवें में और योग का चौदहवें गुणस्थान में अभाव हो जाता है। इसलिये उनके निमित्त से उत्पन्न होने वाली प्रकृतियों का भी बन्ध रुक जाता है। वस्तुतः कर्म-प्रकृति का उदय बन्ध का कारण नहीं है, किन्तु मिथ्यात्व व राग-द्वेष भाव का होना बन्ध का कारण है। आत्म-स्वभाव के सन्मुख होने वाला सम्यग्दृष्टि जीव अध्यात्म के अनुसार ज्ञानी माना जाता है। मोह का अभाव ही अज्ञान का नाश है। जो जितने अंश में राग-द्वेषात्मक कषाय भाव से दूर है, वह उतना ही विशिष्ट ज्ञानी है। ज्ञानी जीव के जितना-जितना वीतराग भाव वृद्धिगत होता जाता है, उतना-उतना कर्म-बन्ध का अभाव होता जाता है। मोह, राग-द्वेष भाव का पूर्ण अभाव ग्यारहवें गुणस्थान में व आगे गुणस्थानों में है, अतः वे पूर्ण अवन्धक हैं[2]। ग्यारहवें बारहवें गुणस्थान वाले जीव केवली नहीं है, पर सम्पूर्ण राग-द्वेष के अभाव से पूर्ण वीतरागी हैं।

---

१. समयसारकलश, १२०

२. अध्यात्म-अमृत-कलश, पृ. १३८

परमार्थ में तो जीव शुद्ध स्वभावी है, किन्तु व्यवहार में शुभ, अशुभ तथा शुद्ध रूप परिणमन होने से जीव के तीन तरह के भाव कहे जाते हैं। शुभ और अशुभ भाव बन्ध के कारण कहे जाते हैं तथा शुद्ध भाव मोक्ष का कारण है। विषय-कषायों में प्रवर्तना अशुभ उपयोग है और दान-दयादि रूप शुभ भावों मे प्रवृत्ति करना शुभ उपयोग है। चौथे गुणस्थान से छठे गुणस्थान तक प्रचुर रूप से शुभोपयोग की प्रवृत्ति होती है। धर्म ध्यान शुभ उपयोग है। सम्यक्त्वी के परिणाम सविकल्प तथा निर्विकल्प रूप होकर दो प्रकार प्रवर्तत हैं। वहाँ जो परिणाम विषय-कषायादि रूप व पूजा, दान, शास्त्राभ्यासादिक रूप प्रवर्तता है, उसे सविकल्प जानना[1]। व्यवहार धर्म अशुद्धोपयोग है। शुभ तथा अशुभ दोनों अशुद्धोपयोग के भेद हैं। शुभ भाव करने वाले को भी अशुद्ध उपयोगी इसलिए कहा जाता है कि उसके मन की शुद्धता नहीं होती और जब तक अशुद्ध परिणाम हैं, तब तक नियम से संयम नहीं हो सकता[2]। मोक्ष की प्राप्ति के लिए शुद्ध उपयोग ही कार्यकारी है। क्योंकि वह आत्मा का स्वरूप ही है। शुद्ध भाव है सो अपना शुद्ध स्वभाव आप में ही है--ऐसा जानना चाहिए[3]। यह शुद्ध भाव ही धर्म कहा गया है। अतः यही उपादेय है; अन्य दोनों निषिद्ध हैं[4]। वास्तव में प्रवृत्ति रूप जो भी क्रिया है, वह सब शुभ कर्म के बन्ध का कारण है। आत्मा के जितने अंशों में विशुद्धि होती है, उन अशों की अपेक्षा जीव के कर्म का बन्ध नहीं होता। परन्तु जितने अंशों में उसके रागादिक का आवेश पाया जाता है, उस राग की अपेक्षा से अवश्य बन्ध होता है[5]। इस प्रकार जिनागम का यह कथन है कि जितना रागांश है, उतना बन्ध है और जितना

---

१. पण्डितप्रवर टोडरमल कृत रहस्यपूर्ण चिट्ठी, पृ. २

२. बंदउ णिंदउ पडिकमउ भाउ असुद्धउ जासु।
पर तसु संजमु अत्थि णवि जं मणसुद्धि ण तासु ।। —परमात्मप्रकाश, २, ६६

३. सुद्धं सुद्धसहावं अप्पा अप्पम्मि तं च णायव्वं।
इदि जिणवरेहिं भणियं जं सेयं तं समायरह ।। —भावपाहुड, गा. ७७

४. सुह परिणामें धम्मु पर असुहें होइ अहम्मु।
दोहिं वि एहिं विवज्जियउ सुद्धु ण बंधइ कम्मु ।। —परमात्मप्रकाश, २ ७१

५. येनांशेन विशुद्धि स्यात् जन्तोस्तेन न बन्धनम्।
येनांशेन तु राग: स्यात्तेन स्यादेव बन्धनम् ।। —अनगारधर्मामृत, १, ११०

वीतराग का अंश है, उतना संवर है। क्योंकि शुद्धोपयोगी के ही वीतराग भाव प्रमुख रूप से कहा गया है। आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं—शुभोप योगियों के शुद्धता के अनुराग युक्त चारित्र होता है। अतएव शुद्ध आत्म परिणति को प्राप्त श्रमणों के प्रति वन्दन, नमस्कार, आदर-विनय क अनुगमन करने वाली प्रवृत्ति तथा शुद्ध आत्म-परिणति की रक्षा के निमित्त वैयावृत्य रूप प्रवृत्ति शुभोपयोगी मुनियों के लिए दूषित नहीं हैं[1]।

प्रश्न यह है कि शुद्धोपयोग के साथ शुभोयोग, वीतराग के साथ रा भाव और ज्ञान के साथ कर्म या अज्ञान दोनों एक साथ कैसे हो सकते हैं? आचार्य कहते हैं कि जब तक ज्ञान की शुभाशभ क्रिया की विरति पूर्ण रूप से (रत्नत्रय की पूर्णता) नहीं पाई जाती, तब तक कर्म औ ज्ञान दोनों की एक साथ स्थिति रहती है। इसमें कोई हानि नहीं है इस अवस्था में अपना वश न चलने पर कर्म की परवशता से जो क्रिय होती है, वह कर्म-बन्ध के लिए ही कारण है। क्योंकि मोक्ष की प्राप्ति के लिए तो स्वयं रागादि क्रिया से रहित एक मात्र उत्कृष्ट ज्ञान ह कार्यकारी है[2]।

सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र और मोक्षमार्ग दो-दो तरह के कहे जा हैं। सम्यग्दर्शन के सराग और वीतराग, सम्यक्चारित्र के सराग औ वीतराग तथा मोक्षमार्ग के व्यवहार और निश्चय भेद का मुख्य आधा सरागता तथा वीतरागता है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि ध्या में लीन होने की दशा का नाम शुद्धोपयोग है, वीतराग चारित्र है शुद्धोपयोग की दशा में वीतराग स्व-संवेदन की मुख्यता पाई जाती है विकल्प-जाल सब तिरोहित हो जाते हैं। यद्यपि भावना रूप से ज्ञा

---

१. "शुभोपयोगिनां हि शुद्धात्मानुरागयोगिचारित्रतया समधिगतशुद्धात्मवृत्तिषु श्रम वन्दननमस्करणाभ्युत्थानानुगमनप्रतिपत्तिप्रवृत्ति· शुद्धात्मवृत्तित्राणनिमित्ता श्र पनयनप्रवृत्तिश्च न दुष्येत्"। —प्रवचनसार, गा. २४७ की तत्त्वप्रदीपिका वृ

२. यावत्पाकमुपैति कर्मविरतिर्ज्ञानस्य सम्यङ्. न सा,
कर्मज्ञानसमुच्चयोऽपि विहितस्तावन्न क.चित् क्षतिः ।।
किन्त्वत्रापि समुल्लसत्यवशतो यत् कर्मबन्धाय तत्
मोक्षाय स्थितमेकमेव परमं ज्ञानं विमुक्तं स्वतः ।। —समयसारकलश, ११०

चेतना का उदय चौथे गुणस्थान से हो जाता है, किन्तु निर्विकल्प समाधि की दशा में वह परिणति रूप में विलास करती है। क्योंकि इस दशा में ज्ञान में राग-द्वेष का पुट न होने से ज्ञान मात्र संचेतना रहती है। यह आत्मा की सहज स्वाभाविक दशा कही जाती है। वास्तव में आत्म-ध्यान में लीन रहने वाला श्रमण ही चारित्र का स्वामी होता है[1]। मुनि का सम्यक् चारित्र साम्यभाव रूप ही कहा गया है। वहाँ सराग और वीतराग का प्रश्न नही है। मुनि का स्वरूप तो शुद्धोपयोगी है; किन्तु आगम में शुभोपयोगी श्रमण शुद्धोपयोग में स्थिर न रहने के कारण शुभोयोग में आने से शुभोपयोगी भी कहा जाता है। वीतराग जिन-धर्म में वीतरागता का साक्षात् कारण शुद्धोपयोग ही बताया गया है। वृन्दावन कवि उसे ही प्रमाण मानते है[2]। अत. परमार्थ में मुनि का स्वरूप एक ही प्रकार का है। जिस प्रकार सम्यग्दृष्टि गृहस्थ होते है और मुनि भी होते है, किन्तु उन दोनों के चारित्र मे अन्तर होता है; उसी प्रकार सराग और वीतराग सम्यग्दृष्टि जैसे भेद चारित्र की अपेक्षा से किये जाते है; क्योंकि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान तो दीपक व उसके प्रकाश की भाँति एक साथ होता है। अन्तर जितना भी पड़ता है, वह सब चारित्र के कारण होता है। भेद जितना किया जाता है, वह सब व्यवहार की दृष्टि से किया जाता है। सामान्यत: सभी दिगम्बर निर्ग्रन्थ साधु को मुनि कहते हैं, किन्तु गुणस्थान की अपेक्षा से उनमें विशेष भेद भी किए जाते हैं। सामान्य साधुओं को अनगार कहते है। उपशम और क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ साधुओ को यति कहते हैं। अवधिज्ञानी, मन:पर्ययज्ञानी और केवलज्ञानी को मुनि कहते है। ऋद्धिधारी साधुओं को ऋषि कहा जाता है[3]। आचार्य कुन्दकुन्द ने स्पष्ट रूप से प्रशस्त राग को भी आस्रव कहा है।

---

१. दंसणसुद्धिविसुद्धो मूलाइगुणेहि संजुओ तह्य।
सुहदुक्खाइसमाणो झाणणिलीणो हवे समणो॥ —नयचक्र, गा. ३३०

२. जो नर या परकार जथारथ, रूप पदारथ को उर आनै।
राग-विरोधमई परिनाम, कभी परद्रव्य विषै नहिं ठानै॥
सो उपयोग विसुद्ध धरै, सब देहज दु:खानि को नित मानै।
आनन्दकन्द-सुभाव-सुधामधि लीन रहै तिहि वृन्द प्रमानै॥ —प्रवचनसार, ३, १९

३. पं. कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री : नयचक्र, पृ १६६

आचार्य अमृतचन्द्र ने मुनि के सराग चारित्र को अस्थान का राग तथा तीव्र रागज्वर कहा है जो मिटाने योग्य है[1]। इससे यही निश्चय होता है कि आगम में हेय और उपादेय बता कर दो प्रकार से वर्णन किया जाता है; जबकि अध्यात्म में अभेद रूप से एक ही प्रकार का वर्णन किया जाता है। इस प्रकार दोनों की शैली भिन्न-भिन्न होने से दो तरह का माना जाता है। उदाहरण के लिए, आत्मानुभूति स्वरूप सम्यग्दर्शन एक ही प्रकार का है। फिर भी, औपशमिक, क्षायोपशमिक तथा क्षायिक के भेद से तीन प्रकार का कहा जाता है। इसी प्रकार ग्यारह-बारहवें गुणस्थान में आत्म-स्वभाव की अपेक्षा यथाख्यात चारित्र में कोई अन्तर नहीं होता है; फिर भी, उपशम तथा क्षय की अपेक्षा भेद किए जाते हैं। अतः सम्यक्चारित्र तथा मोक्षमार्ग दो प्रकार के नही हैं। रत्नत्रय की प्रवृत्ति करने वाले मुनि वीतरागचारित्र के ही आराधक होते हैं। परमार्थ के साथ उनकी व्यवहार-दशा अवश्य प्रवर्तती है। उसे ही लक्ष कर पं. बनारसीदासजी कहते हैं–"सम्यग्दृष्टि होते ही चतुर्थ गुणस्थान से बारहवें गुणस्थानक पर्यन्त मिश्रनिश्चयात्मक द्रव्य मिश्रव्यवहारी। केवल ज्ञानी शुद्धनिश्चयात्मक शुद्धव्यवहारी"[2]। इसे हम दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि व्रतादि शुभ भावों का निश्चय मोक्षमार्ग के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, किन्तु अशुभ भावों का सम्बन्ध नही है। निश्चयनय की अपेक्षा विशुद्ध ज्ञान-दर्शन रूप स्वभाव धारक निज आत्मतत्व की भावना से उत्पन्न सुख रूपी अमृत के आस्वाद के बल से सब शुभ-अशुभ रागादि विकल्पों से रहित व्रत हैं[3]। वास्तव में व्रत मात्र प्रवृत्ति है। प्रवृत्ति निवृत्ति का कारण नहीं हो सकती, इसलिए उसे संवर भी नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार अन्तरग में शुद्ध निश्चयव्रत की आराधना मुनि के होती है। व्यवहार में निश्चयव्रत के साधकों के वहिरंग साधन भी उपचार से व्रत कहे जाते हैं। सर्वत्र इसी प्रकार की कथन शैली समझनी चाहिए। जिनागम में सर्वत्र शुद्ध व्यवहार की चर्चा मिलती है, जिसका निषेध नही है; किन्तु

---

१. पंचास्तिकाय, गा. १३६ की टीका।

२. पं. बनारसीदासः परमार्थवचनिका

३. "निश्चयेन विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजात्मतत्त्वभावनोत्पन्नसुखसुधास्वादबलेन समस्तशुभाशुभरागादिविकल्पनिवृत्तिर्व्रतम्।" —बृहद्द्रव्यसंग्रह, गा. ३५ की टीका।

बहिरंग क्रिया मात्र को या उसी को धर्म समझने का निषेध है। इसी प्रकार शुभ क्रिया में ममता या आसक्ति भावना का निषेध किया गया है। साथ ही इतना समझ लेना आवश्यक है कि किसी भी प्रकार की शुभ क्रिया क्यों न हो, क्रिया मात्र पुद्गल का समाज है, उससे आत्मा का लाभ नहीं हो सकता है[1]। आत्माका लाभ तो राग-द्वेष, मोह का त्याग करने पर ही होगा। जितना-जितना त्याग होगा, उतना-उतना लाभ होगा। इसलिए बाहरी व्रत रूप क्रियाओं की पूज्यता को लेकर वाद-विवाद करना व्यर्थ है। यह सभी जानते है कि अन्तरंग त्याग से ही बहिरंग में पूज्यता मानी जाती है। पूज्यता ज्ञान की ही है और ऐसे ज्ञान की है जो मोह के अभाव में प्रकट होता है। गुणस्थानों की अपेक्षा उसमें तर-तमता बतलाई जाती है, परन्तु वास्तव में ज्ञान और चारित्र दोनों की पूज्यता का कारण मोह का त्याग ही है।

उक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि वास्तव म मोक्षमार्ग में निश्चय वीतराग चारित्र ही इष्ट है। कवि राजमल्ल कहते हैं—गुणी में गुण के समान जो स्वात्म-ज्ञान में लीन, सब प्रपंचों से रहित है, वह निश्चय वीतराग चारित्र का धारक है। उसके निश्चय से बुद्धि पूर्वक राग नही होता। यदि कदाचित् अबुद्धिपूर्वक राग होता भी है, तो सूक्ष्म ही होता है। जिनके सूक्ष्म राग होता है, उनको तीर्थंकरों न गौण वीतराग चारित्र वाला कहा है। जिन मुनियों के सूक्ष्म राग भी नही रहता, वे निश्चय वीतराग चारित्र वाले कहे जाते है[2]। निश्चय वीतराग चारित्र ही मोक्ष का साक्षात् कारण है जो आत्म-स्वभाव की आराधना से उपलब्ध होता है।

---

१. क्रिया सुभ कीजै पै न ममता धरीजै कहूं, हूजै न विवादी यामैं पूज्य भावना ही है।
कीजै पुन्यकाज सो समाज सारो पर ही को, चेतना की चाहि नाहिं मधै याकै याही है।।
—ज्ञानदर्पण, ८९

२. स्वात्मज्ञाने निलीनो गुण इव गुणिनि त्यक्तसर्वप्रपंचो,
राग. कश्चिन्न बुद्धौ खलु कथमपि वा बुद्धिज: स्यात्तु तस्य।
सूक्ष्मत्वात्तं हि गौणं यतिवरवृषभा: स्याद्विधायेत्युशन्ति,
तच्चारित्रं विरागं यदि खलु विगलेत्सोऽपि साक्षाद्विरागम्।।
—अध्यात्मकमलमार्तण्ड, १, १४

जिनशासन में मोक्षमार्ग के साथ ही उसके फल का भी निरूपण किया गया है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों की समरसता मोक्ष का मार्ग है। यद्यपि ये तीन कहे जाते हैं, परन्तु वास्तव में तीनों एक हैं; क्योंकि तीनों एक ही आत्मा में परमात्मा के स्वरूप से अभिन्न लक्षित होते हैं[1]। इन तीनों में सम्यग्दर्शन प्रधान है। सम्यक्त्व से ही मोक्षमार्ग का प्रारम्भ होता है। चौथे गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक मोक्षमार्ग कहा गया है। यथार्थ में निश्चय रत्नत्रयरूप परिणत निज शुद्धात्मा ही मोक्ष का मार्ग है[2]। क्योंकि क्षायिक सम्यक्त्व चौथे गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान तक रहता है[3]। वास्तव मे चित्त की शुद्धि के बिना किसी भी दशा में, किसी भी क्षेत्र में, किसी भी देश मे और किसी भी भेष में क्यो न रहें, मोक्ष का मार्ग प्रकट नहीं हो सकता। निश्चय से शुद्ध भाव ही मोक्षमार्ग है। इसलिये अविरतसम्यग्दृष्टि जीव मोक्षमार्गी कहा जाता है।

मार्ग मोक्ष का उपाय है। मोक्ष के मार्ग का फल निर्वाण है। निज परमात्म-तत्त्व के सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-अनुष्ठानरूप शुद्ध रत्नत्रय-मार्ग परम निरपेक्ष होने से मोक्ष का उपाय है। मोक्ष की आराधना करने वाला स्वयं जीव है। जीव उपयोगमय है। अर्थग्रहण-व्यापार उपयोग कहा जाता है। वस्तुतः उपयोग ज्ञान और दर्शनमय है। ज्ञानोपयोग दो प्रकार का है—स्वभावज्ञान और विभावज्ञान। स्वभावज्ञान अमूर्त, अव्याबाध, असहाय, अतीन्द्रिय तथा अविनाशी है। कार्य-स्वभावज्ञान और कारण-स्वभावज्ञान के भेद से वह दो प्रकार का कहा जाता है। उसे ही सहज

---

१. सद्दृष्टिज्ञानवृत्तं शिवपदपदवी ज्ञानमन्तः प्रविष्टं
दृष्टौ दृष्टिश्चरित्रे तदमलमचलं शुद्धचैतन्यमेव।
नैषा भिन्नेति रत्नत्रितयपरिणतिस्तत्त्वतो भाति यस्मा-
त्तन्नित्यं निर्विकल्पे कलयति परमात्मानमात्मन्यभिन्नं ।। आत्मप्रबोध, श्लो० १४२

२. पेच्छइ जाणइ अणुचरइ अप्पि अप्पउ जो जि।
दंसणु णाणु चरित्तु जिउ मोक्खहं कारणु सो जि ।।
—परमात्मप्रकाश, अ० २, दोहा १३

३. "सम्माइट्ठी खइयसम्माइ-असंजदसम्माइट्ठि-प्पहुडि जाव अजोगकेवलि त्ति।"
—षट्खण्डागम, सत्प्ररूपणा, १,१,१४५

चिद्विलास रूप या सदा सहज परम वीतराग-सुखामृत कहते हैं-जो यथाख्यातचारित्र की दशा में प्रकट होता है। उसे पूर्ण वीतराग सम्यग्दृष्टि भी कहते हैं।

ज्ञानोपयोग की भाँति दर्शनोपयोग के भी दो भेद हैं-स्वभावदर्शनोपयोग और विभावदर्शनोपयोग। स्वभावदर्शनोपयोग के भी दो प्रकार हैं-कारण-स्वभावदर्शनोपयोग और कार्य-स्वभावदर्शनोपयोग। वास्तव में सहज परम पारिणामिक भाव ही निजस्वभाव है। अतः उसका श्रद्धान करने से व आश्रय लेने से मोक्ष दशा प्रकट होती है।

जिनागम मे निश्चयचारित्र का अविनाभावी शुद्धोपयोग कहा गया है। क्योंकि शुद्धभाव आत्मा का स्वरूप ही है। जीव का पर-द्रव्य के साथ संयोग (आत्मबुद्धि) होने के कारण अशुद्ध उपयोग कहा जाता है। उसके दो भेद हैं-अशुभोपयोग और शुभोपयोग। शुद्धोपयोग सदा एक-सा रहता है। शुद्धभाव त्रैकालिक शुद्ध है। अतः मोक्षमार्ग शुद्धोपयोग स्वरूप ही है[1]।

शुद्ध का अर्थ है-रागरहित। राग का ही प्रतिगामी द्वेष है। राग और द्वेष दोनों मोह की सन्तान हैं। अतः मोह के ही दो भेद हैं-राग और द्वेष। इनसे रहित अवस्था वीतराग कही जाती है। अतएव वीतराग रूप परिणमन शुद्धोपयोग कहलाता है। श्रीब्रह्मदेवसूरि पूर्ण व निर्मल केवलज्ञान और केवलदर्शन को शुद्धोपयोग कहते हैं। साम्य, स्वास्थ्य, समाधि, योग, चित्तनिरोध और शुद्धोपयोग ये सब एक ही अर्थ के वाचक शब्द हैं[2]। पं. जयचन्दजी छाबड़ा के अनुसार शुद्धोपयोग की दशा में चारित्र होता है। उनके ही शब्दों में 'चारित्र का स्वरूप यह कहा है कि जो आत्मा का स्वभाव है वह कर्म के निमित्त से ज्ञान में परद्रव्य से इष्ट-अनिष्ट बुद्धि होती है, इस इष्ट-अनिष्ट बुद्धि के अभाव से ज्ञान ही में उपयोग लगा रहे उसको शुद्धोपयोग कहते हैं, वही चारित्र है। यह होता है वहाँ जहाँ निन्दा-प्रशंसा, दुःख-सुख, शत्रु-मित्र

---

१. अब बंदा शिवपंथ जो शुद्धोपयोग सरूप।
इक अखंड वरतत त्रिविधि, अमल अचल चिद्रूप॥
कविवर वृन्दावन: प्रवचनसार, अ० ६, दोहा १३९

२. पद्मनन्दिपंचविंशतिका, अ० ४, श्लोक ६४

में समान बुद्धि होती है। निन्दा-प्रशंसा का द्विधाभाव मोहकर्म का उदयजन्य है। इसका शुद्धोपयोग रूप चारित्र है[1]।"

यह तो निश्चय है कि सम्यग्दृष्टि जीव के अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, और मिथ्यात्व के उदय से होने वाले राग-द्वेष तथा मोह भाव नहीं होते हैं[2]। अनन्तानुबन्धी चतुष्क के अभाव में स्वरूप में जो आंशिक स्थिरता होती है, उसका नाम स्वरूपाचरण है। उसकी पूर्णता बारहवें गुणस्थान में होती है। यह तो मानी हुई बात है कि चौथे गुणस्थान में राग की विपरीतता की दृष्टि परावृत्त हो जाती है, हट जाती है। इसे हम यों भी कह सकते है कि अविरतसम्यग्दृष्टि के अनन्तानुबन्धी सम्बन्धी राग घट जाता है, राग कम हो जाता है। वास्तव में सम्यक्त्व प्रकट होने पर जो प्रथमानुभूति होती है या कभी-कभी उपयोग विशेष लगने पर जो आत्मानुभूति होती है, वह भेद रहित (सामान्य) होने से निर्विकल्प कही जाती है। उपयोग में रागादि की अतिशयभेदता से भी उसे निर्विकल्प कह सकते है; किन्तु 'समयसार' में वर्णित निर्विकल्प स्वानुभूति चौथे-पाँचवे और छठे गुणस्थान में नही होती। जहाँ तक बुद्धिपूर्वक राग है, वहाँ तक निर्विकल्प स्वानुभूति नहीं है। रागरहित दशा मे वह प्रकट होती है, जिसे वीतराग चारित्र कहते है। वास्तव में यह कथन करणानुयोग की अपेक्षा से है। द्रव्यानुयोग में तो स्पष्ट रूप से सम्यक्त्व कीउपलब्धि होने पर आंशिक शुद्धि के कारण निर्विकल्पानुभूति, आंशिक स्वरूपाचरण तथा आंशिक शुद्धोपयोग प्रकट हुआ माना जाता है। आचार्यकल्प पं. टोडरमलजी के शब्दों में "करणानुयोग में तो रागादि रहित शुद्धोपयोग यथाख्यातचारित्र होने पर होता है, वह मोह के नाश से स्वयमेव होगा; निचली अवस्था वाला शुद्धोपयोग का साधन कैसे करें? तथा **द्रव्यानुयोग में शुद्धोपयोग करने का ही मुख्य उपदेश है**; इसलिये वहाँ छद्मस्थ जिस काल में बुद्धिगोचर भक्ति

---

१. मोक्षपाहुड, गा० ७२ की भाषा-वचनिका।

२. "तथा हि अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभमिथ्यात्वोदयजनिताः रागद्वेषमोहाः सम्यग्दृष्टेर्न सन्तीति पक्षः।' —समयसार, गा० १८५ जयसेनाचार्य कृत टीका।

आदि व हिंसा आदि कार्य रूप परिणामों को छोड़ कर आत्मानुभवनादि कार्यों में प्रवर्ते उस काल उसे शुद्धोपयोगी कहते हैं। यद्यपि यहाँ केवलज्ञान गोचर सूक्ष्म रागादिक है, तथापि उसकी विवक्षा यहाँ नहीं की; अपनी बुद्धि-गोचर रागादिक छोड़ता है, इस अपेक्षा उसे शुद्धोपयोगी कहा है[१]।"

जिनागम में शुद्धोपयोग का वर्णन तीन अपेक्षाओं से किया गया लक्षित होता है। आचार्य अमृतचन्द्र ने ज्ञाननय और क्रियानय की तीव्र मैत्री होने पर शुद्धोपयोग की भूमिका प्राप्त होने की स्थिति का प्रतिपादन किया है। शुद्धोपयोगी ही आत्मस्वरूप में गुप्त होता है। अतः तन से और मन से भी जो नग्न होता है तथा विषय-कषायों से ऊपर उठ जाता है, वही शुद्धोपयोग की भूमिका प्राप्त करता है। क्योंकि असयमी शुद्धोपयोगी नहीं होता है। यह नियम है कि ज्ञानी निश्चयचारित्र आत्मस्वरूपलीनता की दशा में शुद्धोपयोग को उपलब्ध होता है[२]। जब तक बुद्धिपूर्वक पापरूप क्रियाओं में प्रवृत्ति है, तब तक शुद्धोपयोग कैसे हो सकता है? शास्त्रकारों ने 'शुद्धोपयोग' शब्द का जो व्यवहार किया है, वह उन श्रेणिगत गुणस्थानों में ध्यानावस्थित होने से उनके बुद्धिपूर्वक रागादि के अभाव से उन्हे शुद्धोपयोगी व वीतरागी भी कहा है। वास्तव में पूर्ण वीतरागता तो विशुद्ध उपयोगरूप अर्हन्त सिद्ध के होती है। क्योंकि 'शुद्धोपयोग' का अर्थ वहाँ निरूपराग, स्वचरित में वृत्ति है[३]—जो मोह, क्षोभ से सर्वथा रहित वीतराग चारित्र-दशा है। करणानुयोग में ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थान में छद्मस्थवीतरागता कही जाती है। क्षपक श्रेणी में आरूढ़ जीव क्रमशः आठवें से बारहवें तक पहुँचने पर पूर्ण शुद्धोपयोगी हो जाता है[४]। सामान्यतः द्रव्यानुयोग तथा करणानुयोग में मोह के अभाव में पूर्ण वीतरागता बारहवें गुणस्थान में मानी जाती है। बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में मोह का क्षय होता है। वीतरागता का यह प्रतिपादन "छद्मस्थ" की अपेक्षा से किया

---

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, आठवाँ अधिकार, पृ० २८६ से उद्धृत

२. समयसारकलश, श्लो० २६७

तथा—प्रवचनसार, गा० २३७ की आ० अमृतचन्द्र तथा जयसेनाचार्य कृत टीका।

३. पंचास्तिकाय, गा० १५६ की टीका; तथा—प्रवचनसार, गा० १५ की टीका।

४. द्रष्टव्य है—अध्यात्म अमृत-कलश, प्रथम संस्करण, पृ० ३६९

गया है। छद्मस्थ दो प्रकार के होते हैं—मिथ्यादृष्टि व सम्यग्दृष्टि। सम्यग्दृष्टि छद्मस्थ भी दो प्रकार के कहे जाते हैं—सराग तथा वीतराग। चौथे से दसवें गुणस्थान तक सराग छद्मस्थ होते हैं और ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थान में वीतराग छद्मस्थ होते है। वीतराग छद्मस्थ के भी दो प्रकार हैं—उपशान्त कषाय और क्षीणकषाय[1]। इस अपेक्षा से समस्त मोहनीय कर्म के उदय से भिन्नत्व की उत्कृष्ट भावना से निर्विकार आत्मस्वरूप को प्रकट करने वाले श्रमण शुद्धोपयोगी कहलाते हैं[2]। अतएव जीवस्वभाव मे नियत चारित्र मोक्षमार्ग कहा गया है तथा रागोदयरहित शुद्धोपयोग होने से वीतराग कहा गया है।

शुद्धोपयोग के प्रतिपादन की दूसरी अपेक्षा वीतराग चारित्र की है। वीतराग चारित्र रूप शुद्धोपयोग ही साक्षात मोक्ष का कारण कहा जाता है। मोक्षमार्ग में निश्चयचारित्र की ही प्रधानता है जो चारित्र स्वय धर्म रूप है। उसे ही श्री ब्रह्मदेवसूरि ने परम सम्यक्चारित्र कहा है। वह चारित्र वीतराग सम्यक्त्व व ज्ञान का अविनाभूत तथा निश्चयरत्नत्रय स्वरूप होता है। बाह्य तथा अन्तरंग के शुभ-अशुभ विकल्प रूप समस्त क्रियाओ के व्यापार का निरोध (त्याग) हो जाने पर चारित्र प्रकट होता है। कहा भी है—तथा निर्विकार स्वसवेदन रूप शुद्धोपयोग का अविनाभूत उत्कृष्ट सम्यक्चारित्र जानना चाहिए[3]। शुद्धात्मा के अतिरिक्त अन्य बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह रूप पदार्थों का त्याग करना उत्सर्ग है। उसे ही निश्चयनय या निश्चयचारित्र व शुद्धोपयोग भी कहते हैं। इन सब शब्दों का एक ही अर्थ है[4]। इस अपक्षा से पूर्ण

---

१. "छदुमत्था ते दुविहा—उवसंतकसाया खीणकसाया चेदि।"
—धवला, पुस्तक ७, २, १, १

२. "सकलमोहनीयविपाकविवेकभावनासौष्ठवस्फुटीकृतनिर्विकारात्म-स्वरूपत्वाद्विगतरागः। परमकलावलोकनाननुभूयमान. . . .श्रमणः शुद्धोपयोग-इत्यभिधीयते।।" —प्रवचनसार, गा० १४, तत्त्वप्रदीपिकावृत्ति

३. "तत् परमोपेक्षालक्षणं निर्विकारस्वसवित्त्यात्मकशुद्धोपयोगाविनाभूतं परमं सम्यक्-चारित्रं ज्ञातव्यम्।" —बृहद्द्रव्यसंग्रह, गा० ४६ की टीका

४. "शुद्धात्मनः सकाशादन्यद् बाह्याभ्यन्तरपरिग्रह रूपं सर्वं त्याज्यमित्युत्सर्गो निश्चयनयः सर्वपरित्यागः परमोपेक्षासंयमो वीतरागचारित्रं शुद्धोपयोग इति यावदेकार्थः।" —प्रवचनसार, गा० २३०, तात्पर्यवृत्ति; तथा—बृहद्द्रव्यसंग्रह, गा० ५२ की टीका

वीतरागता तो अर्हन्त-सिद्धों के होती है, किन्तु आचार्य, उपाध्याय और श्रमण साधु के एकदेश वीतरागता होने से उन्हें भी वीतरागी कहा जाता है ।

इस प्रकार गुणस्थानों की परिपाटी में रागादि विकल्प की निवृत्ति रूप शुद्धोपयोग में संयमादि सब गुण रहते हैं[1] । 'स्वस्वरूपविश्रान्तिलक्षण' परम वीतरागचारित्र तो उन में नहीं होता, किन्तु लौकिक क्रिया-व्यापारों से हट जाने के कारण बुद्धिपूर्वक राग का अभाव होने से सातवें गुणस्थान स दसवें गुणस्थान तक संयमी मुनि के वीतरागता कही जाती है । आचार्य जयसेन के अनुसार प्रथम से तृतीय गुणस्थान तक तरतम भाव से घटता-घटता अशुभोपयोग होता है और चौथे से छठे गुणस्थान तक तरतम रूप से बढ़ता-बढ़ता शुभोपयोग होता है । सातवें से बारहवें गुणस्थान तक क्रमशः वृद्धिमान शुद्धोपयोग कहा जाता है जो साक्षात् वीतरागता का जनक होता है[2] । बारहवें गुणस्थान में उस शुद्धोपयोग की पूर्णता कही जाती है । इस दृष्टि से वीतरागचारित्र मोक्षमार्ग कहा गया है । "चारित्र" कहते ही दर्शनमोह और चारित्र मोह दोनों से विरत वीतरागचारित्र में स्थित श्रमण-साधु की वीतरागता का ही बोध होता है । जिनशासन में वीतरागनिर्विकल्प स्वसंवेदन सम्यग्ज्ञान मोक्ष-मार्ग कहा गया है । 'वीतराग' कहने से 'वीतरागचारित्र' तथा 'सम्यक्' से सम्यक्त्व का ग्रहण हो जाता है[3] । सामान्यतः चारित्र एक है । श्री ब्रह्मदेवसूरि के अनुसार शुद्धोपयोग लक्षणात्मक निश्चयरत्नत्रय रूप में परिणत आत्मस्वरूप में आचरण या स्थिति चारित्र है जो तारतम्य भेद से पाँच प्रकार का है-सामायिक, छेदोपस्थापन, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात । छठे से नवम गुणस्थानों में सामायिक और छेदोपस्थापन तथा प्रमत्त व अप्रमत्त इन दो गुणस्थानों में परिहार विशुद्धि चारित्र होता है । दसवें गुणस्थान में केवल सूक्ष्मसाम्पराय तथा ग्यारहवें से चौदहवें इन चार गुणस्थानों में यथाख्यात चारित्र होता है[4] ।

---

१. सुद्धहं संजमु सीलु तउ सुद्धहं दंसणु णाणु ।
   सुद्धहं कम्मक्खउ हवइ सुद्धउ तेण पहाणु ।। —परमात्मप्रकाश, गा० ६७

२. प्रवचनसार, गा० ९ की टीका

३. परमात्मप्रकाश, अ० २, दोहा ७२ की टीका

४. बृहद्द्रव्यसंग्रह, गा० ३५ की टीका

द्रव्यानुयोग में उस शुद्धोपयोग रूप परिणति-चारित्र की अपेक्षा उत्तम मुनि के शुद्धोपयोग कहा गया है। वहाँ छठे गुणस्थानवर्ती मुनि के भी शुद्धोपयोग-परिणति नहीं है[1]। अतएव पं. दौलतरामजी कहते हैं कि अन्तरंग-बहिरंग परिग्रह से रहित निर्ग्रन्थ सातवें से बारहवें गुणस्थान तक के मुनि शुद्धोपयोगी हैं[2]। यथार्थ में तो जब तक अणु मात्र भी राग है, तब तक वीतरागता नहीं है[3]। इसलिए पूर्ण वीतरागी सर्वज्ञदेव कहे जाते है, किन्तु वास्तव में चारित्र की पूर्णता सिद्ध भगवान में है।

यद्यपि चारित्र की अपेक्षा चौथे से छठे गुणस्थान तक शुभोपयोग तथा सातवें से बारहवें तक शुद्धोपयोग कहा गया है, क्योंकि मिथ्यात्व राग आदि अशुद्ध पर्याय की भाँति वह शुद्ध भी नहीं होता। इन गुणस्थानों में शुद्धोपयोग एक देश में प्रकट रूप तथा एक देश में आवरणरहित ऐसा तीसरी अवस्थान्तर रूप कहा जाता है[4]। यह तो निश्चित है कि चतुर्थ गुणस्थान में निजात्मा में उपादेय बुद्धि, शुद्ध भावना तथा कथंचित् आत्मानुभव अवश्य होता है। गुणस्थानों में वर्णित शुभोपयोगी सम्यग्दृष्टि के कथंचित् शुद्धोपयोग भी कहा गया है। द्रव्यानुयोग की दृष्टि में आत्मनुभव रूप शुद्धोपयोग तथा व्रतादि शुभोपयोग रूप मिश्रभाव एक साथ होते हैं। आचार्यकल्प पं. टोडरमलजी के शब्दों में "वीतराग शुद्धोपयोग ही मोक्षमार्ग है। तथा निचली दशा में कितने ही जीवों के शुभोपयोग और शुद्धोपयोग का युक्तपना पाया जाता है, इसलिये उपचार से व्रतादिक शुभोपयोग को मोक्षमार्ग कहा है; वस्तु का विचार करने पर शुभोपयोग मोक्ष का घातक ही है; क्योंकि बन्ध का कारण

---

१. शुद्धोपयोगी के परम, वीतरागता भाव।
तातै तिनके यह क्रिया, होत नाहिं दरसाव॥
—कविवर वृन्दावन: प्रवचनसार, अ० १, दोहा २४

२. द्विविध संगबिन शुधउपयोगी, मुनि उत्तम निजध्यानी। —छहढाला, ३, ४

३. जहाँ रागकनिका रहै, तहाँ न जीव विराग।
वीतराग तातैं मुकत, सकल राग परत्याग॥
—पं० हीरानन्द: समयसार, दोहा २४०

४. बृहद्द्रव्यसंग्रह गा० ३५ की टीका; तथा—अनगारधर्मामृत टीका, श्लो० १०८,१०९

वह ही मोक्ष का घातक है[1] ।" वास्तव में अल्प शुद्धता होने पर शुभोपयोग का अंश रहता है[2] । करणानुयोग में चौथे गुणस्थान से सातवें गुणस्थान तक धर्मध्यान कहा गया है । धर्मध्यान श्रेणिआरोहण के पूर्व होता है जो सविकल्प और निर्विकल्प रूप होता है । निर्विकल्प ध्यान को स्वानुभूति कहते हैं । सप्तम आदि गुणस्थानों में ध्यान की मग्नता विशेष होने पर उसी का नाम शुद्धोपयोग है । पण्डितप्रवर आशाधरजी के शब्दों में "तदनन्तर अप्रमत्त गुणस्थान से लेकर क्षीणकषाय गुणस्थान पर्यन्त जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भेद रूप विवक्षित एकदेश रूप से शुद्धनय रूप शुद्धोपयोग वर्तता है[3] ।" धर्मध्यान में किंचित् आत्मानुभव तथा शुद्धोपयोग अवश्य होता है[4] । अतएव सम्यग्दर्शन की अपेक्षा सामायिकादि काल में शुद्ध भावना होने से सम्यक्त्वी के आँशिक शुद्धोपयोग कहा जाता है । पूज्य गणेशप्रसादजी वर्णी के शब्दों में "सम्यक्त्वी का लक्ष्य केवल शुद्धोपयोग पर रहता है । मोक्ष पहुँचाता शुद्धोपयोग है, पर व्यवहार से कहते हैं कि शुभोपयोग ने मोक्ष पहुँचाया[5] ।" तथा–'शुभोपयोग को त्यागने से शुद्धोपयोग नहीं होता, किन्तु शुभोपयोग में जो मोक्षमार्ग की कल्पना कर रखी है, उसके त्याग और राग-द्वेष की निवृत्ति से शुद्धोपयोग होता है, और वही परिणाम मोक्षमार्ग का साधक है[6] ।" इस प्रकार "वीतराग" का अर्थ यहाँ पर संक्लेश परिणाम का निकल जाना है[7] ।

द्रव्यानुयोग की अपेक्षा स्वानुभूति-काल में शुद्ध भाव (द्रव्य) का भावन होने से दर्शनमोह के अभाव में शुद्धोपयोग होने के समय में

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृ० २५५
२. वही, पृ० २३२
३. "तदन्तरप्रमत्तादिक्षीणकषायपर्यन्तं जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदेन विवक्षितैकदेशेन शुद्धोपयोगो वर्तते ।......सच भावसंवर इत्युच्यते ।"

—अनगारधर्मामृत, १०८-१०९ स्वोपज्ञ टीका

४. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भा० १, पृ० ८६–८७
५. सुख की एक झलक, पहला भाग, तृतीय संस्करण, पृ० ३१
६. वही पृ० २९
७. "वीतोऽपगतो रागः संक्लेशपरिणामो यस्मादसौ वीतरागः ।"

—लब्धिसार, वी०प्र०, गा० ३०४ की टीका

वीतरागता अंकुरित हो जाती है। यद्यपि चतुर्थ गुणस्थान में शुद्धोपयोग प्रस्फुटिक नहीं होता, किन्तु सम्यक्त्वी के गर्भ में जन्म अवश्य ग्रहण कर लेता है। उसे ही पं. बनारसीदास ने शुद्ध अंकुर कहा है[1]। इतना अवश्य है कि निर्विकल्प समाधि, शुक्लध्यान तथा वीतरागचारित्र रूप परिणति चौथे गुणस्थान में नहीं होती। फिर, सम्यग्दृष्टि के शुद्धोपयोग की स्थिति निरन्तर नहीं रहती। सम्यक्त्वी के अधिक-से-अधिक छह माह में कदाचित् एक बार, ज्ञान-वैराग्य सम्पन्न सच्चे व्रती के पन्द्रह दिन में तथा उत्तम मुनियों के अन्तर्मुहूर्त में स्वानुभूति कही जाती है। यद्यपि करणानुयोग और द्रव्यानुयोग में ताल-मेल बैठाने का प्रयत्न किया जाता है, किन्तु दोनों की दृष्टि भिन्न-भिन्न है। करणानुयोग में वीतरागता का प्रतिपादन चारित्र की अपेक्षा किया गया है; किन्तु द्रव्यानुयोग में सम्यक्त्व की अपेक्षा कथन किया जाता है। पण्डितप्रवर टोडरमलजी के शब्दों में "इसलिए द्रव्यानुयोग के कथन की विधि करणानुयोग से मिलाना चाहे तो कहीं तो मिलती है कहीं नहीं मिलती। जिस प्रकार यथाख्यातचारित्र होने पर तो दोनों अपेक्षा शुद्धोपयोग है, परन्तु निचली दशा में द्रव्यानुयोग अपेक्षा से तो कदाचित् शुद्धोपयोग होता है, परन्तु करणानुयोग अपेक्षा से सदा काल कषाय अंश के सद्भाव से शुद्धोपयोग नहीं है[2]।" सारांश यह है कि शुद्ध आत्मा का अनुभव सच्चा मोक्षमार्ग है जो शुद्धनय रूप से स्वभाव-सन्मुख होने के कारण चौथे गुणस्थान से प्रारम्भ हो जाता है[3]। मोक्ष की प्राप्ति सम्पूर्ण राग-द्वेष निवृत्ति से ही होती है। यद्यपि चतुर्थ गुणस्थान में निरविचार (निर्दोष) व्रत-चारित्र रूप उपयोग न होने से सम्यक्त्वी को अविरतसम्यग्दृष्टि कहा जाता है; तथापि सम्पूर्ण शुभाशुभ क्रिया-निवृत्ति रूप शुद्धोपयोग की भावना उसके सतत जाग्रत रहती है। अतएव आत्मोपादेय शुद्ध भावना लब्धि रूप स्वरूपाचरण चारित्र सम्यग्दर्शन का अविनाभावी होने से तथा

---

१. 'भयो सुद्ध अंकूर, गयो मिथ्यात मूर नसि ॥"

—समयसारनाटक, मोक्षद्वार, पद ५२

२. मोक्षमार्गप्रकाशक, आठवाँ अधिकार, पृ० २८६

३. मोक्षमहल की परथम सीढ़ी, या बिन ज्ञान-चरित्रा;
सम्यक्ता न लहै, सो दर्शन, धारो भव्य पवित्रा। —छहढाला, ३,१७

ज्ञानचेतना का उदय होने से मोक्षमार्ग का वास्तविक प्रारम्भ चौथे गुणस्थान से होता है[1]। इतना अवश्य है कि साक्षात् वीतरागता तथा मुक्ति का जनक निर्विकल्प समाधि रूप शुद्धोपयोग सातवें गुणस्थान में माना जाता है।

शास्त्रों का पार नहीं है; समय कम है और हम अल्पबुद्धि वाले हैं; इसलिए केवल वही सीखना चाहिए जिससे जन्म-मरण का क्षय हो सके[2]। जन्म-मरण के क्षय का एक मात्र अमोघ उपाय है–निश्चल परिणति रूप ध्यान। यह ध्यान कब होता है ? जिसके राग-द्वेष, मोह नहीं होते तथा जो योगों (मन, वचन, काय) का सेवन नहीं करता, उसके शुभाशुभ को जलाने वाली ध्यानमयी अग्नि प्रकट होती है[3]। ध्यान का स्वरूप क्या है ? शुद्ध स्वरूप में अविचलित चैतन्य-परिणति ही यथार्थ ध्यान है। इस ध्यान की विधि उस समय प्रकट होती है, जब निश्चय से योगी दर्शन-मोहनीय और चारित्रमोहनीय का विपाक पुद्गल कर्म होने से उस विपाक को कर्मों मे समेट कर और उस विपाक के अनुरूप परिणमन से उपयोग हटा कर–जो उपयोग मोही, रागी-द्वेषी होने वाला नहीं है–उस उपयोग को शुद्ध आत्मा मे निष्कम्प रूप से लीन करता है, तब निष्क्रिय चैतन्य स्वरूप मे विश्रान्त होने वाले के मन-वचन-काय के अनुभव से रहित, अपने कर्म-व्यापारों से रहित सकल शुभाशुभ कर्म रूप ईंधन को जलाने में समर्थ अग्नि के समान परम पुरुषार्थ (मोक्ष) की सिद्धि का उपाय ध्यान प्रकट होता है[4]। इस पंचम काल मे भी यथाशक्ति धर्म-ध्यान हो सकता है, शुध्द आत्मा का अनुभव हो सकता है। सब प्रकार की लौकिकता छोड़ने पर ही ध्यान होता है। जो योगी-ध्यानीमुनि जिनवरदेव की आज्ञा से निश्चय रत्नत्रय की आराधना करता है, वह प्रकट रूप से आत्मा का ध्यान

---

१. द्रष्टव्य है–श्री १०८ चारित्रचक्रवर्ति-आचार्य शान्तिसागर-स्मृतिग्रन्थ, पृ० २९१; ४७

२. अंतो णत्थि सुईणं कालो थोओ वयं च दुम्मेहा।
तं णवरि सिक्खियव्वं जं जम्ममरणं खयं कुणइ॥ —पाहुडदोहा, ९८

३. जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो व जोगपरिकम्मो।
तस्स सुहासुहडहणो झाणमओ जायए अगणी॥ —पंचास्तिकाय, गा. १४६

४. पंचास्तिकाय, गा. १४६ की पूर्ण समयव्याख्या

करता है; क्योंकि रत्नत्रय आत्मा का गुण है और गुण-गुणी में भेद नहीं है। अतः निश्चयरत्नत्रय की आराधना वीतरागी की ही आराधना है। ऐसी आत्मा का जो ध्यान करता है, वही परद्रव्य को छोड़ता है—इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है[1]। धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान दोनों में एक मात्र ध्येय स्वात्म-दर्शन है। इन दोनों ध्यानों में परस्पर विशुद्धि और स्वामी-भेद की अपेक्षा भेद है। धर्मध्यान से शुक्ल ध्यान में परिणामों की विशुद्धि अधिकाधिक असंख्यातगुणी तथा अनन्तगुणी है[2]। यद्यपि ध्यान करते समय आत्मा अर्हन्त या सिद्ध रूप में प्रकट नहीं होती; किंतु भावों में सिद्ध परमात्मा का ग्रहण करने से ध्यान की निश्चलता से ध्याता उस समय भाव से अर्हन्त हो जाता है[3]। ध्यान सदा निरंजन स्वरूप निजात्मा का किया जाता है। शक्ति रूप से अपनी सिद्धात्मा का ध्यान ही मोक्ष का कारण माना गया है[4]।

मोक्ष क्या है? जैसे यह जीव बहिरंग तप से संवर-निर्जरा मानता है, उसी प्रकार अनन्त गुणी विषय-सुख की प्राप्ति को मोक्ष समझता है। पण्डितप्रवर टोडरमलजी के शब्दों में "जिस धर्म-साधन का फल स्वर्ग मानता है, उस धर्म-साधन ही का फल मोक्ष मानता है। कोई जीव इन्द्रादि पद प्राप्त करे, वहाँ उन दोनों को एक जाति के धर्म का फल हुआ मानता है। ऐसा तो मानता है कि जिसके साधन थोड़ा होता है वह इन्द्रादि पद प्राप्त करता है, जिसके सम्पूर्ण साधन हो वह मोक्ष प्राप्त करता है; परन्तु वहाँ धर्म को जाति एक जानता है। सो जो कारण की एक जाति जाने, उसे कार्य की भी एक जाति का श्रद्धान अवश्य हो; क्योंकि कारण विशेष होने पर ही कार्य विशेष होता है[5]।" वास्तव में अज्ञानी जीवों की सभी

---

१ रयणत्तयं पि जोई आराहइ जो हु जिणवरमएण।
सो झायदि अप्पाणं परिहरइ परं ण संदेहो॥ —मोक्खपाहुड, गा. ३६.

२. एतद्द्वयोरपि ध्येयं ध्यानयोर्धर्म्यशुक्लयोः।
विशुद्धि-स्वामि-भेदात्तु तयोर्भेदोऽवधार्यताम्॥ —तत्त्वानुशासन, १८०

३. वही, श्लोक १८९

४. अहं निरंजनो देवः सर्वलोकाग्रमाश्रितः।
इति ध्यानं सदा ध्यायेदक्षयस्थानकारणम्॥ —योगप्रदीप, ४९

५. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवां अधिकार, पृ. २३४

मान्यताएँ लौकिक आधार पर प्रस्थापित होती हैं। बन्ध और मोक्ष की कल्पना भी वह अपने इन्द्रियजन्य सुख-दुःखों के आधार पर करता है। अतएव इन्द्रिय व अतीन्द्रिय दोनों प्रकार के सुख की जाति एक समझता है। परन्तु मोक्ष इन्द्रिजन्य सुखों से सर्वथा परे है। मोक्ष सहज, स्वाभाविक सच्चे सुख का नाम है। श्रीमद् रायचन्द्र निज-शुद्धता को मोक्ष कहते हैं [1]। मोक्ष रूप अवस्था सदा एक समान रहती है। शुद्ध वीतराग दशा की उपलब्धि ही मुक्ति का सच्चा रहस्य है।

एकला चल

द्रव्यदृष्टि में आत्मा त्रैकालिक ध्रुव शुद्ध चैतन्य आनन्द का कन्द है। विज्ञान-घनस्वभावी शुद्ध आत्मद्रव्य मे कर्म की कोई उपाधि नही है। वह तो नित्य निरंजन, निर्लेप, निर्विकार त्रिकालशुद्ध है। वस्तु अखण्ड है। उस में कोई भेद नही है। देहाश्रित विभिन्न पर्यायों, विभिन्न क्रियाओं और पुद्गल की विभिन्न परिणतियों से भिन्न शुद्ध आत्मद्रव्य निराला है। ऐसे अलौकिक, अचिन्त्य पदार्थ को अपने ज्ञान-ध्यान में स्थिर करके "मैं अखण्ड ज्ञायक रूप हूँ, पररूप नही हूँ"—ऐसा सर्वदा सब ओर विज्ञान-घन निजात्मा का अनुभव करना ही स्व-संवेदन है। अपने स्व-संवेदन में वर्तन करना ही चलना है।

राग, द्वेष, मोह, क्रोध, काम, मान, माया आदि भावों में हम बहुत चल चुके है। आज से नही, अनादि काल से विषय-भोगों में तथा लौकिक भावों में चल रहे हैं। हम निरन्तर शुभ या अशुभ भावों में चलते ही रहे हैं। एक क्षण मात्र के लिए भी कभी विश्राम करना हमने नही जाना। अपने शुद्ध भाव को कभी पहचाना तक नही, इसलिए अपने आप से पहचान नहीं हुई। जो भी संयोगी तथा विभाव पर्यायें हमें आज तक लक्षित हुई, उनको ही हम अपना मानते रहे। किन्तु वे सब अवस्थाएं है; वस्तु का स्वरूप नहीं हैं। जैसे दर्पण की स्वच्छता में बेल-पत्ती, फूल, अग्नि या रंग आदि विभिन्न रूपों में झलकते हुए दिखाई पड़ते हैं, क्योंकि ज्ञान ज्ञेय से भिन्न है। ज्ञान में ज्ञेयाकार प्रतिबिम्बित होता है; किन्तु ज्ञान ज्ञेय

---

१ मोक्ष कहा निज शुद्धता, वह पाता उस पन्थ।
समझाया संक्षेप में, सकल मार्ग निर्ग्रन्थ ॥ —आत्मसिद्धि, १२३

रूप नहीं हो जाता। वे तो 'सब' दर्पण की अवस्था के सूचक हैं। दर्पण उन सबसे भिन्न है। परन्तु उन पदार्थों के ज्ञान का निषेध करना दर्पण की स्वच्छता अथवा दर्पण का ही निषेध करना है; इसी प्रकार ज्ञानगुण की स्वच्छता में अनुकूल-प्रतिकूल संयोग, पंचेन्द्रियों के विषय आदि का ज्ञान सहज ही होता है; उनका निषेध नहीं किया जा सकता; परन्तु चैतन्य आत्मा उन से भिन्न है। शुद्ध ज्ञानस्वभावी आत्मा में राग-द्वेष रूप, पर में इष्ट-अनिष्ट की कल्पना नही है। वह तो निर्विकल्प परमानन्दस्वरूप है। अतएव ज्ञानी की स्वलक्ष की ओर निरन्तर दृष्टि होने से वह निर्मल ज्ञान का अनुभव करता है, एक धारा रूप प्रवाहित होने वाली शान्ति-समरसता का आस्वादन करता है। उस अखण्ड एक रस-धारा में आत्म-रस में प्रवाहित हो कर आत्मा-राम में निमज्जित होने के लिए सदा चलता रहता है, वर्तन करता रहता है। यथार्थ में आत्मा-राम, रस की धारा और वर्तन करने वाला तीनों भिन्न-भिन्न नहीं हैं। तीनों की अभेद एकता हो उस सतत स्वात्मानभूति के गोचर अखण्ड पदार्थ में ज्ञायक तत्त्व का अवलोकन कराती है कि यही "मैं हूँ"। और अब बहिर्लोक से सर्वथा भिन्न अपने ही लोक में अपने शुद्ध चैतन्य तत्त्व का आश्रय लेकर हमें चलते रहना है। पर की ओर दृष्टि जाते ही, पर का ख्याल आते ही हम अपने स्वभाव से हट जाते हैं, प्रमाद में पहुँच जाते हैं और इसलिये हमारा पतन हो जाता है।

जो अपनी आत्मा नहीं है, उस पर-पदार्थ को अपना मानना संयोग है। संसार में, लोक की अन्य वस्तुओं में चलने वाला, उन से अपना अस्तित्व मानने वाला इस प्रकार की संयोग-बुद्धि मे ही रात-दिन संसरण करता रहता है। अनादि काल से "पर" को "स्व" मानने की एकत्व बुद्धि के कारण यह जीव अपने शाश्वत निजी वैभव से अनजान रहता है। जिसे अपने वैभव का पता है, वह पराये वैभव की ओर अपनी दृष्टि नहीं दौड़ायेगा; अपने वैभव का ही ख्याल करेगा। अपने परम पारिणा-मिक शुद्धभाव के समक्ष तीनों लोकों के अनन्त वैभव भी तुच्छ हैं। जिसकी दृष्टि अब भी सांसारिक वैभवों में गड़ी हुई है, उसे अपने वैभव की बात भी नहीं सुहाती है। जो जहाँ जिस दशा में है, उसकी बढ़ोतरी में

आनन्द मानता है। उससे भिन्न व विलक्षण कोई अलौकिक तथा निर्विकल्प अनुभूति हो सकती है—इसकी कल्पना तक नहीं है।

जब तक पर का संयोग है किंवा पराश्रित दृष्टि है, तब तक निजात्मा का भान नहीं होता। अपनी झलक मिलने पर ही अपनी पहचान होती है, श्रद्धा अथवा प्रतीति होती है। किन्तु यह पर की भेद-बुद्धि में ही अनन्त विकल्पों का जाल प्रति समय बुनता रहता है। इसलिये जब तक भेद-बुद्धि विघटित नहीं होती है, तब तक एक ज्ञायक शुद्ध चैतन्य की ओर अभेद बुद्धि गमन नहीं करती है। वास्तव में भेद से अभेद की ओर, खण्ड से अखण्ड की ओर, अपूर्ण से पूर्ण की ओर तथा आकुलता से निराकुलता की ओर चलना ही चलना है।

यह अज्ञानी जीव हाथ-पैरों के चलाने को चलना समझता है। लोक में चलना भिन्न है और मोक्ष-मार्ग में चलना भिन्न है। लोक में चलने वालों के साथ भीड़ होती है, कोई-न-कोई वाहन होता है और कुछ नहीं तो भाग-दौड़ होती है; एक स्थान से दूसरे स्थान तक और दूसरे से से तीसरे तक, इस तरह आने-जाने की क्रियाओं का, काम करने का सिलसिला चलता ही रहता है। किन्तु मोक्ष-मार्ग में चलने का प्रारम्भ सचमुच तब होता है, जब मन विश्राम पाता है। मन की दौड़-धूप के साथ शरीर की उछल-कूद आवश्यक रूप से बनी ही रहती है। इसलिये हमारा सारा समय मन और शरीर के तरह-तरह के कोलाहल में ही बीत जाता है; शिव-पथ की ओर हम उन्मुख नही हो पाते।

आचार्य सीख देते हुए अपने अनुभव से कहते हैं—हे पथिक! शिवपुर की ओर जाने वाले तुम सभी तरह से निस्संग हो कर ही इस पथ पर चल सकते हो। बाहर-भीतर में किसी प्रकार का परिग्रह साथ में लेकर मोक्ष-मार्ग में आगे नहीं बढ़ सकते हो। जिसे अकेले चलने का अभ्यास नहीं है, रात-दिन शरीर तथा विषय-भोगों की चिन्ता जिसे सताया करती है, वह सन्त कैसे हो सकता है? साधु—सन्तों का यह मार्ग निरापद एवं निराश्रय है। क्योंकि साधक को किसी भी प्रकार की आकांक्षा नहीं होती, मन में कोई वितृष्णा नहीं होती; जब जैसी स्थिति होती है, परिस्थितियाँ बनती-बिगड़ती रहती हैं, उन सब का वह ज्ञाता—द्रष्टा मात्र

होता है। उन परिस्थितियों से साधु-सन्त का कुछ भला-बुरा हो जाएगा अथवा वे अपने आत्म-ज्ञान के बल पर उन को पलट देंगे—ऐसे कर्तृत्व-बुद्धि जिन में नहीं होती, वास्तव में वे ही ज्ञानी होते हैं।

आत्मसत्ता के अनुभव में वर्तना ही ज्ञानी का सच्चा ज्ञान है। जिसे वस्तुस्वरूप तथा पर का भेद-विज्ञान है; जो अहंकार-ममकार-एकत्व तथा कर्तृत्वबुद्धि से रहित है, जो निमित्त के अधीन दृष्टि वाला नहीं है, जो प्रमाद से पराधीन नही है; जिस में वीतरागता का उदय हो चुका है— ऐसा दिगम्बर-निर्ग्रन्थ साधु ही सम्यक् वीतराग-चर्या का पालन करता है और उसकी चर्या ही सच्चा चलना है।

जो मोह से मूढ़ हैं, पर समय में रत है—पर-पदार्थों को अपनाने वाले हैं, वे पर्वत के शिखर, सागर-सरिता के तट, वन-उपवन, गुहा-कन्दरा, अरण्य-जंगल में कहीं भी रहें, उन को निराकुल सुख की प्राप्ति नहीं होती। निराकुलता तो निजामृत-पान से ही उपलब्ध होती है। जैसे प्यास शान्त करने के लिए शैवाल से आच्छादित जल को काई से भिन्न कर सहज सुरस, निर्मल जल का पान किया जाता है, वैसे ही क्लेश रूपी पिपासा की शान्ति के लिए संकल्प-विकल्प-जालों को छोड़ कर आत्मध्यान रूपी अनुपम स्वच्छ व सहज अमृत का पान करें। हम अपने ही शुद्ध ज्ञान में चलें। वास्तव में ज्ञान कैसा है ? पण्डित बनारसीदासजी के शब्दों में–"ज्यों-ज्यों ज्ञाता की हेय-ज्ञेय-उपादेय रूप शक्ति वर्धमान हो, त्यों-त्यों गुणस्थान की बढ़वारी कही है। गुणस्थान प्रमाण ज्ञान, गुणस्थान प्रमाण क्रिया। उस में विशेष इतना कि एक गुणस्थानवर्ती अनेक जीव हों तो अनेक रूप का ज्ञान कहा जाता है, अनेक रूप की क्रिया कही जाती है। भिन्न-भिन्न सत्ता के प्रमाण से एकता नही मिलती। एक-एक जीव द्रव्य में अन्य-अन्य रूप औदयिक भाव होते हैं, उन औदयिक भावानुसार ज्ञान की अन्य-अन्यता जानना। परन्तु विशेष इतना कि किसी जाति का ज्ञान ऐसा नही होता कि परसत्तावलम्बनशील होकर मोक्षमार्ग साक्षात् कहे। क्यों ? अवस्था प्रमाण परसत्तावलम्बक है। परसत्तावलम्बी ज्ञान को परमार्थतः नहीं कहता। जो ज्ञान हो वह स्वसत्तावलम्बनशील होता है, उसका नाम ज्ञान। उस ज्ञान को सहकारभूत निमित्त रूप नाना प्रकार के औदयिक भाव होते हैं, उन औदयिक भावों का ज्ञाता तमाशगीर है, न कर्ता है, न भोक्ता है,

न अवलम्बो है, इसलिये कोई ऐसा कहे कि इस प्रकार के औदयिकभाव सर्वथा हों तो फलाना गुणस्थान कहा जाय तो झूठ है। उन्होंने द्रव्य का स्वरूप सर्वथा प्रकार नहीं जाना है।" यथार्थ में ज्ञान तो स्वसत्ता का जानपना है।

हे आत्मन्! अपने में ही गहरा पैठता जा। अपने में ही निरन्तर चल। जहाँ तक राग-रंग हैं, संकल्प-विकल्प है, वहाँ तक भौतिकता है और जहाँ भौतिकता है, वहाँ आत्मस्वरूप का प्रकाशक अध्यात्म नहीं है। यह अध्यात्म का सार समयसार रूप है। स्वसत्ता का आलम्बन लेने से वह प्रकट हो सकता है। रे मूढ़! जैसे रात-दिन परद्रव्यों का स्मरण करते-करते उन में विमोहित हो गया है, पर्याय बुद्धि से संयोग-अवस्था का अनुभव कर रहा है, वैसे ही रात-दिन "मैं शुद्धचिद्रूप हूँ" ऐसा स्मरण कर शुद्ध भाव को प्राप्त कर। शुद्ध भाव के अवलोकन मात्र से तू भावमुक्त हो जाएगा। शुद्ध अनुभव की दशा की यही महिमा है। फिर, भावमुक्ति होने पर द्रव्य-मुक्ति अवश्य होगी। अतः अपने शुद्धभाव की ओर एकला चल, अपने में बढ़ता चल, अपनी रटन लेकर एक रस हो गमन करता चल। ऐसी शुद्ध निर्विकल्प दशा अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती योगियों को उपलब्ध होती है[1]। पण्डितप्रवर दौलतरामजी के शब्दों में—

धनि मुनि जिन यह, भाव पिछाना।
तन व्यय वांछित प्रापति मानो, पुण्य उदय दुख जाना ।धनि०॥१॥

एक विहारी सकल ईश्वरता, त्याग महोत्सव माना।
सब सुख परिहार सार सुख, जानि रागरूप माना ॥ धनि०॥२॥

चित स्वभाव को चिन्त्य प्रान निज, विमल ज्ञानदृग साना।
"दौल" कौन सुख जान लह्यो तिन करो शान्ति रसपाना ॥धनि०॥३॥

अपने शुद्ध स्वभाव की उपलब्धि होने पर फिर किसी अन्य की प्राप्ति की कामना नहीं होती है।

---

१. समयसारकलश, १९०; तथा—नियमसारकलश, १९०।